श्री रत्नप्रभाकर ज्ञान-पुष्पमाला पुष्प नं० ११५ वाँ

श्री रत्नप्रभसूरीश्वर सद्गुरूभ्यो नम

श्री महावाचक उमास्वाति विरचित

तत्वार्थ सूत्र

हिन्दी सानुवाद

अनुवादक

लाधूरामजी तत् पुत्र मेघराज मुणोत

फलोधी (मारवाड़)

प्रकाशक

श्री रत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला

फलोधी

प्रथमावृत्ति १००० | वी० २४५९ | वि० १९८९

मूल्य ॥) आठ आना

[वी॰ पी॰ द्वारा मंगाने का पता जैन ज्ञान भंडार जोधपुर]

अनुवादक—
श्री मेघराजजी मुणोत
फलोधी

— पुस्तक मिलने के पते —

श्री रत्न प्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला
मु० फलोधी (मारवाड़)

जैन ज्ञान भंडार जोधपुर (मारवाड़)

जैन श्वेताम्बर सभा
मु० पीपाड़ सीटी

मुद्रक—
खत्री भीकमचन्द बुकसेलर
श्री भूतेश्वर प्रिंटिंग प्रेस
कटला बाजार जोधपुर.

वक्तव्य

इस तत्त्वार्थ सूत्र के मूल कर्त्ता परम योगीश्वर श्रीमद्वाचक उमास्वाती महाराज हैं जो जैन जगतमें एक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता और असाधारण विद्वान् माने जाते हैं। ग्रन्थ का विषय जितना गंभीर और गहन है उतना उपयोगी भी है। लेखन पद्धति इसकी इतनी अच्छी है कि जैन, जनेतर, साधारण और विद्वान् सभी लाभ उठा सकते हैं। जैन धर्म के सब सम्प्रदाय वालों को य ग्रन्थ माननीय है। इस पर अनेक विद्वानों ने टीका चूर्णी और भाष्यादि लिखे हैं। हाल ही में प० सुखलालजी ने गुजर भाषा में अनुवाद कर के मुद्रित करवाया है। उसे आपने बड़ी ही सुन्दर पद्धति से लिखा है तथापि हिन्दी जानने वाले उससे नित- चाहिये उतना लाभ नहीं उठा सकते।

यह ग्रन्थ कई दृष्टियों से विशेष उपयोगी जान कर मेरी उत्क इसे हिन्दी म अनुवादित करने की हुई। परन्तु यह काम मेरे लि अनधिकारित्वमा जान पड़ा तथापि "उद्योग पुरुष लक्षणम्" इस न्याय को लक्ष्य में रखके यह कार्य प्रारम्भ करने का निश्चय किया और उपरोक्त अभिप्राय मने पूज्य साहित्य प्रेमी मुनि ज्ञान सुन्दरजी महाराज सादर से निवेदन किया। आपने मेरे उत्साह को बढाते हुए प्रेम पूर्वक कहा कि तुमको इसमें बहुत लाभ है। जन तत्वों को समझने के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। और तुम्हारे इस कार्य से हिन्दी जानने वाले भी लाभ उठा सकेंगे।

अत आपकी इस अनुमति से यह अनुवाद मैंने अपनी ज्ञान वृद्धि के उद्देश से ही प्रारम्भ किया परन्तु "श्रेयांसि बहु विघ्नानि"

बीच में पूज्य मातेश्वरी का देहान्त और दुकान के कामों से कई बार बाधायें उपस्थित हुई परन्तु कार्य हमेशां लक्ष्य में रहता था अतएव आज यह अनुवाद आप श्रीमानों की सेवा में रखता हूं और आशा करता हूं कि पाठकों को भी अवश्य लाभदायक होगा।

राष्ट्र भाषा और ग्रन्थ विषयक पूर्ण अधिकार न होने से कहीं त्रुटियां रहगई हों उनके लिये क्षमा प्रार्थी हूं। इस कार्य में हमारे आत्म बन्धु रेखचन्द मुणोत ने यथा समय उत्साह और सहयोग दिया उसे मैं भूल नहीं सकता।

१-३-३३

भवदीय
मेघराज मुणोत
फलोधी

❀ मारवाड का प्राचीन जैन तीर्थ ❀
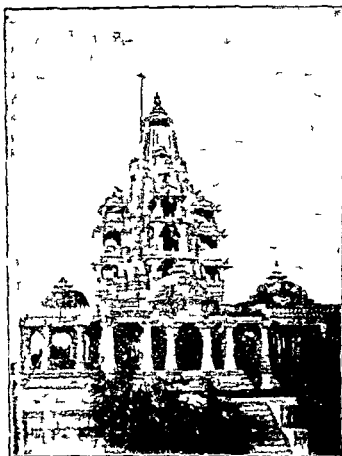
श्री स्वयंभू पार्श्वनाथ भगवान् का चारमंजिल और चौमुखजी का गगन चुम्बी भीमकाय विशाल एवम् चमत्कारी भारतीय शिल्पकला का अपूर्व नमूना, और जैनों की जाहुजलाली का अद्वितीय दृश्य भूमि से १५ फीट की उँचाई का

* मनोहर मन्दिर *

SUMER PRESS JJIH UR

श्री स्वयंभू पार्श्वनाथ जैन विद्यालय तीर्थ श्री कापरडाजी मारवाड

स्थापना वि० सं० १९८८ माघ शुक्ला ५

प्राचीन तीर्थ श्री कापरड़ाजी

भारतवर्ष के वक्षस्थल में आई हुई मारवाड़ स्टेट की राजधानी जोधपुर नगर से २८ मील की दूरी पर श्री कापरड़ाजी नामक प्राचीन एव चमत्कारिक तीर्थ अवश्य दर्शनीय है। यह रमणिक स्थान जोधपुर से बीलाड़े जानेवाली रेल पर आए हुए पीपाड़ सीटी स्टेशन से ८ मील तथा सेलारी स्टेशन से सिर्फ ४ मील की दूरी पर ही है। जहा पर स्वयभू पार्श्वनाथ भगवान् का गगनचुम्बी चौमुखा एव चौमजिला (राणकपुर ही की तरह का) सुन्दर और मनोहर मदिर है। इसकी कमनीय काति की कलित कथा इस प्रान्त में सर्वत्र प्रसिद्ध है।

विशेष लिखने का प्रयोजन यह है कि इस भीमकाय विशाल मदिर का यत्नमा काम अधूरा है जिसको पूरा कराने के लिये बीस से पचीस लाख रुपये व्यय करने की आवश्यक्ता है। परन्तु वर्त्तमान समय को देखकर मैं यह अपील करता हू कि धर्म प्रेमी पुरुषों को इस जीर्णोद्धार के जरूरी २ कार्य में यथाशक्ति सहायता देकर अवश्य लाभ लेना चाहिये। प्रतिवष माघ शुक्ला ५ का यहा मेला भी भरता है और स्वामीवात्सल्य भी हुआ करता है। आशा है कमसे कम यहाकी यात्रा का लाभतो एक वार आप अवश्य लेंगे

निवेदक—ज्ञान सुन्दर।

यहा पधारने पर आपको श्री स्वयभू पाश्वनाथ जैन विद्यालय के निरीक्षण का भी अवसर मिलेगा। इस सस्था में लगभग १५ विद्यार्थी अनुभवी कार्य कर्त्ताओं की सरक्षता में स्वतत्र ढग की धार्मिक व अंग्रेजी हिन्दी महाजनी की शिक्षा पाते हैं। अत अवश्य पधारिये। एक पथ दो काज।

नोट—जोधपुरसे हमेशा मोटर सीधी कापरड़ा दिनमें दोबार जाती है

पूज्यपाद श्री श्री १००८ श्री मुनि ज्ञान-सुन्दरजी महाराज साहब के कर कमलों में सादर

समर्पण

आप श्री के उपदेशामृत से सींचन हुई वोधलता रूप वेली से प्राप्त हुआ यह एक पुष्प आप श्री ही के कर कमलों में समर्पण करता हूं। सहर्ष स्वीकार करेंगे।

आपका चरण किङ्कर
मेघराज मुणोत
फलोधी

धन्यवाद के साथ स्वीकार ।

जिन महानुभावों ने इस पुनीत ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिये द्रव्य सहायता दे हमारे उत्साह को बढाते हुए तत्त्व ज्ञान-प्रचार करवाने में अपनी चल लक्ष्मी को अचल बनाकर लाभ उठाया है अतः उन्हें हार्दिक कोटिशः धन्यवाद है। आशा है इन साहबों की शुभ नामावली पढ कर अन्य सज्जन भी इनका अनुकरण अवश्य करेंगे।

२५) श्रीमान् मेघराजजी मुणोत फलोधी निवासी की तर्फ से अपनी स्वर्गीय मातेश्वरी की स्मृति में

७५) श्रीमान् जोंहारमलजी सपतलालजी कोचर फलोधी निवासी।

७५) श्रीमान धूडमलजी कुंदनमलजी पारख लोहावट निवासी।

१७५)

व्यवस्थापक

श्री रत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला

फलोधी

मूलस्य शुद्धि पत्रम

अशुद्ध	शुद्ध	अध्याय	सूत्र
तरम्	न्तरम	१	१३
श्रुत मति पूर्व	श्रुतं मति पूर्वं	१	२०
स्या	स्य	२	२२
वृद्धानि	वृद्धानि	२	२४
चा	वा	२	३१
दहे	देह	३	२
म्लिशश्च	म्लेच्छाश्च	३	१५
मुहूर्तं	मुहूर्त	३	१७
लश्या	लेश्या	४	२१
कभ्यः	केभ्यः	४	२५
र	रैं	४	२३
पी	पा	५	३
स्था	स्या	५	६
वतश्च	वन्तश्च	५	२४
घौव्य	ध्रौव्य	५	२६
स	सं	६	१४
कम	काम	६	२०

शुद्धि--पत्र

अशुद्ध		शुद्ध		पृष्ठ		पंक्ति
कराते	...	करते	...	११	.	१९
के	...	का	...	१२	...	१२
वलो	.	वालो	...	१३	...	२
क्षेत्रागाह	...	क्षेत्रावगाह	...	१३	...	१६
ही	...	नहीं	...	१७	...	८
कक्षा	..	कांक्षा	...	१७	...	१४
संज्ञा	...	संज्ञा	...	१६	...	१४
ध्रवाणां	...	ध्रुवाणां	...	२३	...	२१
वहग्राही	...	वहुग्राही	...	२५	...	३
कथं		अर्थं	..	२५		६
द्सका	...	इसका	...	३०	...	२४
गाह्य	...	ग्राह्य	.	३०	...	२५
अवप्त	..	अवाप्त	...	३४	...	२

पृष्ठ ५६ के प्रश्न का उत्तर पृष्ठ ५५ में है और पृष्ठ ५५ पंक्ति १४ के नीचे का विषय पृष्ठ ५६ के प्रश्न नीचे छपा है।

सामान्य	...	न सामान्य	...	६३	...	१५
न	...	०	...	६३	...	१६

स्मरणी	सरणी	६३	२१
समर्धा	समभी	६४	१२
से	है	६४	२३
	शब्दनय	६४	२५
औपशमिक	क्षयोपशमिक	६६	८
को	का	६६	२१
परिणामन	परिणमन	६८	२०
साद्धिविधो	सद्धिविधो	७४	२३
सकार	साकार	७५	१३
अध्याय	अध्याय १	७७	८
तजोवाय	तेजोवायू	७८	१४
वद	वह	७९	४
नियम	नियमा	९४	२५
गनि	गति	९६	१२
—	उपपातजन्म	९९	२४
साथ	०	१००	४
अत्यमि	अभ्यास	१००	८
माप	भाग	१००	८
माप	भाग	१००	६
प्रदेशने	प्रदेशाने	१०३	१
विनुहाम	विग्रहम	१०६	११
से	०	१०९	०

अभिप्राय ...	अभिप्राय यह है कि जब तक अन्य शरीर सहायक न हो तबतक कार्मण शरीर उपभोग को साध नहीं सकता अर्थात् विशेष	११२	८
फलाव ...	फलाभाव	१२० ...	२३
तेष्वो	तेष्वे	... १२१ ...	१४
पदाया ...	पदार्थो	... १२५ ...	१२
कुत्ता ..	कुर्तो	.. १२८ ...	२४
जना ...	०	... १३१ ...	२१
में ...	ने	... १३७	११
अयम ..	आयाम	... १४१ ...	७
अधिपति ...	अधिपति	... १४६	१
समान्य ...	मान्य	... १४६ ...	३
अन्तरोंदि ...	अन्तरादि	... १५२ ...	२२
है	के	... १५५ ...	१८
विचरणा ...	विचरण	... १५६ ...	२४
तीनसे अधिक सागरो	सातसे अधिक तीन सागरो	१६८	२
अवयय	अवयव	... १७० ...	२
दिक ...	देव	... १७१ ...	१७
व्यक्ति ...	स्कंध	... १७४ ...	१३
नियमिक ...	नियामिक	... १८५	१९
तप ..	तथा	... १८७ ...	८
स्वरुप ...	स्पर्श	... १८८ ...	६

लाथग	आनार्ग	२३३	२६
न	"	२३४	७
क्रियाओं	क्रियाओंका	२३४	१
अनु क्रांत	अनुक्रांत अर्थात हित करने अहित	२३५	१
तपश्चर्या	तपश्चर्या	२३५	१
निर्जना	निर्जरा	२३६	१८
द्रव	द्रव्य	२३६	२४
स्वपरनिन्दा	स्वनिन्दा	२४०	१६
और	और	२४१	१७
महणी	महनी	२४५	१२
तस्थै	तत्थं	२४६	४
प्रचणा	प्रपणा	२४७	१७
कीहुई वापस	वापस की हुई	२४८	१
मियुन	मैथून	२५०	१४
काय	कार्य	२५२	१०
समाज	समाजके	२५२	१७
होप	दोष	२५४	२१
ध्यानस्था	ध्यानस्थ	२५५	२१
वधता	बन्धता	२५५	१२
संत्रवित	संभवित	२५५	२४
करोर	कठोर	२५६	१४

से	हो	२६३	२
सगठन	सहनन	२६३	९
पहिला	पहिला मुख्य दान धर्म है	२७४	१
मे	से	२७४	२
घटाके	घटाने से	२७४	६
मिथ्या	मिथ्या	२७५	५
अकलोकत	अवलोकन	२७५	१८
जोग	जोगा	२७६	१२
पसस	पपस	२७६	१२
०	के	२८५	१२
•	इसे	२८६	२
तीन	हीन	२८८	२१
•	पचम	२९१	
बन्ध	बन्ध	२९४	१७
हि	हो	२९५	१९
कल्पनीय	अकल्पनीय	३०६	८
स्याना	स्यान	३३४	१२
अध्याय	अकषाय	३३४	१६
वा	०	३३८	८
स्वभाव	स्वभावता	३३६	२३

मल सूत्रों की अशुद्धिया रहगई हों उन्हें मूल १० अध्याय इसमें है उससे सुधार लेंगे।

सज्जनों !

इस भारत भूमि पर एक ऐसा संकीर्णता का समय था कि एक दूसरे के धर्म ग्रन्थ चाहे कितने हीं उच्च कोटि के और उपयोगी हो परन्तु उसे पढ़ना तो क्या हाथ से छूने में भी महापाप समझते थे जहां (हस्तीना ताड्य मानेऽपि न गच्छे जैन मन्दिरम्) ऐसे सूत्रों की सृष्टि रची जाती हो वहां सद्‌बुद्धि को स्थान कैसे मिल सकता है। दूसरी ओर धर्म के ठेकेदारों ने अपना इतना हक जमा लिया था कि दूसरों को धर्म ग्रन्थ हाथ में लेने का भी अधिकार नहीं। यह फरमान ईश्वर के नाम से प्रख्यात करते थे इसलिये उसे उलंघन करने का भी कोई साहस नहीं कर सकते थे। जैसे जैसे इस फरमान का प्रभाव जनता पर पड़ता गया वैसे वैसे अज्ञान की मात्रा बढ़ती गई और जो तत्वज्ञान भारत की विभूती थी वह प्रायः लुप्तसी होगई। ऐसी अवस्था में वाड़ावन्धी बांध लेना उनके लिये कोई मुशकिल बात नहीं थी। बड़े बड़े राजा महाराजा भी उनके हाथ की कठपुतलियां बन गये। कोई शिर ऊंचा नहीं कर सकता था जिसका फल यह हुआ कि जिस किसी की इच्छा हुई अपना मत निकाल कर भद्र जनता पर अपना हक जमालेते थे जिस भारत में दो तीन धर्म ही मुख्य समझते थे उसी की शाखा प्रशाखाये आज करीव ७०० सात सौ पाई जाती हैं। लिखते दुःख होता है- इस धर्म भेदों ने ही भारत की स्वतंत्रता और वीरता को

रसातल पहुचा के परतन्त्रता की बेडी से जकड़ा दिया।

यह भी कुदरत का अटल सिद्धान्त है कि वस्तु स्थिति हमेशा एकसी नहीं रहती। रहट घट की न्याय चक्र लगाया करती है इस नियमानुसार आज पूर्वीय और पाश्चात्य विद्या प्रेमियों ने परिश्रम करके जनता के हृदय में ज्ञान प्रकाश करवाया जिससे अज्ञानता हठाग्रह, और पक्षपात दूर होता गया। अतएव इस बीसवीं शताब्दी में हठग्राहियों की अपेक्षा सशोधक बुद्धि वाले की सख्या दिन प्रतिदिन बढती जारही है। और वे बिना भेद भाव के हरएक साहित्य को अवलोकन कर तत्व ग्रहण करते हैं। यह शुभ की निशानी है।

तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो जैन साहित्य सब से उच्च स्थान रखता है। पाश्चात्य विद्वान इसकी मुक्त कठ से प्रशसा करते हैं परन्तु खेद के साथ कहना पडता है कि जैन साहित्य का प्रचार अभी तक बहुत कम हुआ है और जो हुआ भी है वह प्राय सस्कृत और गुजर भाषा में। इस समय हिन्दी भाषा राष्ट्र भाषा मानी जाने लगी है इस लिये हिन्दी भाषा में जैन साहित्य का प्रचार होना नितान्त जरूरी है।

वर्तमान समय में जनता ऐसे ग्रन्थ विशेष चाहती है जो सरल सक्षिप्त और तात्विक ज्ञान विषयक हों। इस पूर्ती के लिये पूर्व महा ऋषियों ने अनेक ग्रन्थ बनाये हैं। उन सबों में यह (तत्वार्थ सूत्र) पहला ग्रन्थ है जो जैन साहित्य के सब विषयों से परिपूर्ण विज्ञान और साधारण सभी जन समुदाय को अतीव उपयोगी और नित्य मनन करने योग्य है।

इस ग्रन्थ "तत्वार्थ सूत्र" के लिये विशेष लिखने की आवश्य कता नहीं है। इसका महत्व इसके नाम से ही प्रसिद्ध है। इस

तत्त्वमय ग्रन्थ के प्रणेता श्रीमद्वाचकवर्य्य उमास्वाती महाराज हैं। पुरानी पट्टावलियों में इन्हें प्रज्ञापना सूत्र के कर्त्ता श्यामाचार्य के गुरू कहा है। उससे इनका समय विक्रम से एक शताब्दी पूर्व होता है परन्तु वर्त्तमान इतिहास के अनुसंधान से इनका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी के आस पास पाया जाता है। वाचकवर्य्य जैन सिद्धान्तों के प्रखर विद्वान और प्रकाण्ड ज्ञाता थे इन्होंने अनेक शास्त्रों को मथन करके जैन तत्वों को लोकप्रिय बनाने के लिये बड़ी ही गहन और गम्भीर दृष्टि से इसकी नवनीत रूप रचना की है। यह संस्कृत भाषा का सूत्र रूप रचनात्मक सबसे पहिला और प्राचीन ग्रन्थ है। विद्वान और मुमुक्षु जीवों को आत्म प्रकाश के लिये यह ग्रन्थ दर्पण के समान भास्वर और नित्य मनन करने योग्य है। इसके मूल सूत्र केवल २०५ श्लोक प्रमाण हैं। परन्तु इनमें सिद्धान्तों का रहस्य इतना भरा है कि अनेक विद्वान् आचार्यों ने अपनी विशद विशद शैली से इसे सर्वांग सुन्दर बनाने के लिये टीकायें, चूर्णी, भाष्यादि लिखे हैं इस पर सबसे बड़ा ग्रन्थ आचार्य गन्ध हस्ती महाराज का बनाया हुवा महा भाष्य है। जिसकी श्लोक संख्या ८४००० चौरासी हजार है।

इस ग्रन्थ के दस अध्यायों में नव तत्त्व गर्भित अनेक विषयों को बड़ी ही सुन्दर रीति से प्रतिपादित किया है।

प्रथम अध्याय के पहिले सूत्र में [सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः] मोक्षाभिलाषी जीवों के लिये परमोपयोगी समस्त सिद्धान्तों का सार, मोक्ष के कारण रूप साधनों का निर्देश है-शब्द नय ग्राही भाव धर्म को प्राप्त करता हुआ मोक्षार्थी जीव अनुक्रम से सर्व संवर रूप रत्नत्रय (सम्यग् दर्शन- ज्ञान-चारित्र) को पाकर पूर्ण मोक्ष का अधिकारी हो सकता है।

सम्यग् दर्शन यह अपूर्व चिन्तामणि रत्न है अभव्य जीवों के लिये यह असाध्य है और भव्य जीवों के लिये असाध्य तो नहीं किन्तु दुराराध्य जरूर है। इसकी प्राप्ति के लिये शास्त्रकार ने पहले इसके लक्षण, उत्पत्ती का निमित्त पश्चात् तत्व जानने के उपायों को कहते हुए "सम्यग् दर्शन' के भेदों का दिग्दर्शन कराया है। आध्यात्मिक दृष्टि के सन्मुख रहा जीव यदि सभ्रान्त और वस्तु के एक देशीय विषय को जाननेवाला है तथापि उसका ज्ञान ज्ञान रूप हो कहलायगा अन्यथा उसका विशिष्ट रूप अभ्रान्त ज्ञान अज्ञान रूप है। इसको विवेचन द्वारा बहुत स्पष्ट करके समझाया है।

पांच ज्ञानों में तीन प्रत्यक्ष और दो परोक्ष रूप प्रतिपादन करते हुए जैन तथा जैनेतर दर्शनकारों का समन्वय कराके दो प्रमाणों को न्याय पुरःसर ठहराया है। पश्चात् मतिश्रुत ज्ञान की सहयोगता और अवधि, मनःपर्याय ज्ञान का विस्तृत रूप से वर्णन करते हुए उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और अधिकारी अनाधिकारी आदि अनेक विषयात्मक व्याख्या की है।

नय यह प्रमाण का एक अंश होते हुए भी प्रमाण से इसकी पृथक् देशना देनेका कारण समझाते हुए इसके भेद प्रभेदादिका सविस्तार वर्णन और स्याद्वाद यह जैन सम्प्रदाय का एक विशेष अंग है जिसको जैनेतर दर्शन वाले भी किसी न किसी रूप से मान लेते ही हैं। जैसे-हेमचन्द्राचार्य कृत वीतराग स्तोत्र में।

विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम्।
इच्छं स्तथागतः प्राज्ञो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥

घट, पटादि जूदे जूदे आकारों से मिश्र एसे विज्ञान को एक रूप मानने वाला बौद्ध दर्शन स्याद्वाद को नहीं उत्थाप सकता।

चित्रमेकमनेकंच रूपं प्रमाणिकं वदन् ।
योगो वैशेषिकोवापि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥

अनेक आकारमय एक चित्र को प्रमाण सिद्ध प्ररूपित करता हुवा योग, वैशेषिक दर्शन भी अनेकान्त को नहीं उत्थाप सकता।

इच्छन्प्रधानं सत्वाद्यै विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः ।
सांख्य संख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥

सत्व, रज और तमादि परस्पर विरुद्ध गुणवाली प्रकृतियों को मानने वाला सांख्य दर्शन भी स्याद्वाद को उत्थापित नहीं करसकता

प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय [प्रमाणकर्त्ता-प्रमाण प्रमाण वस्तु] एकाकारवाले एक ज्ञान को जो उन तीन पदार्थों का प्रतिभाष रूप है उसको मंजूर करनेवाला मीमांसक दर्शन और अन्य प्रकार से दूसरे दर्शन भी स्याद्वाद को अर्थतः स्वीकार करते हैं।

स्याद्वादको पूर्णतया नहीं समझनेवाले और नहीं मानने वाले ही परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध पक्ष में उपस्थित होकर वाद विवाद करते हुए एक दूसरे की निन्दा अवहेलनादि करते हैं। इस विवाद को दूर करने के लिये ही नयवाद की देशना पृथक् रूपसे दी है। यदि प्रत्येक विचार सापेक्ष अर्थात् अपेक्षा सहित हो तो उस नय वाक्यको प्रमाण भूत कह सकते हैं अन्यथा एक देशीय विचार दुरनय होने से अप्रमाण भूत है।

नय का सामान्य लक्षण यह है कि किसी भी वस्तु के एक अंश या एक धर्मको प्रकाशित करना नय कहलाता है उस समय शेष धर्म गौणपने रहते है प्रत्येक दार्शनिकों के विचारों का नय दृष्टि से

मम नय कराना यह जैन दर्शन की ही विशेषता है। जैसे—वैदान्तिक और सांख्य दर्शन वाले एक आत्मा मानते हैं, यह वाक्य संग्रह नय ग्राही है। जिस वस्तु की सत्ता एक सदृश हो उसको एक रूप मानना ही संग्रह नय का विषय है। चेतना लक्षण सत्ता सब जीवों की एक समान है, तथापि एकांक्षि होने से यही वाक्य दुर्नय कह लाता है इसी तरह वैशेषिक दर्शन नेगम नय का, चार्वाक दर्शन व्यवहार नय का, बौद्ध दर्शन ऋजु सूत्र नय का नयाभास है।

(दूसरे अध्याय में) आत्मा के विषय जैन सिद्धान्तों और जैनेतर दर्शनों के मन्तव्य में कितना अन्तर है, वेदान्त, सांख्य, नैयायिक, बौद्धादि दर्शनवाले आत्मा को भिन्न प्रकार से एकान्त रूप किस तरह मानते हैं उसका दिग्दर्शन कराते हुए जैन सिद्धान्त कारों के मन्तव्य परिणामि नित्यत्व भाव को स्पष्ट रूप से समझाया है। पुन जीव के लक्षण और उपयोगों की विविधता को बताते हुवे जीव के भेद प्रभेदादि तथा उनके इन्द्रियों की संख्या, ज्ञेयविषय स्वामीत्व और गति क्रियाशील माना है। जो सर्व व्यापी आत्मा मानने वाले हैं। वे भी पूर्व जन्म की उत्पत्ती के लिये नितान्त सूक्ष्म शरीर और अन्तर गति को मान देते हैं। उनके लिये ये पांच प्रश्न अवश्य विचारणीय है।

(१) जन्मान्तर में जीव गति करता है उस समय स्थूल शरीर नहीं होने से प्रयत्न शील कैसे हो सकता है ?

(२) गति शील पदार्थ गति करते हैं वे किस नियम से ?

(३) गति के भेद और कौन २ जीव किस २ गति के अधिकारी हैं ?

पाप को पृथक् न कहकर आश्रव में ही उनका समावेश करदिया है इत्यादि आश्रव के ४२ भेदों को तथा कर्म बन्ध के कारणों की सामान्यता होते हुए भी किन कारणों से विशेषता होती है उसको समझाते हुए ज्ञानावर्ण्यादि आठ कर्म के बंध हेतु (आश्रव) को विस्तृत रूप से समझाया है और व्रत, अनुकम्पादि साता वेदनी के बंध हेतु बताये हैं। इसलिये सातवें अध्याय में व्रत और दान का निरूपण करते हुए जैन परम्परा में व्रतों की क्या महत्ता है और इनके अधिकारी कौन होतेहैं इसको बताकर दो अध्यायों में आश्रव तत्व को समाप्त किया है।

अष्टम अध्याय में बंध तत्व की व्याख्या है। बंध के कारणभूत मिथ्यात्वादि पांच हेतुवोंका तथा आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों का वर्णन तथा इनकी जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति और प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश बंध के वास्तविक स्वरूप को समझाया है और कैसी अवस्था में किस जगह रहे हुवे कर्म पुद्गलों को जीव कितने प्रदेशों से ग्रहण करता है इत्यादि विषयों को समझाया है।

नौवा अध्याय सम्वर और निर्जरा विषयी है। सम्वर का स्वरूप शास्त्रकार ने मुख्यतया (आश्रव का निरोध सम्वर) आश्रव का निरोध ही (सम्वर) कहा है तथापि विशेष स्वरूप जानने के लिये इसके मूल ६ और उत्तर ६६ भेद करके बताये हैं वे सब धार्मिक क्रिया और विधि विशेष हैं इनके प्रत्येक भेदों को पृथक् रूप से समझाया है ध्यान का स्वरूप और उसकी अवस्थादि का विवरण बहुतही महत्वपूर्ण तथा गुणश्रेण्यारोही जीवोंकी निर्जरा का कितना तारतम्य भाव है इत्यादि समझाया है।

दसवें अध्याय में मोक्ष तत्व का वर्णन है। कर्म क्षय के पश्चात् जीवका कार्य और गति हेतु आदि बताये हैं।

उपरोक्त विषय से पाठकों को यहां बोध होगया होगा कि इन

दश अध्यायों में कितना उपयोगी विषय भरा हुआ है जो जैन सिद्धान्तों का खास तात्विक विषय है। इनका स्पष्टीकरण करने के लिये अनुवादक महोदय ने अपनी ओर से अच्छा प्रयत्न किया है। अतएव सर्व साधारण के लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। जैन सिद्धान्तों में प्रवेश करने के लिये मानो यह ग्रन्थ एक पथदर्शक है। अब अनुवादक महाशय का किंचित परिचय कराके अपनी प्रस्तावना को समाप्त करूंगा-

इस तत्वार्थ के हिन्दी अनुवाद कर्त्ता श्रीमान् मेघराजजी मुणोत फलोधी निवासी हैं आपकी दूकान खैरागढ़ स्टेट (सी. पी) में भी है। आपको बचपन से ही विद्या की ओर अच्छी रुची है। संस्कृत मे सिद्धान्त चन्द्रिका की प्राथमिक परीक्षोतीर्ण हैं। धार्मिक तत्वों में द्रव्यानुयोग की तर्फ आपका विशेष लक्ष्य है। कई मुनिराजों की सेवा और विद्वानों के सत्संग तथा पुस्तकों के पठन पाठन से जिस बोध की प्राप्ति हुई उसके फल रूप आप पांच कर्मग्रन्थ और नयचक्रसार सरल हिन्दी अनुवाद करके पाठकों की सेवा मे पहले रख चुके हैं। इस समय सर्व साधारण के हितार्थ यह तत्त्वार्थ सूत्र का हिन्दी अनुवाद अति सरलबोध हिन्दीमें आपके कर कमलों में रखते हैं जैसे- कर्म ग्रन्थ और नयचक्रसार की पुस्तक को समाज ने अपनाया है वैसे ही इस महान् ग्रन्थ को अपना के योग्य लाभ उठाकर अनुवादक महोदय के उत्साह में अभिवृद्धि करेंगे।

अन्तमें यह लिखना भी ज़रूरी है कि इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधक या प्रेस कर्मचार्यो की असावधानी से अशुद्धियां बहुत पाई जाती हैं ऐसे तात्विक ग्रन्थों में इतनी अशुद्धियां न रहनी चाहिये अतएव द्वितीयावृत्ति में अवश्य ध्यान रखे शुद्धि पत्र इसके साथ है पाठकों को चाहिये वे पहले सुधारलें किंबहुना।

मुनि ज्ञानसुन्दर

मेघराजजी मुणोत। (फलोधी)

विषयानुक्रमणिका ।

पुस्तक महात्म्य ।

ज्ञान प्राप्ति का खास साधन पुस्तक है । स्कूलों में तो विद्यार्थी सिर्फ टाइम भर ही लाभ उठा सकते हैं परन्तु पुस्तकों द्वारा आप हमेशा ज्ञान सीख सकते हैं चाहे आप व्यापारी, अहलकार या कारीगर हों, चाहे आप जवान या वृद्ध हों। पुस्तकें हमारी गुरु हैं जो हमें बिना मार पीटे ज्ञान देती हैं । पुस्तकें कटु वाक्य नहीं कहतीं और न क्रोध करती हैं । ये माहवारी तनख्वाह भी नहीं मांगतीं । आप इनसे रात दिन घर बाहर जहाँ और जब इच्छा हो काम लो । ये कभी नहीं सोती हैं । ज्ञान देने से इन्कार करना तो ये जानती ही नहीं । इनसे कुछ पूछो तो ये कुछ भी छिपाती नहीं । बार बार पूछो तो ये उक-ताती या झुंझलाती नहीं । अगर आप इनकी बात एक बार ही में नहीं समझ सकते तो ये हँसती नहीं । ज्ञान की भण्डार पुस्तकें सब धनों में बहुमूल्य हैं। अगर आप सत्य, ज्ञान, विज्ञान, धर्म, इतिहास और आनन्द के सच्चे जिज्ञासु होना चाहते हैं तो पुस्तकों के प्रेमी बन प्रत्येक महीने में कुछ बचा कर पुस्तकें मंगाकर संग्रह करें ।

उत्तम पुस्तकें मंगाने के पतेः-

१ जैन ज्ञान भंडार जोधपुर ।

२ श्रीरत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला, फलोदी (मारवाड़)

॥ श्रीतत्त्वार्थसूत्रम् ॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥ तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥ जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥ नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥ प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥ निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥ मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ॥ ८ ॥ सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ९ ॥ तत्प्रमाणे ॥ १० ॥ आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥ प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥ मतिः स्मृतिः संज्ञा चिंताऽभिनिबोध इत्यनर्थांतरम् ॥ १३ ॥ तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥ अवग्रहेहापायधारणाः ॥ १५ ॥ बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासंदिग्धध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥ अर्थस्य ॥ १७ ॥ व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥ न चक्षुरनिंद्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥ श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥ द्विविधोऽवधिः ॥ २१ ॥ भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥ २२ ॥ यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २३ ॥ ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः ॥ २४ ॥

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २५ ॥ विशुद्धिक्षेत्रस्वामि-
विषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥ २६ ॥ मतिश्रुतयोर्निबंधः स-
र्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २७ ॥ रूपिष्ववधेः ॥ २८ ॥ तदनंत-
भागे मनःपर्यायस्य ॥२९॥ सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ ३० ॥
एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३१ ॥ मतिश्रु-
तावधयो (मतिश्रुतविभंगा) विपर्ययश्च ॥ ३२ ॥ सदसतोरवि-
शेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३३ ॥ नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्र-
शब्दा नयाः ॥ ३४ ॥ आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥ ३५ ॥

—

—ः इति प्रथमोऽध्यायः ः—

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-
पारिणामिकौ च ॥ १ ॥ द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्र-
मम् ॥ २ ॥ सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥ ज्ञानदर्शनदानलाभभोगो-
पभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥ ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रि-
त्रिपंचभेदाः यथाक्रमं सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥ ग-
तिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्ये-

कैकैकैऊपड्भेदाः ॥ ६ ॥ जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ॥ ७ ॥ उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥ सद्विविधोऽष्टचतुर्भेद ॥ ९ ॥ ससारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥ समनस्का अमनस्का ॥ ११ ॥ समारिणस्त्रसस्थावरा. ॥ १२ ॥ पृथिव्यंवुवनस्पतय स्थावरा ॥१३॥ तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्चत्रसा ॥ १४ ॥ पचेंद्रियाणि ॥ १५ ॥ द्विविधानि ॥ १६ ॥ निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येंद्रियम् ॥ १७ ॥ लब्ध्युपयोगौ भावेंद्रियम् ॥ १८ ॥ उपयोगः स्पर्शादिषु ॥ १९ ॥ स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुश्रोत्राणि ॥ २० ॥ स्पर्शरसगधरूपशब्दा स्तेषामर्थ ॥ २१ ॥ श्रुतमनिंद्रियस्य ॥ २२ ॥ वाय्वतानामेकम् ॥ २३ ॥ कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादी नामेकैकवृद्धानि ॥ २४॥ सज्ञिन समनस्का ॥२५॥ विग्रहगतौ कर्मयोग ॥ २६ ॥ अनुश्रेणि गति ॥ २७ ॥ अविग्रहाजीवस्य ॥ २८ ॥ विग्रहवती च ससारिण प्राक् चतुर्भ्य ॥ २९ ॥ एकसमयोऽविग्रह ॥ ३० ॥ एक द्वौ चानाहारक ॥ ३१ ॥ समूर्छनगर्भोपपाता जन्म ॥ ३२ ॥ सचित्तशीतसवृता सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनय. ॥ ३३ ॥ जराय्वंडपोतजाना गर्भ ॥ ३४ ॥ नारकदेवानामुपपात ॥ ३५ ॥ शेषाणा समूर्छनम ॥ ३६ ॥ औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणानिशरीराणि ॥ ३७ ॥ पर पर सूक्ष्मम् ॥ ३८ ॥ प्रदेशतोऽसख्येयगुण प्राक् तैजसात् ॥ ३९ ॥ अनतगुणे परे ॥४०॥ अप्रतिघाते ॥ ४१ ॥ अनादिसवन्धे च ॥ ४२ ॥ सर्वस्य ॥४३॥

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः ॥ ४४ ॥ निरुपभोगमंत्यम् ॥ ४५ ॥ गर्भसंमूर्छनजमाद्यम् ॥ ४६ ॥ वैक्रियमौपपातिकम् ॥ ४७ ॥ लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४८ ॥ शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ॥ ४९ ॥ तैजसमपि ॥ ५० ॥ नारकसंमूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५१ ॥ न देवाः ॥ ५२ ॥ औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥

-: इति द्वितीयोऽध्यायः :-

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमः प्रभाभूमयो घनांबुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतरा ॥ १ ॥ तासु नारका ॥२॥ नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥ परस्परोदीरित दुःखा ॥४॥ संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥ तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥ जंबूद्वीप लवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥ द्विर्द्विर्विष्कंभाः पूर्व पूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥ तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तोयोजनशतसहस्र विष्कंभो

जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥ तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतै-रावतवर्षा क्षेत्राणि ॥ १० ॥ तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरीणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥ द्विर्धातकीखण्डे ॥ १२ ॥ पुष्करार्धे च ॥ १३ ॥ प्राक् मानुषोत्तरान्मनुष्या ॥ १४ ॥ आर्या म्लिशश्च ॥ १५ ॥ भरतैरावतविदेहा कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ १६ ॥ नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ १७ ॥ तिर्यग्योनीनां च ॥ १८ ॥

— इति तृतीयोऽध्यायः —

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

देवाश्चतुर्निकाया ॥ १ ॥ तृतीयः पीतलेश्य ॥ २ ॥ दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पा कल्पोपपन्नपर्यन्ता ॥ ३ ॥ इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्य किल्बिषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥ त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्जा व्यन्तरज्योतिष्का ॥ ५ । पूर्वयोर्द्वीन्द्रा ॥ ६ ॥ पीतान्तलेश्या ॥ ७ ॥ कायप्रवीचारा आऐशानात् ॥ ८ ॥ शेषा स्पर्शरूपशब्दमन

प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥ ९ ॥ परेऽप्रवीचाराः ॥ १० ॥ भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः । ॥ ११ ॥ व्यंतराः किंनरकिंपुरुषमहोरगगांधर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ १२ ॥ ज्योतिष्काः सूर्याचंद्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णताराश्च ॥ १३ ॥ मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १४ ॥ तत्कृतः कालविभागः ॥ १५ ॥ बहिरवस्थिताः ॥ १६ ॥ वैमानिकाः ॥ १७ ॥ कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १८ ॥ उपर्युपरि ॥ १९ ॥ सौधर्मैशानसनत्कुमारमाहेंद्रब्रह्मलोकलांतकमहाशुक्रसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसुग्रैवेयकेषु विजयवैजयंतजयंतापराजितेषुसर्वार्थसिद्धे च ॥ २० ॥ स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धींद्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥ २१ ॥ गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २२ ॥ उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्याः ॥ २३ ॥ पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २४ ॥ प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २५ ॥ ब्रह्मलोकालया लोकांतिका ॥ २६ ॥ सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधामरुतोऽरिष्टाश्च ॥ २७ ॥ विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २८ ॥ औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २९ ॥ स्थितिः । ॥ ३० ॥ भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ॥३१॥ शेषाणां पादोने ॥ ३२ ॥ असुरद्रयोः सागरोपममधिकं च । ॥ ३३ ॥ सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥ ३४ ॥ सागरोपमे ॥ ३५ ॥

अधिके च ॥ ३६ ॥ सप्त सनत्कुमारे ॥ ३७ ॥ विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च ॥ ३८ ॥ आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ॥३९॥ अपरा पल्योपममधिकं च ॥ ४० ॥ सागरोपमे ॥ ४१ ॥ अधिके च ॥ ४२ ॥ परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा ॥ ४३ ॥ नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ४४ ॥ दश वर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ४५ ॥ भवनेषु च ॥ ४६ ॥ व्यन्तराणां च ॥ ४७ ॥ परा पल्योपमम् ॥ ४८ ॥ ज्योतिष्काणामधिकम् ॥ ४९ ॥ ग्रहाणामेकम् ॥ ५० ॥ नक्षत्राणामर्द्धम् ॥ ५१ ॥ तारकाणां चतुर्भागः ॥ ५२ ॥ जघन्या त्वष्टभागः ॥ ५३ ॥ चतुर्भागः शेषाणाम् ॥५४॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥ द्रव्याणि जीवाश्च ॥ २ ॥ नित्यावस्थितान्यरूपीणि ॥ ३ ॥ रूपिणः पुद्गलाः ॥ ४ ॥ आऽऽकाशादेकद्रव्याणि ॥ ५ ॥ निष्क्रियाणि च ॥ ६ ॥ असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः ॥ ७ ॥ जीवस्य च ॥ ८ ॥

आकाशस्यानंताः ॥ ९ ॥ संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥ नाणोः ॥ ११ ॥ लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥ धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥ एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥ असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥ प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥ गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकार ॥१७॥ आकाशस्यावगाहः ॥१८॥ शरीरवाङ्मनः प्राणापाना पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥ सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥ परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥ वर्त्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥ स्पर्शरसगंधवर्णवंतः पुद्गला ॥ २३ ॥ शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवतश्च ।२४। अणवः स्कंधाश्च ॥ २५ ॥ संघातभेदेभ्य उत्पद्यंते ॥ २६ ॥ भेदादणुः ॥ २७ ॥ भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः ॥ २८ ॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ २९ ॥ तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३० ॥ अर्पितानार्पितसिद्धेः ॥ ३१ ॥ स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः ॥ ३२ ॥ न जघन्यगुणानाम् ॥ ३३ ॥ गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३४ ॥ द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३५ ॥ बंधे समाधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३६ ॥ गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ॥ ३७ ॥ कालश्चेत्येके ॥ ३८ ॥ सोऽनंतसमयः ॥ ३९ ॥ द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४० ॥ तद्भावः परिणामः ॥ ४१ ॥ अनादिरादिमाँश्च ॥ ४२ ॥ रूपिष्वादिमान् ॥ ४३ ॥ योगोपयोगौ जीवेषु ॥ ४४ ॥

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

कायवाङ्मन कर्म योग ॥ १ ॥ स आश्रव ॥ २ ॥ शुभ' पुण्यस्य ॥ ३ ॥ अशुभ पापस्य ॥ (शेष पापम्) ॥ ४ ॥ स कपायाकपाययो सांपरायिकेर्यापथयो ॥ ५ ॥ इंद्रियकपायाव्रत क्रियाः पंचचतु' पचपचविंशतिसख्या पूर्वस्य भेदा ॥ ६ ॥ तीव्रमदज्ञाताज्ञातभाववीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेष' (विशेपात्तद्विशेप) ॥ ७ ॥ अधिकरण जीवाजीवा' ॥ ८ ॥ आद्य सरंभसमारंभारंभयोगकृतकारितानुमतिकपाय विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकश' ॥ ९ ॥ निर्वर्त्तनानिक्षेपसयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदा पर ॥ १० ॥ तत्प्रदोपनिन्हवमात्सर्यांतरायामादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो ॥ ११ ॥ दु खशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥ भूतव्रत्यनुकपादानसरागसयमादियोगक्षातिशौचमितिसद्वेद्यस्य ॥ १३ ॥ केवलिश्रुतसघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १४ ॥ कपायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १५ ॥ बह्वारंभपरिग्रहत्व च नारकस्यायुष ॥ १६ ॥ माया तैर्यग्योनस्य ॥ १७ ॥ अल्पारंभपरिग्रहत्व स्वभावमार्दवार्जवत्व च मानुषस्य ॥ १८ ॥ नि शीलव्रतत्व च सर्वेषां ॥ १९ ॥ सरागसयमसयमासयमाक मनिर्जरावालतपांसि देवस्य ॥२०॥ योगवक्रताविसवादन चाशुभस्य नाम्न ॥२१॥

विपरीतं शुभस्य ॥ २२ ॥ दर्शन विशुद्धिर्विनयसंपन्नता शील-व्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी संघसाधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिराव-श्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य ॥ २३ ॥ परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचै-र्गोत्रस्य ॥ २४ ॥ तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २५ ॥ विघ्नकरणमंतरायस्य ॥ २६ ॥

—

—ः इति षष्ठोऽध्यायः ः—

॥ अथ सप्तमोऽध्याय ॥

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥ देशसर्व-तोऽणुमहती ॥ २ ॥ तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥ ३ ॥ हिं-सादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् ॥ ४ ॥ दुःखमेव वा ॥ ५ ॥ मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविने-येषु ॥ ६ ॥ जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम् ॥ ७ ॥ प्रम-

त्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ ८ ॥ असदभिधानमनृतम ॥ ९ ॥ अदत्तादान स्तेयम् ॥ १० ॥ मैथुनमब्रह्म ॥ ११ ॥ मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १२ ॥ निःशल्यो व्रती ॥ १३ ॥ अगार्यनगारश्च ॥ १४ ॥ अणुव्रतोऽगारी ॥ १५ ॥ दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥ १६ ॥ मारणान्तिकीं सल्लेखना जोषिता ॥ १७ ॥ शङ्काकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥ १८ ॥ व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ १९ ॥ बंधवधच्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २० ॥ मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥ २१ ॥ स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २२ ॥ परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशाः ॥ २३ ॥ क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २४ ॥ ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम क्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ २५ ॥ आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ २६ ॥ कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि ॥ २७ ॥ योग दुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २८ ॥ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ २९ ॥ सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ३० ॥ स

च्चितनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३१ ॥ जी-वितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानकरणानि ॥ ३२ ॥ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३३ ॥ विधिद्रव्यदातृपात्र-विशेषात्तद्विशेषः ॥ ३४ ॥

(- इति सप्तमोऽध्यायः -)

॥ अथ अष्टमोऽध्यायः ॥

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥ १ ॥ स-कषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते ॥ २ ॥ सबंध ॥ ३ ॥ प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ४ ॥ आद्यो ज्ञान-दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रांतरायाः ॥ ५ ॥ पंच-न वद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपंचभेदा यथाक्रमम् ॥ ६ ॥ मत्यादीनां ॥ ७ ॥ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धिवेदनी यानि च॥८॥सदसद्वेद्ये॥९॥ दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभे-दाः सम्यकत्वमिथ्यात्वतदु यानिकषायनोकषायावनंता नुबंध्य-प्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमान-

मायालोभा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुनपुंसकवेदा ॥ १० ॥ नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ ११ ॥ गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च ॥ १२ ॥ उच्चैर्नीचैश्च ॥ १३ ॥ दानादीनामंतरायः ॥ १४ ॥ आदितस्तिसृणामंतरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः ॥ १५ ॥ सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १६ ॥ नामगोत्रयोर्विंशतिः ॥ १७ ॥ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य (त्रयस्त्रिंशत्सागराण्यधिकान्यायुष्कस्य) ॥ १८ ॥ अपरा द्वादश मुहूर्त्ता वेदनीयस्य ॥ १९ ॥ नामगोत्रयोरष्टौ ॥ २० ॥ शेषाणामंतर्मुहूर्त्तम् ॥ २१ ॥ विपाकोऽनुभावः ॥ २२ ॥ स यथानाम ॥ २३ ॥ ततश्च निर्जरा ॥ २४ ॥ नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनंतानंतप्रदेशाः ॥ २५ ॥ सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २६॥

(– इति अष्टमोऽध्यायः –)

॥ अथ नवमोऽध्याय ॥

आश्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥ स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥ तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥ ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥ उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥ अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशूचित्वाश्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदूर्लभधर्मस्वाख्यातस्वतत्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः ॥ ८ ॥ क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानदर्शनानि ॥ ९ ॥ सूक्ष्मसंपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥ एकादश जिने ॥ ११ ॥ बादरसंपराये सर्वे ॥ १२ ॥ ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥ दर्शनमोहांतराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥ चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्री निषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥ वेदनीये शेषाः । १६ ॥ एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतिः ॥ १७ ॥ सामायिकछेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातानि चारित्रम् ॥ १८ ॥ अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥ प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वा-

ध्याय्न्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥ नव चतुर्दश पच द्विभेद यथाक्रम प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥ आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि ॥ २२ ॥ ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारा ॥ २३ ॥ आचार्योपाध्यायतपस्विशिक्षग्लानगणकुलसघसाधुममनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥ वाचनापृच्छनाऽनुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशा ॥ २५ ॥ वाह्याभ्यतरोपध्यो ॥ २६ ॥ उत्तमसहननस्यैकाग्रचितानिरोधश्च ध्यानम् ॥ २७ ॥ आमुहूर्त्तात् ॥ २८ ॥ आर्त्तरौद्रधर्म्मशुक्लानि ॥ २९ ॥ परे मोक्षहेतू ॥ ३० ॥ आर्त्तममनोज्ञानां सप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार ॥ ३१ ॥ वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥ विपरीत मनोज्ञानाम् ॥ ३३ ॥ निदान च कामोपहतचित्ताना पुन ॥ ३४ ॥ तदविरतदेशविरतप्रमत्तसयतानाम् ॥ ३५ ॥ हिंसाऽनृतस्तेयविषयसरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयो ॥ ३६ ॥ आज्ञाऽपायविपाकसस्थान विचयाय धर्म्ममप्रमत्त सयतस्य ॥ ३७ ॥ उपशातक्षीणकषाययोश्च ॥ ३८ ॥ शुक्लेचाद्ये ॥ ३९ ॥ वलचाध्ये पूर्वविद पूर्वविद ॥ ४० ॥ परे केवलिन ॥ ४१ ॥ पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि ॥ ४२ ॥ तत् त्र्येककाययोगायोगानाम् ॥ ४३ ॥ एकाश्रये सवितर्के पूर्वे ॥ ४४ ॥ अविचार द्वितीयम् ॥ ४५ ॥ वितर्क' श्रुतम ॥ ४६ ॥ विचारोऽर्थव्यजनयोगसक्रांति ॥ ४७ ॥ सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानतवियोजक-

दर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशो-ऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४८ ॥ पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातका निर्ग्रंथाः ॥ ४९ ॥ संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपातस्थान-विकल्पतः साध्याः ॥ ५० ॥

– इति नवमोऽध्याय –

——

॥ अथ दशमोऽध्यायः ॥

मोहक्षयाज् ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥ बंधहेत्वभावनिर्जराभ्याम् ॥ २ ॥ कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥ ३ ॥ औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्रकेवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥ तदनंतरमुर्ध्वं गच्छत्यालोकांतात् ॥ ५ ॥ पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बंधच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः ॥ ६ ॥ क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनांतरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ७ ॥

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

❁ इति तत्वार्थसूत्र संपूर्णम् ❁

॥ ॐ ॥

श्री मज्जैनाचार्य उमास्वाति विरचित

तत्त्वार्थ सूत्र।

हिन्दी सानुवाद।

ॐकार बिन्दु सयुक्त, नित्य ध्यायन्ति योगिन'।
कामद मोक्षद चेव, ॐकाराय नमो नम ॥ १ ॥

शास्त्र की प्रधानता।

जीव अनन्त हैं और वे सब सुख चाहते हैं परन्तु उस की कल्पना सब की एक सदृश नहीं है। विकास की तारतम्यता के अनुसार उन सुखों के संक्षेप से दो विभाग हो सकते हैं। पहिले विभाग में अल्प विकास वाले जीवों का समावेस होता है और उनके सुख की कल्पना बाह्य साधनों तक पहुंचती है। दूसरे विभाग वाले जीव इनसे अधिक विकास वाले हैं और वे बाह्य अर्थात् भौतिक साधनों की सम्पत्ति में ही सुख न मानकर केवल अध्यात्मिक गुणों की सम्पत्ति में ही सुख मानते हैं। दोनों वर्गवालों के माने हुवे सुख में यही तारतम्यता है कि एक का सुख पराधीन है और दूसरे का स्वाधीन है। पराधीन सुख को काम और स्वाधीन सुख को मोक्ष कहते हैं। काम और मोक्ष ये दो पुरुषार्थ

हैं। इनके सिवाय मुख्यत साध्यरूप कोई वस्तु नहीं है धर्म अर्थ को भी पुरुषार्थ माना है तथापि मुख्यतया साध्यरूप नहीं है किन्तु वे अनुक्रम से काम और मोक्ष के प्रधान साधन है। प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मोक्ष है इस लिये मोक्ष साधनभूत धर्म के तीन विभाग किये हैं जिसका निर्देश (कथन) प्रथम सूत्र से करते हैं।

॥ अध्याय पहिला ॥

सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः॥१॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यगचारित्र मोक्ष मार्ग है ॥ १ ॥

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में मोक्ष के साधनों का नाम मात्र निर्देश है विस्तार पूर्वक यथार्थ स्वरूप आगे कहेंगे यहां मात्र संक्षेप स्वरूप है।

मोक्ष का स्वरूप—बन्ध कारणों के अभाव से आत्म विकास की पूर्णता होती है वही मोक्ष है अर्थात् ज्ञान और वीतराग भाव की पराकाष्टा ही मोक्ष है।

साधनों का स्वरूप—जिस गुण अर्थात् शक्ति के विकास से तत्व (वस्तुधर्म) की प्राप्ति हो और जिससे हेय-छोडने योग्य, उपादेय-स्वीकार करने योग्य तत्व की यथार्थ अभिरूची हो उसे सम्यग् दर्शन कहते हैं।

नय और प्रमाण से होने वाले जीवादि तत्वों का यथार्थ ज्ञान वही सम्यग् ज्ञान है। वस्तु के ज्ञानान्श को नय कहते हैं और

वस्तु के सपूर्ण ज्ञान को प्रमाण कहते हैं इसका सविस्तार वर्णन आगे सूत्र ६ में किया जायगा।

सम्यगज्ञान पूर्वक कषायिक भावों की अर्थात् रागद्वेष की निवृत्ति से स्वरूप रमणता होती है वही सम्यगचारित्र है।

साधनोंकी सहचारिता—पूर्वोक्त तीनों साधन पूर्णतया प्राप्त होने से सम्पूर्ण मोक्ष होती है अन्यथा एक भी साधन अपूर्णरूप होने से परिपूर्ण मोक्ष नहीं होती जैसे—सम्यग्दर्शन और सम्यगज्ञान परिपूर्णरूप में प्राप्त होते हुवे भी सम्यग्चारित्र की अपूर्णता के कारण तेरहवें गुणस्थानक में पूर्णमोक्ष अर्थात अशरीरसिद्धि (विदेह मोक्ष) नहीं हो सकती और चौदवें गुण स्थानक में शैलेसी अवस्था रूप परिपूर्ण चारित्र प्राप्त होते ही तीनों साधनों की पूर्ण प्रबलता होने से पूर्ण मोक्ष का सामर्थ प्राप्त होताहै।

सहचारिता—पूर्वोक्त तीनो साधनों में से सम्यगदर्शन और सम्यग्ज्ञान अवश्य सहचारी होते हैं जैसे—सूर्य का ताप और प्रकाश एक दूसरे को छोडकर नहीं रहता वैसे ही सम्यग् दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक दूसरे के बिना नहीं रहते परन्तु सम्यग्चारित्र के साथ इनकी सहचारिता का नियम नहीं है कारण बिना सम्यग्चारित्र के भी किसी समय सम्यग्दर्शन और सम्यगज्ञान देखने में आता है परन्तु सम्यग्चारित्र की अवस्था में सम्यग दर्शन और सम्यग ज्ञान अवश्य (नियम) होते हैं।

प्रश्न—यदि आत्मा के गुणों का विकास ही मोक्ष है और सम्यग् दर्शनादि साधन भी आत्मा के खास खास गुणों का विकास है तो मोक्ष और इनक साधनों में क्या विशेषता ?

उत्तर—कुछभी नही ।

प्रश्न—यदि विशेषता नहीं है तो मोक्ष साध्य और सम्यक्त्व दर्शनादि रत्नत्रय इस के साधन यह साध्य, साधन भाव कैसे समझना चाहिये ? कारण साध्य, साधन संबन्ध भिन्न स्वभावी है ।

उत्तर—मोक्ष और रत्नत्रय का साध्य, साधन भाव साधक अवस्था की अपेक्षा कहा गया है, किन्तु सिद्धावस्थ की अपेक्षा से नहीं कहा । क्यों कि साधक का साध्य जो मोक्ष है वह परिपूर्ण रत्नत्रय रूप होते हुये भी रत्नत्रय की अनुक्रमिक विकास से ही इस की प्राप्ति होती है । यह शास्त्र साधक के लिये है, परन्तु सिद्ध के लिये नहीं इसी कारण यहां साधक के लिये ही उस के उपयोगी साध्य, साधन भेद बताये गये है ।

प्रश्न–संसार में धन, स्त्री आदि के साधनों से सुख की प्राप्ति प्रत्यक्ष दिखती है । उसे छोड परोक्ष मोक्ष सुख का उपदेश किस लिये करते हो ?

उत्तर–मोक्ष का उपदेश इस लिये दिया जाता है कि वह सच्चा सुख है । संसारिक सुख है वह सच्चा सुख नहीं किन्तु सुखाभास हैं ।

प्रश्न–मोक्ष में सच्चा सुख और संसार में सुखाभास कैसे है ।

उत्तर–संसारिक सुख इच्छाओं कि तृप्ति से होता है और इच्छाओं का स्वभाव ही ऐसा है कि एक पूरी हुई वा न हुई इतने में अनेक इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती है । उन सब का परिपूर्ण होना

(२) अध्यात्मिक । जो धन, धान्य, प्रतिष्ठादि संसारिक वासनाओं के लिये पदार्थ ज्ञान होता है वह सम्यगदर्शन नहीं है उसका परिणाम संसार वृद्धि है । किन्तु मोक्ष प्राप्ति नहीं होती और अध्यात्म विकास के लिये जो तत्व रुचि है वह केवल आत्म तृप्ति के लिये होती है वही सम्यग दर्शन है।

निश्चय और व्यवहार दृष्टी से पृथकता—अध्यात्म विकास से उत्पन्न हुवा आत्म परिमाण हीं निश्चय सम्यक्त्व है. वह ज्ञेय मात्र को तात्विक रुप से जानने की तथा हेय को छोड़ने की और उपादेय को ग्रहण करने की रुचि रुप है जिस रुचि के बलसे उत्पन्न होती हुई धर्मतत्व निष्ठा (जागृति) वह व्यवहार सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के पांच लक्षण है। (१) प्रशम-तत्व विषय मिथ्या पक्षपात से उत्पन्न हुवे कदग्रह आदि दोषों का उपशम, (२) संवेग-देह भोगादि से संसार बन्धन का भय, (३) निर्वेद-संसारिक विषयों में अनाशक्त होना, (४) अनुकम्पा-दु:खी जनों के दु:ख को दूर करने की इच्छा, (५) आस्तिक्य-युक्ति प्रमाण से सिद्ध शास्त्रोक्त आत्मादि परोक्ष पदार्थों को स्वीकार करना। यही सम्यक्त्व दर्शन है।

हेतु भेद—सम्यक दर्शन के योग्य आध्यात्मिक उन्नति होते ही सम्यग दर्शन प्रगट होता है. इस आविर्भाव के लिये किसी को वाह्य निमित की अपेक्षा रहती है और किसी को नहीं भी रहती। जैसे-कोई विद्यार्थी शिल्पादि कलाओं को अध्यापक की मदद से सीखता है और कोई स्वयम् प्राप्त कर लेता है। आन्तरिक कारणों की सामान्यता होते हुवे भी वाह्य कारणों की अपेक्षा अनापेक्षा लेकर प्रस्तुत शास्त्र में सम्यग्दर्शन को निसर्ग और अधिगम रूप दो प्रकार से प्रतिपादन किया है। (निसर्ग)

निसर्ग, परिणाम, स्वभाव और अपरोपदेश ये एकार्थ वाची शब्द और (अधिगम, आगम, निमित्त श्रवण, शिक्षा ये एकार्थ वाची शब्द हैं।

सम्यगदर्शन की प्राप्ति के लिये सत्सग या शास्त्र पठन पाठन, गुरु उपदेश, धार्मिक वस्तुओं का अवलोकन आदि अनेक वाह्य निमित्त हे।

अनादि कालिक ससार प्रवाह में नानाप्रकार के दुःखों का अनुभव करता हुआ भव्यात्मा किसी समय विशुद्ध परिणामी होजाता है वह विशुद्धता आत्मा को अपूर्व हे जिसे पहिले कभी प्राप्त नहीं की थी इस शुद्ध परिणाम धारा को अपूर्व कारण कहते है इस से तत्व अनुरावक राग द्वेष की तिव्रता मिट जाती है और सत्यता के लिये जागृत होता है इसी अध्यात्मिक जागृति को सम्यक्त्व कहते है ॥ ३ ॥

तत्वों के नाम।

जीवाजीवास्रवबन्ध सवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ–जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्व है ॥ ४ ॥

विवेचन–कई ग्रन्थों में पुण्य, पाप को पृथक मानकर नौ तत्व कहे हैं परन्तु यहा इनको आश्रव, बन्ध के अन्तरभूत मानकर सात ही भेद किये हैं। पुन्य, पाप द्रव्य भाव रूप से दो प्रकार के हैं। शुभ कर्म पुद्गल द्रव्य पुन्य है और अशुभ कर्म पुद्गल द्रव्य पाप है वे बन्ध तत्व के अन्तर्भूत है क्योंकि आत्म सम्बन्धी कर्म पुद्गल या आत्मा और कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध विशेष ही द्रव्य बन्धतत्व है।

द्रव्य पुन्य के कारण भूत जो अध्यवसाय है उनको भाव पुन्य कहते हैं और द्रव्य पाप के कारण भूत अध्यवसाव को भाव पाप वे वन्धके अन्तर्भूत हैं क्योंकि बन्ध के कारण भूत कषायिक परिणाम को ही भाव वन्ध कहते हैं और भाववन्ध है वही भावाश्रव है। इसलिये पुन्य, पाप को आश्रव भी कहते हैं।

प्रश्न—आश्रव से यावत मोक्ष पर्यन्त पांच तत्व जीव अजीव की तरह स्वतंत्र नहीं है और न वे अनादि अनन्त है केवल जीव, अजीव की यथा संभव एक अवस्था रुप है तब उन की जीव अजीव के साथ पृथक तत्व रुप से गणना क्यों की।

उत्तर—यहां तत्व शब्द का अर्थ अनादि या स्वतन्त्र भाव से नहीं है किन्तु मोक्ष प्राप्ति के उपयोगी ज्ञेय रुप अर्थ है। प्रस्तुत शास्त्र का ध्येय मुख्य मोक्ष है इसलिये मोक्ष जिज्ञासुवों को तत् विषयि वस्तु का ज्ञान करना अति आवश्यकीय है। और उसी का यहां तत्व रूप से प्रतिपादन है। मुख्यतापने साधन जो मोक्ष है उस के साधनों को बिना जाने साधक की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। और वे मुमुक्षु मोक्ष विरोधी तत्वों को बिना जाने योग्य प्रवृत्ति को प्राप्त नहीं हो सकते। सब से पहिले इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि पूर्वोक्त तत्वों में कितने और कौन कौन से तत्व आत्म भावी है और उसी का यहां कथन है। जीव तत्व के कहने से मोक्ष के अधिकारी का यहां निर्देश होता है, अजीव तत्व से यह सूचित होता है कि एक ऐसा भी तत्व है जो मोक्ष के उपदेश का अधिकारी नहीं है, वन्धतत्व मोक्ष का विरोधी भाव है, और आश्रव तत्व उस विरोधी भाव का कारण है, संवरतत्व मोक्ष का कारण है और निर्जरा मोक्ष पथ प्रदर्शक है। इन सब का लक्षणा· दि भेद विस्तार पूर्वक आगे कहेंगे॥ ४॥

निक्षेपों का नाम निर्देश ।

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यास. ॥ ५ ॥

अर्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन अनुयोगों से जीवादि तत्वों का न्यास अर्थात निक्षेप होता है ॥ ५ ॥

विवेचन—सर्व व्यवहार और ज्ञान भाव के लिये मुख्य साधन भाषा है और भाषा शब्दों से बनती हैं और वे शब्द प्रयोजन या प्रसंग के अनुसार अनेकार्थी होता हैं। यद्यपि इन के ज्यादा विभाग न कर सके तोभी चार विभाग अवश्य करने चाहिये जिस को निक्षेप कहते हैं इन के अवबोध से तात्पर्य समझने में सरलता होती है इस लिये प्रस्तुत सूत्र में चार निक्षेप ॥ न्यास ॥ का निर्देश हैं इस से यह ज्ञान हो जायगा की जो शब्द सम्यग दर्शन और जीवादि तत्व में व्यवहृत किये जाते हैं, वे मोक्ष की सार्थकता को कैसे प्राप्त हो सकती है उस का स्वरूप चार निक्षेपा से यथा क्रम समझाते हैं।

(१) नामनिक्षेप—जिस शब्द की व्युत्पत्ति आदि से सार्थकता सिद्ध नहीं होती केवल लोक रूढ़ी से (संकेतित) है उस को नाम निक्षेप कहते हैं, (जैसे किसी में सेवकपने का एक भी गुण नहो और उसको सेवक कहे यह नाम सेवक हैं।

(२) स्थापना निक्षेप-किसी वस्तु के आकार को मूर्ती, चित्र अथवा दूसरी वस्तु में आरोप करे उस को स्थापना निक्षेप कहते हैं।

(३) द्रव्य निक्षेप—जो अर्थ भावनिक्षेप की पूर्व या उत्तर अवस्थारूप हो उसको द्रव्य निक्षेप कहते हैं। जसे-कोई

व्यक्ति वर्तमान में सेवा नहीं करता तथापि भूतकाल में सेवा की थी या भविष्य में करेगा वह द्रव्य सेवक है ।

(४) भाव निक्षेप—जो शब्द व्यापत्ति, प्रवृति अर्थ सहित पूर्ण रूप से प्राप्त हो उसको भाव निक्षेप कहते हैं । जैसे-कोई आदमी सेवकाई का काम कर रहा है वह भाव सेवक है ।

इसी तरह जीवादि तत्वों का भी चार निक्षेप समझकर अर्थ विभाग करे परन्तु मोक्ष मार्ग के लिये उनको [1] भाव रूप समझें ।

तत्व जानने का उपाय ।

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

अर्थ—पूर्व कथित जीवादि तत्वों का ज्ञान प्रमाण तथा नय के द्वारा होता है ॥ ६ ॥

विवेचन—नय और प्रमाण दोनों ज्ञान है परन्तु इनमें परस्पर विशेषता यह है कि नयज्ञान वस्तु के एक अंश का अवबोधक है और प्रमाण अनेक अंशों का अर्थात् वस्तु में अनेक धर्म होते हैं उन में से किसी एक धर्म द्वारा निश्चय किया जाय उस को नय कहते हे और नितत्वादि धर्मों से आत्मा तथा प्रदीपादि वस्तुवों का नित्य नित्यादि अनेक रूप निश्चय किया जाय उस को प्रमाण कहते हैं, तात्पर्य यह है कि नय प्रमाण का एक अंश है और प्रमाण नयों का समूह है ॥ ६ ॥

---

[1] भाव निक्षेप के कारण बिना प्रथम के तीनो निक्षेप निष्फल हैं । निक्षेप हैं वे मूल वस्तु के पर्याय हैं और स्व धर्म है । विशेषावश्यक भाष्य मे कहा है "चत्तारो वत्थु पज्झवा" तथा अनुयोग द्वार सूत्र में सविस्तार वर्णन है ।

तत्त्व जानने के लिये और भी अन्य उपाय।

निर्देश स्वाम्मित्व साधनाधि करण स्थिति निधनत: ॥७॥
सत्सख्या चेत्रस्पर्शन कालान्तर भावाल्पव हुत्वैश्च ॥८॥

अर्थ—१ निर्देश, "वस्तु नाम सकीर्तन" २ स्वामीत्व, ३ साधन, ४ अधिकरण, ५ स्थिति, ६ विधान, "भेद सख्या" ७ सत, ८ सख्या, ९ क्षेत्र, १० स्पर्शन, ११ काल, १२ अन्तर, १३ भाव और १४ अल्पबहु से जीवादि पदार्थ और सम्यगदर्शनादि विषयों का ज्ञान होता है।

विवेचन—छोटा, बड़ा कोई भी जिज्ञासु किसी नवीन वस्तु को देखता है या नाम सुनता है तब उसकी जिज्ञासावृत्ति जग उठती है और उस के लिये अनेक प्रश्न उद्भव होते हैं जैसे-यह वस्तु किस प्रकार के आकार, रूप, रग वाली है या इस के बनाने वाला कौन है, तथा उपाय, सुदृढता, सुन्दरता और स्वामित्व विषयी नाना प्रकार के प्रश्न उत्पन्न होते हैं उन सब का समाधान करके जिज्ञासु अपनी ज्ञान वृद्धि करता है, वैसे ही अन्तर दृष्टिवाले व्यक्ति मोक्ष मार्ग के लिये तद्विषयी अध्यात्म तत्त्वों का या उसके सम्बन्धी अनेक प्रकारके प्रश्नों द्वारा ज्ञान को प्रवर्द्धित करे। ? प्रस्तुत दोनो सूत्रों का यही आशय है, और सूत्रोक्त चौदह प्रश्नों द्वारा सम्यग दर्शन का सक्षेप से वर्णन करते हैं।

(१) निर्देश (स्वरूप)—तत्त्व की ओर रुचि यही सम्यत्व का स्वरूप है।

(२) स्वामीत्व (अधिकारीत्व)—सम्यग दर्शन का

अधिकारी जीव हैं. किन्तु अजीव नहीं, क्यों कि वह जीव का ही गुण, पर्याय हैं।

(३) साधन (कारण)—सम्यग्दर्शन के लिये सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम या क्षायक ये तीन ही मुख्य कारण हैं, वाह्य कारण शास्त्र श्रवण, जातिस्मर्ण, प्रतिमादर्शन, सत्संग इत्यादि अनेक प्रकार के हैं।

(४) अधिकरण (आधार)—सम्यग्दर्शन का आधार जीव हैं क्यों कि यह उस का परिणाम होने से उसी में रहता हैं, उस से पृथक नहीं हैं, तथापि आधाराधेय भाव से सम्यग्दर्शन गुण हैं इस लिये दोनों की भिन्नता वताई हैं।

(५) स्थिति (कालमर्यादा)—सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर मुहुर्त और उत्कृष्ट स्थिति सादिअनन्त हैं, तीनो सम्यक्त्व के उत्पत्ति का समय हैं वही सादि हैं परन्तु औपशमिक और क्षयोपशमिक सम्यक्त्व अवस्थित नहीं रहते किन्तु विनास भाव को प्राप्त होता हैं, इस लिये वे सादि सान्त हैं और क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होने के पश्चात नष्ट नहीं होता इसलिये सादि-अनन्त हैं।

(६) विधान (भेद)—सम्यक्त्व तीन प्रकार का है (१) औपशमिक, (२) क्षयोपशमिक, (३) क्षायिक उक्त तीनों सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय कर्म के क्षायिकादि तीनों भावों से होता हैं।

(७) सत् (सत्ता)—सम्यक्त्व गुण सत्ता रूप सब जीवों में स्थित है। तथापि इसका आविर्भाव केवल भव्य जीवों में होता है। उसमें भी गति आदि मार्गणा से यथा संभव प्ररूपणा

करनी चाहिये। जैसे-सम्यक्त्व में जीव के २८३ भेद हैं।

(८) संख्या-सम्यक्त्व की संख्या का आधार इस को प्राप्त करने वालों की संख्या पर है। भूत भविष्य काल की अपेक्षा से अनन्त जीव प्राप्त हुवे और होवेंगे। इस हेतु से सम्यग्दर्शन अनन्त है। और वर्तमान की अपेक्षा सम्यग्दर्शन असंख्याते हैं ओर सम्यग्दृष्टि अनन्त है। इसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शन किसी समय नाश और किसी समय स्फुरायमान होता हैं। इस लिये असंख्याते कहा और केवली सम्यग्दृष्टि है इस लिये अनन्त हैं।

(९) क्षेत्र (लोकाकाश)-लोक के असंख्यात भाग में सम्यग्दर्शन हैं। सम्यग्दर्शन वाला एक जीव या अनन्त जीवों का अवगाह स्थान लोक का असंख्यातवा भाग हैं। इसलिये सम्यग् दर्शन का क्षेत्र लोक का असंख्यातवा भाग कहा। यह अवश्य विशेषता होगी कि एक जीव से दो आदि अनन्त जीवों का अवगाह क्षेत्र विशेष रूप होगा। यही असंख्यात भाग के परिमाण में तर तम्यता रहेगी।

(१०) स्पर्शन-निवासस्थान क्षेत्रावृत प्रदेशों की स्पर्शना का इसमें समावेस होता हैं। इसलिये क्षेत्रागाह से स्पर्शना अवगाह विशेष है परन्तु परिमाण से लोक का असंख्यातवा भाग ही कहा जायगा।

(११) काल (समय)-एक जीव की अपेक्षा सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य अन्तर मुहूर्त, उत्कृष्ट छासठ सागरोपम या सादि अनन्त हैं और नाना जीवों की अपेक्षा अनादि अनन्त हैं। क्योंकि भूत, भविष्य, काल में ऐसा कोई समय नहीं जिस में सम्यक्त्वी न रहा हो और न रहेगा। तात्पर्य यह है कि सम्यक्दर्शन

का आविर्भाव का क्रम अनादि काल से प्रवाह रूप से चल रहा है और आगे अनन्त काल तक चलेगा।

(१२) अन्तर (विरहकाल)—एक जीव की अपेक्षा सम्यक्दर्शन का अन्तर जघन्य अन्तर [1]मुहूर्त और उत्कृष्ट अपार्द्ध [2]पुद्गल परावर्त परिमाण है। क्योंकि सम्यक्त्व से मिटा हुआ अन्तर मुहूर्तके पश्चात् पुनः सम्यक्त्व प्राप्त कर सकताहै। कदाचित ऐसा न हो तो अपार्द्ध पुद्गल परावर्त के पश्चात् अवश्य प्राप्त होता ही है। और अनेक जीवों की अपेक्षा विरह काल नहीं है। किसी न किसी को प्राप्त रहता ही है।

(१३) भाव (अवस्था विशेष)—औपशमिकादि पांच भावों में से तीन भावों में सम्यक्त्व होता है। अर्थात सम्यक्त्व औपशमिक, क्षयोपशमिक और क्षायिक अवस्था रूप है यह अवस्था सम्यक्त्व के आवरण भूत दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम क्षायिक और क्षयोपशम से उत्पन्न होती है। इन भावों से सम्यक्त्व की विशुद्धता का तारतम्य भाव प्रगट होता है। औपशमिक सम्यक्त्व से क्षयोपशम सम्यक्त्व विशुद्ध होता है। और क्षयोपशम

---

१ अन्तर मुहूर्त जघन्य नौ समय से उत्कृष्ट ४८ मिनट का होता है बीच का मध्यम है।

२ चौदह राज अर्थात् समग्र लोक में रहे हुए समस्त पुद्गल परमाणु को एक जीव औदारिकादि सातों वर्गणा द्वारा ग्रहण त्याग करे उसमे जितना काल व्यतीत हो उसको पुद्गल कहते हैं। उससे किंचित न्यून को अपार्द्ध पुद्गल परावर्त कहते है। इसका सूक्ष्म, वादर, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि सविस्तार कम्मपयडी, कर्म ग्रन्थादि ग्रन्थों में है।

३ यहां क्षयोपशम को उपशम से विशुद्ध कहा है वह परिणाम की अपेक्षा नहीं है किन्तु स्थिति की अपेक्षा समझना चाहिये। परिणाम की अपेक्षा

सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व विशुद्ध होता है। इसी तरह उत्तरोत्तर विशुद्धता रही हुई है। औदयिक और पारिणामिक भाव में सम्यक्त्व नहीं है। अर्थात् सम्यक्त्व मोहनीय की उदयावस्था में क्षायिक सम्यक्त्व का आविर्भाव नहीं है। इसलिये औदयिक भाव में सम्यक्त्व का अभाव है। और जीवत्व के समान सम्यक्त्व अनादि काल से अनावृत अवस्था रूप नहीं है किन्तु मिथ्यात्व से आच्छादित रहता है इसलिये पारिणामिक भाव में भी सम्यक्त्व का अभाव ही है।

(१४) अल्पाबहुत्व (न्यूनाधिकता)-उपरोक्त तीनों सम्यक्त्व में औपशम सम्यक्त्व वाले जीव सब से न्यून हैं। स्थिति और आगमन की अल्पता के कारण हमेशा थोड़े ही जीव मिलते हैं क्योंकि उपशम सम्यक्त्व एक जीव को सम्पूर्ण भव भ्रमण में केवल पांच ही बार प्राप्त होता है, तथा उपशम सम्यक्त्व से क्षयोपशम सम्यक्त्व वाले जीव असख्याता गुणा अधिक है। इस में मुख्य कारण स्थिति और आगमन की ही बाहुल्यता है। यह सम्यक्त्व एक जीव को असख्याती बार प्राप्त होता है। और उससे क्षायिक सम्यक्त्व वाले जीव अनन्त गुणा है सम्यक्त्व को प्राप्त हुवे ससारी जीव तो असख्याते ही हैं। परन्तु सिद्ध अवस्था की अपेक्षा अनन्त जीव है। क्योंकि सिद्धों को भी क्षायिक सम्यक्त्व है। इस तरह सब भावों का नाम, स्थापनादि से न्यास करके प्रमाणादि द्वारा उनका बोध सम्पादन करना चाहिये॥ ७॥ ८॥

तो औपशमिक भाव ही विशुद्ध है। क्योंकि क्षयोपशम सम्यक्त्व में मिथ्यात्व का प्रदेशोदय है और औपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व मोहनीय का उदय नहीं होता।

सम्यक् ज्ञान के भेद ।

मतिश्रुतावधिमनः पर्याय केवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

अर्थ—ज्ञान के पांच भेद है। मति, श्रुति, अवधि. मनः पर्याय और केवल ज्ञान एवं पंचः ।

विवेचन—जिस प्रकार सम्यक्दर्शन का लक्षण सूत्र में वताया है वैसा सम्यक्ज्ञान का लक्षण नहीं वताया है इस का कारण यह है कि सम्यक्दर्शन का लक्षण समझने के पश्चात् सम्यक्ज्ञान के लक्षण का वोध सरल होजाता हैं। जीव किसी समय सम्यग् दर्शन रहित होता है परन्तु ज्ञान रहित नहीं होता सम्यग् या असम्यग् (मिथ्यात्व) ज्ञान अवश्य होना ही है। जिस ज्ञान के साथ सम्यक्त्व की सहचारीता है वह सम्यक्ज्ञान कहलाता है और मिथ्यात्व सहचारी होने से असम्यक् ज्ञान कहलाता हैं।

प्रश्न—सम्यक्त्व में ऐसा कौनसा प्रभाव हैं। इसके न होने पर अभ्रान्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शादि विषयों का अधिक से अधिक ज्ञान भी मिथ्यात्व कहलाता है ?। तथा अस्पष्ट और भ्रमणात्मक ऐसा थोड़ा ज्ञान भी सम्यक्त्व प्रगट होते ही सम्यक्ज्ञान क्यों कहलाता हैं।

उत्तर—यह ग्रन्थ अध्यात्म विषयि हैं इसलिये यहां अध्यात्म दृष्टि से ही सम्यक्ज्ञान, असम्यक्ज्ञान का विवेचन किया गया है किन्तु प्रमाण शास्त्र के समान विषयात्मक नहीं है। न्याय शास्त्र द्वारा जो ज्ञान का विषय यथार्थ हो वही सम्यक्ज्ञान प्रमाण हैं। और जिसका विषय अयथार्थ हो उसको असम्यक्ज्ञान-प्रमाणाभास कहते हैं। प्रस्तुत शास्त्र को प्रमाण शास्त्र संमत सम्यग्,

वह असम्यक् ज्ञान है उसकी यहा गौणता है यही इस शास्त्र की मुख्य दृष्टि है।

सम्यक्त्वी जीव को सामग्री की न्यूनाधिकता के कारण सशय, भ्रम या अस्पष्ट ज्ञान होता है तथापि सत्यगवेषी और कदाग्रह रहित स्वभाव होने से यथार्थ ज्ञानवाले विशेष दर्शी महत् पुरुषों से अपनी भूल सुधारने के लिये हमेशा उत्सुकता के साथ तत्पर रहता है। वह अपने ज्ञान का पोषण मुख्यता से विषयवासना में ही करता किन्तु अध्यात्म विकास के तरफ ही उसका लक्ष रहता है। सम्यक्त्व विना के (मिथ्यात्वी) जीवों का स्वभाव इससे विपरीत होता है। कदाचित् सामग्री की पूर्णता से निश्चयात्मक और स्पष्ट ज्ञान भी होजाय परन्तु अपनी कदाग्रह प्रकृति के कारण अभिमान से विशेष दर्शी पुरुषों के विचार को भी तुच्छ समझता है और अपने ज्ञान को अध्यात्म उन्नति में न लगाकर केवल ससार की महत्व कक्षा में उसका उपयोग करता है। पूर्वोक्त सम्यग्ज्ञान है वही प्रमाण है इसलिये आगे के सूत्र से प्रमाण के भेद बताते हैं ॥ ९ ॥

तत् प्रमाणे ॥ १० ॥
आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥
प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

अर्थ—(तत्) वे पाचों ज्ञान दो प्रमाण रूप हैं। अर्थात् दो प्रमाणों में विभक्त हैं ॥ १० ॥

प्रथम के दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं ॥ ११ ॥

शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ॥ १२ ॥

विवेचन—प्रमाण के दो भेद हैं। (१) प्रत्यक्ष, (२) परोक्ष इनमें मत्यादि पाचों ज्ञानों का समावेश होता है।

प्रमाण लक्षण—प्रमाण का सामान्य लक्षण पहले कह आये हैं कि जो ज्ञान वस्तु के अनेक अंशों को ग्रहण करे अर्थात् जाने वह प्रमाण है । [१]विशेष लक्षण यह है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मबल से प्राप्त हो उन को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं और मन तथा इन्द्रियों की योग्यता से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

पांचों ज्ञान में से प्रथम के दो अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान सूत्र क्रमानुसार परोक्ष प्रमाण होते हैं, क्योंकि वे इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखने वाले हैं।

मतिज्ञान इन्द्रिय, अनींन्द्रिय (मन) निमित्तक होता है, वह नेत्रादि इन्द्रिय और मन द्वारा उत्पन्न होता है अर्थात् आत्मा से भिन्न निमित्त की अपेक्षा रखता है, इसलिये परोक्ष है और मति पूर्वक परोपदेशजन्य होने से श्रुत भी परोक्ष है।

अवधि, मन:पर्याय और केवलज्ञान ये तीनों प्रत्यक्ष प्रमाण हैं अर्थात् इन्हें अनीन्द्रिय (इन्द्रिय रहित) ज्ञान कहते हैं और जिन के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थ प्रमाविषयी भूत किये जांय अर्थात् साक्षात् अनुभव गोचर किये जांय उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

प्रश्न—इस शास्त्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण हैं और अन्य दर्शनीय अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ती, अभाव और संभव को भी प्रमाण रूप से मानते हैं इसलिये दो प्रमाण की व्याख्या असंगत प्रतीत होती है।

उत्तर—जिसको हम परोक्ष प्रमाण मानते हैं उस में वे अन्तर भूत हैं। इन्द्रियां और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के

---

१ प्रमाणनयैरधिगमः अ० १ सूत्र ६

कारण ये सब प्रमाण मति, श्रुत ज्ञान विषयी हैं, अथवा अनुमाना दि सब अप्रमाण हैं क्योंकि इस में मिथ्यादर्शन क ारण है।

न्याय शास्त्र में इन्द्रिय जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और हेतु त था शब्दादि जन्य ज्ञान को परोक्ष कहा है, इस लक्षण को यहा स्वीकार नहीं करते यहा तो मात्र आत्म सापेक्ष ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण रूप माना है। इन्द्रिय, मन की अपेक्षा रखने वाले ज्ञान को परोक्ष माना है मति, श्रुत ज्ञान इन्द्रिय, मन की अपेक्षा रखता है इसलिये परोक्ष है और शेष तीन ज्ञान आत्मोत्पत्ति (आत्मबल) से उत्पन्न होते हैं इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है यह लक्षण न्याय शास्त्र और लौकिक दृष्टि का है॥ १०—१२॥

मतिज्ञान के समानार्थक शब्द।

मति स्मृति सज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

अर्थ—मति स्मृति, सज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध ये एकार्थ वाची शब्द हैं॥ १३॥

विवेचन—सूत्रोक्त मति, स्मृति आदि शब्द एकार्थवाची (सामान्य अर्थ वाले) हैं। तथापि शकास्पद होने से प्रश्नोत्तर रूप से इनकी व्याख्या कहते हैं।

प्रश्न—कौन से ज्ञान को मति ज्ञान कहते हो?

उत्तर—वर्तमान विषयी ज्ञान को मति ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—स्मृति, संज्ञा, चिन्ता क्या वर्तमान विषयी हैं ?
उत्तर—नहीं पूर्व अनुभव की हुई वस्तु के स्मरण का नाम
स्मृति है। इसलिये यह अतीत विषयी है तथा पूर्व में अनुभव
किया है वर्तमान में करते हैं इस तरह वस्तु की एकता के अनु-
सन्धान का नाम संज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञान है इसलिये ये भेद अतीत
और वर्तमान उभय विषयी हैं और भविष्य विषय की विचारणा
का नाम चिन्ता है। यह अनागत विषयी है।
प्रश्न—इस उत्तर से तो मति, स्मृति, संज्ञा आदि पर्याय
वाची नहीं हो सकते क्योंकि इन सब के अर्थ भिन्न हैं ?
उत्तर—विषय और निमित्त भेद होते हुए भी मति, स्मृति
आदि ज्ञान का मुख्य कारण मति ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम
ही है। इस अभिप्राय से सामान्य रूप एकता ग्रहण करके मति,
स्मृति आदि शब्द को पर्यायवाची कहा है।
प्रश्न—अभिनिवोध शब्द के सम्बन्ध में आपने कुछ नहीं
कहा यह किस ज्ञान का वाचक है ?
उत्तर—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता आदि ज्ञान विषय
अभिनिवोध शब्द का सामान्य रूप से व्यवहार किया जाता है
अर्थात् मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले
जितने ज्ञान हैं उन सब के लिये अभिनिवोध शब्द सामान्य है।
और मति आदि शब्द हैं वे क्षयोपशमजन्य पृथक् २ ज्ञान विषयी हैं।
प्रश्न—इससे अभिनिवोध शब्द पर्यायवाची नहीं हो
सकता इसकी सब में सामान्यता है और मति आदि शब्द इसके
विशेषक हैं। तो पर्यायवाची शब्द कैसे कह सकते हो ?

उत्तर—यहां सामान्य और विशेष की भेदविवक्षा विना किये ही सब को पर्याय वाची कहा है ॥ १३ ॥

मतिज्ञान का स्वरूप।

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

अर्थ—(तत्) पूर्वोक्त मतिज्ञान इन्द्रिय और अनीन्द्रिय निमित्त से उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

विवेचन—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन पांच पर्यायकों से वाच्य मतिज्ञान दो प्रकार का होता है, इन्द्रिय निमित्तक और अनीन्द्रिय निमित्तक। चक्षु आदि इन्द्रियां बाह्य साधन हैं और मन आन्तरिक साधन है, इसी के कारण से इन्द्रिय अनीन्द्रिय लक्षण भेद माना गया है ॥ १४ ॥

मतिज्ञान के भेद।

अवग्रहेहावाय धारणाः ॥ १५ ॥

अर्थ—मतिज्ञान के चार भेद हैं, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ॥ १५ ॥

विवेचन—पूर्वोक्त इन्द्रिय, अनीन्द्रिय निमित्तक मतिज्ञान एक होने पर भी चार प्रकार का है। (१) अवग्रह। (२) ईहा। (३) अवा (पा) य। (४) धारणा। उक्त अवग्रहादि प्रत्येक को पांच इन्द्रिय और मन एवं छः, इस तरह छओं के साथ गिनने से चौबीस भेद मतिज्ञान के होते हैं। यथा—

स्पर्शेन्द्रिय	अवग्रह	ईहा	अपाय	धारणा
रसेन्द्रिय	"	"	"	"
घ्राणे०	"	"	"	"
चक्षु०	"	"	"	"
श्रोते०	"	"	"	"
मन	"	"	"	"

अवग्रहादि के लक्षण।

(१) अवग्रह—इन्द्रियों द्वारा स्वविषयी पदार्थ का अप्रकट रूप से आलोचन व अवधारण को अवग्रह कहते हैं। अवग्रह, ग्रहण, आलोचन और धारण ये सब एकार्थवाची शब्द हैं—अर्थात् विशेष कल्पना रहित मात्र सामान्य ज्ञान को अवग्रह कहते हैं इस ज्ञान से यह मालूम नहीं होता कि यह स्पर्श किस चीज़ का है इसलिये अवग्रह अव्यक्त ज्ञान है।

(२) ईहा- अवग्रह से ग्रहीत एक देश विषयी ज्ञान को विशेष रूप से जानने के लिये अनुगम अर्थात् निश्चय करने की चेष्टा विशेष को ईहा कहते हैं। ईहा. ऊहा. तर्क, परीक्षा, विचारणा, जिज्ञासा ये समानार्थक शब्द हैं। इस ज्ञान से विचार शक्ति उत्पन्न होती है। जैसे—यह डोरी का स्पर्श है या सर्प का। अगर

सर्प होता तो इतनी जोर की ठोकर लगने पर फुकार किये बिना नहीं रहता इस विचार को ईहा कहते ह।

(३) अपाय—अवग्रह, ईहा द्वारा, गृहीत विषय का अधिक अवधान अर्थात् एकाग्रता से निश्चय करना उसको आपाय कहते ह। जैसे—वस्तु के गुण दोष या योग्यायोग्य के विचार से निश्चय हो कि यह सर्प का स्पर्श नहीं किन्तु डोरी का स्पर्श है, उसको अपाय करते ह। अपाय, अपगम, अपनोद, अ त अपगत ये सब एकार्थवाची शब्द ह।

(४) धारणा—पदार्थ के स्वरूपानुसार उसका जो यथार्थ बोध तत् विषयी स्थिरस्थिति या अवधारण को धारणा कहते है अवधारणागृहीत ज्ञान कुछ समय के पश्चात् विसर्जन होता है—पुन उसका लोप होजाता है। परन्तु यह ऐसा हो कि योग्य निमित्त मिलने पर निश्चित विषय का स्मरण होजाय ऐसी निश्चय की सतत धारा तत् जन्य सस्कार और सस्कार जन्य स्मरण—यही धारणा है।

प्रश्न—उपरोक्त चारों भेदों का जो क्रम है वह निर्हेतु है ? या सहेतु है ?

उत्तर—सहेतु है क्योंकि सूत्र क्रम के अनुसार उसकी उत्पत्ति है और उसीका यह सूचक भी है ॥ १५ ॥

अवग्रहादि के लक्षण ।

बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासंदिग्ध ध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

अर्थ—बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि सृत, असदिग्ध, ध्रुव और इनसे इतर (प्रतिपक्षी सहित) १२ भेद अवग्रहादि में होते हैं ॥ १६॥

विवेचन—पांच इन्द्रिय और मन इन छ साधनों से उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञान के अवग्रहादि बारह भेद होते हैं। वे क्षयोपशम और विषय की विविधता से बारह बारह भेद होते हैं।

बहुग्राही	अवग्रहादि ६ भेद	ईहादि ६ भेद	अवायादि ६ भेद	धारणादि ६ भेद
अल्पग्राही	,,	,,	,,	,,
बहुविध ग्राही	,,	,,	,,	,,
एकविध ग्राही	,,	,,	,,	,,
क्षिप्र ग्राही	,,	,,	,,	,,
अक्षिप्र ग्राही	,,	,,	,,	,,
अनिश्रित ग्राही	,,	,,	,,	,,
निश्रित ग्राही	,,	,,	,,	,,
असंदिग्ध ग्राही	,,	,,	,,	,,
संदिग्ध ग्राही	,,	,,	,,	,,
ध्रुव ग्राही	,,	,,	,,	,,
अध्रुव ग्राही	,,	,,	,,	,,

(१—२) बहु का अर्थ है अनेक और अल्प का अर्थ है एक

जैसे—दो या इससे भी अधिक पुस्तकों को जानता हुआ अवग्र हादि चारों क्रम भावी मतिज्ञान अनुक्रम से बहुग्राही अवग्रह, बहु ग्राही ईहा, बहुग्राही अवाय, बहुग्राही धारणा और एक पुस्तक को जानता हुआ पूर्वाक्त चारों भेद अल्पग्राही कहलाते हैं।

(३-४) बहुविध ग्राही का अर्थ अनेक प्रकार से और एक विध ग्राही का अर्थ एक प्रकार से, जैसे—रूप, रंग, आकार, मोटाई आदि विविधता वाले पुस्तकों को जानता हुआ उक्त चारों ज्ञान क्रम से बहुविध ग्राही अवग्रह है इसी तरह ईहा, अवाय, धारणा को भी बहुविध ग्राही कहते हैं, एवं एक प्रकार से पुस्तक को जानने वाले का ज्ञान उपरोक्त बहुविध ग्राही चार भेद के समान एक विध ग्राही कहलावेंगे, बहु तथा अल्प का अर्थ व्यक्तिगत् संख्या वाची है और बहुविध, एक विध अर्थ उसकी विविधता अवबोधक है।

(५-६) क्षिप्र = शीघ्र। अक्षिप्र = धीरे। पूर्वोक्त अवग्रहा दि चारों भेद शीघ्र ग्राही होते हैं और विलम्ब से जाने उस को अक्षिप्र ग्राही कहते हैं। अनुभव सिद्ध है कि इन्द्रियादि बाह्य सामग्री बराबर बराबर होते हुए भी क्षयोपशम की तारतम्यता के कारण एक मनुष्य को जल्दी ज्ञान प्राप्त होता है और दूसरे को विलम्ब से प्राप्त होता है। वही अवग्रहादि चारों ज्ञान के साथ क्षिप्रग्राही और अक्षिप्रग्राही भेद है।

(७-८) अनिश्रित् अर्थात् लिंग हेतु विना निर्णीत वस्तु और निश्रित का अर्थ है लिंगादि से निर्णय की हुई वस्तु जैसे-पूर्व में अनुभव किया हुआ शीतल, कोमल और सुकुमारादि स्पर्श रूप लिंगादि से वर्तमान में जूही के फूल को जानने वाले को पूर्वोक्त चारों ज्ञान अनुक्रम से निश्रित ग्राही अवग्रहादि रूप हैं लिंग के सिवाय फूलों को जानने वाले का ज्ञान अनुक्रम से अनिश्रित ग्राही = अलिंग ग्राही अवग्रहादि है।

(९ १०) असंदिग्ध का अर्थ है निश्चय और संदिग्ध का अर्थ है अनिश्चय। जैसे-यह चन्दन का स्पर्श है किन्तु फूल का नहीं इस तरह स्पर्श को निश्चय रूप से जानने वाले का उपरोक्त चारों ज्ञान निश्चय ग्राही अवग्रहादि है। चन्दन और फूल दोनों का स्पर्श शीतल होता है इसलिये यह चन्दन का स्पर्श है या फूल का ऐसा अनुपलब्ध ज्ञान संदेहयुक्त होता है उसे अनिश्चयग्राही अवग्रहादि ज्ञान कहते हैं।

(११-१२) ध्रुव का अर्थ है निश्चय और अध्रुव का अर्थ है कदाचित्। जैसे-इन्द्रिय, मनादि सामग्री समान होते हुए भी एक मनुष्य विषय को अवश्य जानता है और दूसरा कदाचित् जानता है कदाचित् नहीं जानता। अवश्य जानने वाले के पूर्वोक्त चारों ज्ञान ध्रुवग्राही हैं और सामग्री होते हुए भी क्षयोपशम की मंदता से किसी समय ग्रहण करता है और किसी समय ग्रहण नहीं करता ऐसा पूर्वोक्त चारों ज्ञान अध्रुवग्राही कहलाता है।

प्रश्न—ऊपर के बारह भेदों में से कितने भेद विषय की विविधता से और कितने क्षयोपशम की तारतम्यता से है?

उत्तर—बहु, अल्प, बहुविध, एकविध ये चार भेद विषय की विविधता से होते हैं। शेष अठारह भेद क्षयोपशम की तारतम्यता से होते हैं।

प्रश्न—मतिज्ञान के सब कितने भेद हैं?

उत्तर—दो सौ इठियासी २८८ भेद होते हैं। जैसे—पांच इन्द्रिय और मन इन छ को अवग्रहादि चार भेदों के साथ गिनने से चौबीस भेद होते हैं। उन चौबीस को बहु, अल्पादि बारह भेदों के साथ गिनने से दो सौ इठियासी २८८ भेद होते हैं।

सामान्यरूप से अवग्रहादि का विषय।

अर्थस्य ॥ १७ ॥

अर्थ–अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चारों भेद अर्थग्राही होते हैं।

विवेचन–द्रव्य और पर्याय को वस्तु कहते हैं इसका दूसरा नाम अर्थ भी है।

प्रश्न–इन्द्रिय और मनोजन्य अवग्रहादि ज्ञान क्या द्रव्य रूप वस्तु ग्राही हैं या पर्याय रूप वस्तु ग्राही हैं?

उत्तर–उपरोक्त अवग्रहादि ज्ञान मुख्यतया पर्यायग्राही हैं। सम्पूर्ण द्रव्यग्राही नहीं हैं। द्रव्य को पर्याय द्वारा जानते हैं क्योंकि इन्द्रिय और मन का मुख्य विषय पर्यायग्राही है। पर्याय द्रव्य का एक अंश है। अविग्रहादि ज्ञान द्वारा जब इन्द्रिय और मन अपने २ विषयभूत पर्याय को जानते हैं तब वे उन उन पर्याय रूप से द्रव्य को भी अंशत जानते हैं। क्योंकि द्रव्य को छोड़ के पर्याय रह नहीं सकता और द्रव्य पर्याय रहित नहीं होता। जैसे नेत्र का विषय रूप संस्थान, आकारादि है। वे पुद्गल द्रव्य के एक पर्याय हैं। नेत्र आम्र फल को ग्रहण करता है इसका भावार्थ यही है कि उसके रूप, आकार विषयों को जानता है और वे केरी से जुदे नहीं हैं। इसलिये स्थूल दृष्टि से यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण केरी देखी परन्तु केरी में उपरोक्त रूप, संस्थान के सिवाय स्पर्श, रस, गन्धादि अनेक पर्याय हैं उन सब का ज्ञान नेत्रों से नहीं हो सकता इसलिये यह असमर्थ है। इसी तरह स्पर्शेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेन्द्रिय वस्तु के पृथक्२ पर्याय को जानती हैं। जैसे

जलेबी के गरम स्पर्श को स्पर्शेन्द्रिय, मधुर रस को रसेन्द्रिय और सुगन्ध को घ्राणेन्द्रिय ही जानती है। किसी भी एक इन्द्रिय से वस्तु के सम्पूर्ण पर्यायों का ज्ञान नहीं हो सकता। इस तरह भाषात्मक पुद्गलों की ध्वनिरूप पर्याय को श्रोतेन्द्रिय ग्रहण करती है और मन भी वस्तु के किसी एक अंश का विचारक है, किन्तु सम्पूर्ण अंशों की विचारणा एक साथ नहीं होती। इस से यह सिद्ध होता है कि इन्द्रिय और मनोजन्य अवग्रहादि चारों भेद मुख्यता से पर्याय विषयग्राही हैं और इसी पर्याय द्वारा द्रव्य को जानते हैं।

प्रश्न—पूर्व कथित सूत्र से इस सूत्र का क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—पूर्व सूत्र में वस्तु की विशेषता अर्थात् संख्या, जाति आदि द्वारा पृथक्करण करके बहु अल्पादि विशेष रूप से बताया है और प्रस्तुत सूत्र में उसी का सामान्य रूप से वर्णन है अर्थात् इस सूत्र में वस्तु के द्रव्य पर्याय रूप से अवग्रहादि ज्ञान का विषय सामान्य रूप से बताया है॥ १७॥

अवग्रह क अवान्तर भेद।

व्यंजनस्याऽवग्रहः॥ १८॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्॥ १९॥

अर्थ—व्यंजन (अव्यक्त शब्दादिका) अवग्राही है॥ १८॥

नेत्र और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता है॥ १९॥

विवेचन—लंगड़े मनुष्य को चलने के लिये लकड़ी के सहारे की आवश्यकता रहती है इसी तरह आत्मा की आच्छादित चेतना

शक्ति (पराधीनताके कारण ज्ञानोत्पत्ति) के लिये सहारे की अपेक्षा रहती है। इसी कारण बाह्य साधन इन्द्रिय और मन की आवश्यकता रहती है। इन्द्रिया और मन इन सब का स्वभाव सदृश नहीं है इसलिये इनके द्वारा होने वाली ज्ञान धारा का आविर्भाव क्रम भी एकसा नहीं है किन्तु संक्षेप से उनके दो विभाग होते हैं। (१) मन्दक्रम, (२) पटुक्रम।

मन्दक्रम में ग्राह्य विषय के साथ अपने २ विषय को ग्रहण करने वाला [1]उपकरणेन्द्रिय का संयोग (व्यंजन के) होते ही ज्ञान का आविर्भाव होता है, परन्तु वह ज्ञान आरम्भ में इतना अल्प होता है कि उससे सामान्य बोध होना भी कठिन होता है। परन्तु जैसे २ विषय और इन्द्रियों का संयोग होता जाता है वैसे२ ज्ञान की मात्रा भी वृद्धि को प्राप्त होती है। इसी तरह उत्पन्न हुई ज्ञान-मात्रा से व्यंजनावग्रह की पुष्टि के साथ२ वस्तु विषयी (अर्थावग्रह) सामान्यावबोध उत्पन्न होता है। इसका अभिप्राय यह है कि अर्थावग्रहके पूर्ववर्ती ज्ञान व्यापार व्यंजनावग्रह है परन्तु व्यंजनावग्रह अनुक्रम से पुष्टिको प्राप्त होता हुआ अर्थावग्रह की योग्यता को प्राप्त नहीं होता तब तक वह व्यंजनावग्रह ही कहलायगा क्यों कि अव्यक्त ज्ञान होने से व्यंजन सापेक्ष है। इस तरह व्यंजनावग्रह नामक दीर्घ ज्ञानव्यापार उत्तरोत्तर पुष्ट होता हुआ भी इतना अल्प है कि उससे विषय का सामान्यबोध भी नहीं होता इसी कारण से यह अव्यक्त अव्यक्तम और अव्यक्ततर ज्ञान कहलाता है और वह ज्ञानव्यापार पुष्ट होता हुआ ऐसी अवस्था को प्राप्त हो कि यह क्या है ऐसा जो सामानायबोधक ज्ञानांश वही अर्थावग्रह कहलाता है वह व्यंजनावग्रह की उत्तरोत्तर अवस्था का अन्तिम

[1] इसका विस्तार अध्याय २ सूत्र १७ में है।

अंश है वह विषय और इन्द्रिय सापेक्ष हैं तथापि व्यंजनावग्रह से पृथक करने का और अर्थावग्रह नाम रखने का कारण यही है कि ज्ञानांश से उत्पन्न होने वाले विषय का बोध जिज्ञासुओं को सरलता से होजाय। अर्थावग्रह के पश्चात् इसके द्वारा सामान्य रूप से होने वाली विशेष जिज्ञासा (जानने की इच्छा) और विषय का निर्णय तद् विषयी धारा उससे उत्पन्न हुआ संस्कार और संस्कार से उत्पन्न हुई स्मृति इस तरह पूर्वापर ज्ञान व्यापार होता है वही ईहा, अवाय, धारणा रूप तीन विभागों में विभाजित है। मंदक्रम के लिये उपकरणेन्द्रिय और विषय संयोग की सापेक्षता बताई है वह मुख्यता से व्यंजनावग्रह के अन्तिम अंश (अर्थावग्रह) तक है तत्पश्चात् ईहा. अपायादि ज्ञान व्यापार में उन संयोगों की अपेक्षा अनिवार्य रूप (निश्चयात्मक) नहीं है क्योंकि ज्ञान-व्यापार की प्रवृति विशेषग्राही होने से उस समय मानसिकअवधान (स्मरण) की प्रधानता रहती है अर्थात् मानसिक बल की विशेषता है इस लिये सूत्र का भी यही आशय है कि व्यंजन आवग्रही होता है। अवग्रह का मतलब अव्यक्त ज्ञान तक व्यंजन की अपेक्षा रहती है।

पटुक्रम अर्थात् शीघ्रता के लिये उपकरणेन्द्रिय और विषय संयोग की अपेक्षा नहीं रहती। ग्राह्य विषय दूर दूरतर होते हुए भी योग्य सन्निधान मात्र से इन्द्रिय तत्विषय को ग्रहण कर लेती है और वह ज्ञान सामान्यता से अर्थावग्रह रूप ही उत्पन्न होता है। उसके पीछे ईहादि ज्ञान व्यापारों का क्रम पूर्वोक्त मन्दक्रम के समान प्रवृत्तमान होता है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों के साथ ग्राह्य विषय का संयोग हुए विना ज्ञान धारा का आविर्भाव होना पटुक्रम है। इसका पहला अंश अर्थावग्रह और अन्तिम अंश स्मृतिरूप धारणा है। मन्दक्रम से ग्राह्य विषय का इन्द्रियों के साथ संयोग होने के पश्चात् ज्ञानधारा का आविर्भाव होता है जिसका

प्रथम अंश अव्यक्ततम, अव्यक्ततर और व्यंजनावग्रह नामक ज्ञान है और दूसरा अंश अर्थावग्रह अन्तिम अंश स्मृति रूप धारणा है।

दृष्टान्त—मन्दक्रम की ज्ञानधारा का आविर्भाव इन्द्रिय और विषय संयोग की सापेक्षता से होता है। इसको स्पष्टता से समझाने के लिये सकोरे का दृष्टान्त अति उपयोगी है। जैसे-भट्टी में से तुरन्त का बाहर निकाला हुआ अति रुक्ष सकोरा एक बूँद पानी को तुरन्त शोष लेता है और उस एक बूँद पानी का उसमें नाम निशान तक नहीं रहता। इस तरह कितने ही बूँदों को डालते रहो बराबर वह शोषता जायगा परन्तु अन्त में वह भीग कर उन पानी की बूंदों को शोषण करने के लिये असमर्थ होगा तब वे जल कण समूह रूप से एकत्र होकर दिखाई देने लगेंगे परन्तु यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि जिस समय में अर्थात् जो सब से पहली बूँद सकोरे में डाली गई थी वह भी उसमें मौजूद थी परन्तु वह इस प्रकार शोषण हुआ कि आँखों से दिखाई भी नहीं दी। जब अनुक्रम से पानी का प्रमाण वृद्धि को प्राप्त हुआ और सकोरे की शोषण शक्ति न्यून हुई तब उस में आर्द्रता (गीलापन) दिखाई देने लगा। तत्पश्चात् नहीं शोषण हुआ पानी एकत्र होके दिखाई देने लगता है। इसी तरह सोते हुए पुरुष को पुकारने से वे शब्द उसके कान में जाते हैं और दो चार बार पुकारने से उन शब्दों द्वारा उसके कान भरजाते हैं। एव दृष्टान्तवत् परिपूरित होने पर उन शब्दों को सामान्य रूप से जानने से ज्ञात होता है यह क्या है ? यही सामान्य रूप से शब्द की स्फुटता प्राथमिक ज्ञान है इस से आगे विशेष ज्ञान का अनुक्रम होता है। जैसे-सकोरे में कुछ समय तक पानी की बूँदें गिरने से वह भीग जाता है और अन्तमें उस के अन्दर पानी दिखाई देने लगता है उसी तरह कान में कुछ

समय तक शब्द के पुद्गलों का संयोग एकत्र होने से सोते हुए पुरुष के कान भर जाते हैं तब सामान्य रूप से प्राथमिक ज्ञान होकर वह पुरुष जागृत होता है। तत् पश्चात् उन शब्दों की विशेषता का ज्ञान होता है। यह दृष्टान्त जागृत पुरुष के लिये भी है परन्तु वह ज्ञान इतना शीघ्रभावी है कि साधारण पुरुषों के लिये समझना कठिन होता है और सकोरे के साथ सोते हुए पुरुष का दृष्टान्त सरलता से समझ में आता है।

पटुक्रम शीघ्रगामी धारा के लिये दर्पण का दृष्टान्त सुगम है, जैसे-दर्पण के सामने आई हुई वस्तु का प्रतिबिंब तुरन्त दिखाई देता है इस के लिये दर्पण के साथ प्रतिबिंबित वस्तु का स्पर्श रूप साक्षात् संयोग की आवश्यका नहीं रहती किन्तु प्रतिबिंबग्राही दर्पण और प्रतिबिंबित वस्तु का संयोग स्थल संनिधान-सामिप्य अवश्य है और वह सामने होते ही प्रतिबिंब पड़ता है इसी तरह आंखों के सामने आई हुई वस्तु सामान्य रूप से तुरन्त दिखाई देती है इस के लिये वस्तु और नेत्र का संयोग सापेक्ष नहीं है जैसे कान और शब्द के संयोग की सापेक्षता है। किन्तु दर्पण के समान आंख और वस्तु का केवल योग्य सन्निधान होना चाहिये इसी लिये पटुक्रम की धारा में सब से पहली अर्थावग्रह मान्य है मन्दक्रम धारा में व्यंजनावग्रह को स्थान मिलता है परन्तु पटुक्रम धारा में व्यंजनावग्रह नहीं है।

प्रश्न—व्यंजनावग्रह कौन कौनसी इन्द्रियों से होता है ?

उत्तर—प्रस्तुत सूत्र में कहा हुआ है कि नेत्र और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता क्योंकि वे दोनों संयोग विनाही केवल योग्य सन्निधान से या अवधान (स्मरण) मात्र से अपने अपने ग्राह्य विषय को जान लेते हैं। यह स्वयं सिद्ध है कि दूर दूरतर

रहने वाले वृक्ष, पर्वतादि को नेत्र ग्रहण करता है (देखता है) और मन सदूरवर्ती वस्तु का चिन्तन करता है इसलिये नेत्र और मन अप्राप्यकारी माने गये हैं उन से उत्पन्न हुई ज्ञानधारा को पटुक्रम कहते हैं। शेष चार इन्द्रिय (कर्ण, जिह्वा, घ्राण, स्पर्श) मदक्रमिक ज्ञानधारावाही हैं। कारण ये चारों प्राप्यकारी अर्थात् ग्राह्य विषय के साथ संयुक्त होकर उस विषय को ग्रहण करती हैं। इस बात का सब को अनुभव है कि जब तक शब्द कान के भीतर प्रवेश नहीं करेगा जब तक शक्कर रसना पर न रखी जाय, पुष्प के रजकण नाक में न प्रवेश करें, पानी आदि का स्पर्श शरीर के साथ न हो तब तक उन २ विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता।

प्रश्न—मति ज्ञान के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर—तीन सौ छत्तीस ३३६ ।

प्रश्न—किस तरह ?

उत्तर—पांच इन्द्रिय और मन इन छः को अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा इन चारों के साथ गिनने से चौबीस भेद होते हैं। इन चार व्यंजनावग्रह के मिलाने से २८ भेद होते हैं। इन २८ भेदों को बहु अल्पादि १२ भेदों के साथ गिनने से ३३६ भेद होते हैं। ये भेद स्थूल दृष्टि से केवल बालबोध के लिये हैं। वास्तविक रीति से क्षयोपशम की विचित्रता के तारतम्यत्व भाव से असंख्याते भेद होते हैं ॥ १८—१९ ॥

श्रुतज्ञान का स्वरूप और भेद।

श्रुत मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

अर्थ—श्रुत ज्ञान मति पूर्वक होता है। उसके दो, अनेक

और द्वादश भेद होते हैं ॥ २० ॥

विवेचन-श्रुत, अवप्तवचन, आगम, उपदेश, एतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन ये सब एकार्थवाची हैं। मतिज्ञान कारण और श्रुतज्ञान कार्य है। मतिज्ञान से श्रुत ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान का जो विषय प्राप्त करना है तत् विषयी पहले मतिज्ञान अवश्य होना चाहिये। श्रुतज्ञान की पूर्णता के लिये मतिज्ञान सहाय है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान का बाह्य कारण है। वास्तविक कारण तो क्षयोपशम है। किसी विषय का मतिज्ञान होते हुए भी क्षयोपशम के अभाव से तत् विषयी श्रुतज्ञान नहीं होता।

प्रश्न-मतिज्ञान के समान श्रुतज्ञान भी उत्पत्ति समय इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखता है तो दोनों में विशेषता क्या है? श्रुत ज्ञान को मतिज्ञान पूर्वक कथन करने की सार्थकता के लिये स्पष्ट विवेचन होना चाहिये। मतिज्ञान का कारण मतिज्ञानावरणी कर्मका क्षयोपशम है और श्रुतज्ञान का कारण श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है। इससे दोनों का भेद यथार्थ समझ में नहीं आता कारण क्षयोपशम का स्वरूप साधारण बुद्धि वालों के लिये अगम्य है।

उत्तर-मतिज्ञान वर्तमान विषयी है और श्रुतज्ञान त्रिकाल विषयी है। इसके सिवाय दूसरा भेद यह है कि मतिज्ञान शब्दोल्लेख नहीं होता और श्रुतज्ञान शब्दोल्लेख है। इस से फलित यह होता है कि दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मनोजन्य होते हुए भी एक शब्दोल्लेख रहित है और दूसरा शब्दोल्लेख सहित है। पुनः दोनों में इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा होते हुए भी मतिज्ञान से

श्रुतज्ञान का विषय अधिक है और स्पष्टता भी अधिक है कारण श्रुतज्ञान में मनोव्यापार की प्रधानता होने से विचारांश अधिक और स्पष्ट होता है। ये दोनों परस्पर एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते और यह भी कह सकते हैं कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनोजन्य दीर्घ व्यापार का प्राथमिक अपरिपक्व अंश है और श्रुत ज्ञान उत्तर का परिपक्व तथा स्पष्ट अंश है और जो भाषासे प्ररूपित किया जाय वह श्रुतज्ञान है और तत् विषयी अपरिपक्व अवस्था ही मतिज्ञान है।

प्रश्न-श्रुतज्ञान दो अनेक और बारह प्रकार से किस तरह होता है?

उत्तर-अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट रूप से श्रुत दो प्रकार का है। इसमें अंगबाह्य सूत्र के उत्कालिक, कालिक आदि अनेक भेद हैं और अंग प्रविष्ट के आचारांगादि बारह भेद हैं।

प्रश्न-अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट की विशेषता किस अपेक्षा से है?

उत्तर-ये वक्ता के भेद की अपेक्षा से है। जिस ज्ञान को तीर्थंकरों ने प्ररूपा प्रकाशित किया) और गणधरों ने ग्रहण करके सूत्र रूप से रचना की उसको अंग प्रविष्ट कहते हैं और उसी के अनुसार शिष्यों को सुगमता से अवबोध कराने के लिये तथा सर्व साधारण के हितार्थ अन्य आचार्यो और पूर्वधरों ने अनेक विषयों पर नाना शास्त्रों की रचना की है जिन्हें अंगबाह्य कहते हैं।

प्रश्न-बारह अंगों के नाम कहो और अंगबाह्य में मुख्य मुख्य प्राचीन कौन से ग्रन्थ हैं?

उत्तर-१ आचारांग, २ सूत्रकृतांग, ३ स्थानांग, ४ समवायांग, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६ ज्ञाता धर्मकथा, ७ उपासकदशांग

८ अन्तकृतदशांग, ९ अनुत्तरोपपातिकदशांग, १० प्रश्नव्याकरण, ११ विपाक और दृष्टिवाद-ये १२ अंग कहलाते हैं। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छः आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्यन, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि शास्त्र अंगबाह्य हैं।

प्रश्न-पूर्वोक्त शास्त्र ज्ञान को व्यवस्थित रूप से संग्रहित करने वाले हैं तो क्या वे इतने ही हैं।

उत्तर-नहीं भूत काल में अनेक होगये। वर्तमान में कई हैं। भविष्य में होवेंगे। वे सब श्रुतज्ञान हैं। यहां जितने नाम बताये हैं-वे जैन शासन के प्रधान आधार हैं। अन्य अनेक शास्त्र बने हैं और वर्तमान में बनते हैं वे सब अंगबाह्य में समावेश होते हैं परन्तु वे सुबुद्धि और समभाव पूर्वक होने चाहिये।

प्रश्न-वर्तमान में विविध-विज्ञान विषयी शास्त्र, काव्य नाटक आदि लौकिक विषय के अनेक ग्रन्थ बनाये जाते हैं। क्या वे भी श्रुत हैं?

उत्तर-हां?

प्रश्न-क्या वे श्रुतज्ञान होने से मोक्ष के लिये उपयोगी हो सकते हैं?

उत्तर-मोक्ष के लिये उपयोगी होना न होना शास्त्र का नियत स्वभाव नहीं है। इसका आधार अधिकारी की योग्यता पर है। यदि अधिकारी योग्य और मुमुक्षु है तो-लौकिक शास्त्र को भी मोक्ष के लिये उपयोगी बना सकता है नहीं तो उच्चकोटि के आध्यात्मिक शास्त्र भी उसके लिये नीची गति के हेतु हो जाते हैं।

तथापि शास्त्र का विषय और प्रणेता (रचयिता) की योग्यता की दृष्टि से आध्यात्मिक श्रुत लोकोत्तर के लिये विशेष उपकारी है।

प्रश्न—श्रुत है वह ज्ञान है तो भाषात्मक शास्त्र को और उसके साधन कागज, लेखनी आदि को श्रुत क्यों कहते हो ?

उत्तर—उपचार से कहते हैं। वास्तविक तो ज्ञान ही श्रुत रूप है परन्तु उनको प्रकाशित करनेवाले भाषादि हैं वे साधन भूत हैं और कागज कलम इत्यादि भाषा को लिपि बद्ध करके व्यवस्थित रूप से रखने के साधन हैं। इसलिये भाषा कागज आदि को केवल उपचार मात्र से श्रुत कहा गया है ॥ २० ॥

अवधिज्ञान के भेद और स्वामी।

द्विविधोऽवधिः ॥ २१ ॥

तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥ २२ ॥

यथोक्तनिमित्त षड्विकल्प शेषाणाम् ॥ २३ ॥

अर्थ—अवधिज्ञान दो प्रकार का है ॥ २१ ॥

केवल नारकी और देवताओं को अवधिज्ञान जन्म सिद्ध " भवप्रत्यय " निमित्त से होता है ॥ २२ ॥

शेषाणाम् अर्थात् तिर्यग्, मनुष्यों में अवधिज्ञान क्षयोपशम जन्य छः प्रकार का होता है ॥ २३ ॥

विवेचन—अवधिज्ञान के दो भेद हैं। (१) भवप्रत्यय, (२) गुण प्रत्यय। जो ज्ञान जन्म के साथ तत् समय उत्पन्न हो उसको भवप्रत्यय कहते हैं। इसके लिये यम नियमादि अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती। जन्म सिद्ध अवधिज्ञान भवप्रत्यय कहलाता

है और यम (पंचमहाव्रत) नियम-पच्चक्खानादि अनुष्ठान के बल से प्रगट होने वाले को गुणप्रत्यय कहते हैं। यह क्षयोपशम जन्य होता है।

प्रश्न-भवप्रत्यय अवधिज्ञान क्या क्षयोपशम विना हो सकता है?

उत्तर-नहीं, इसके लिये भी क्षयोपशम की आवश्यक्ता रहती है।

प्रश्न-जब दोनों क्षयोपशमजन्य हैं तो वे किस तारतम्यता के कारण भिन्न होते हैं?

उत्तर- किसी भी प्रकार का अवधिज्ञान क्यों न हो परन्तु योग्य क्षयोपशम के विना नहीं हो सकता। इसलिये अवधिज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होना सब अवधि ज्ञान के लिये एक साधारण कारण है। तथापि एकको भवप्रत्यय और दूसरे को गुणप्रत्यय कहने का कारण क्षयोपशम का आविर्भाव जिस निमित्त से होता हो उसकी अपेक्षा से है। जैसे:—देवता नारकी के जीव अपनी गति में उत्पन्न होते ही क्षयोपशम की योग्यता के अनुसार उनको अवधिज्ञान का आविर्भाव अवश्यमेव होता है। इनको व्रत नियमादि अनुष्ठान करने की आवश्यक्ता नहीं रहती। केवल क्षयोपशम की तारतम्यता से न्यूनाधिक रूप अवश्यमेव (जन्मसिद्ध) होता ही है और जीवन पर्यन्त रहता है। इनके सिवाय दूसरी गति वाले जीवों को जन्मसिद्ध अवधिज्ञान प्राप्त नहीं होता अर्थात् जन्म लेते ही अवधिज्ञान प्राप्त हो ऐसा नियम नहीं है। उनको अवधिज्ञान प्राप्त करने के लिये क्षयोपशम का आविर्भाव हो ऐसे यम, नियमादि अनुष्ठान करने पड़ते हैं और योग्य गुण प्राप्त होने

से वे पा सकते हैं परन्तु देवता नारकी के समान अन्य गति वाले जीव उसके अधिकारी नहीं हैं । इसलिये मुख्य क्षयोपशम रूप कारण सामान्य होते हुए भी कई जीवों को तपादि अनुष्ठान की अपेक्षा रहती है। इसीलिये गुण प्रत्यय, भव प्रत्यय ऐसे दो नाम रखे गये ह और देव, नारकी को भवप्रत्यय तथा मनुष्य तिर्यंच को गुण प्रत्यय अवधिज्ञान होता है।

प्रश्न-जब चारों गतिवाले जीव इसके अधिकारी हैं तो एक को जन्मसिद्ध और दूसरे को तपादि अनुष्ठान करने पडते हैं-ऐसा क्यों ?

उत्तर यह विचित्रता अनुभव सिद्ध है । जैसे-पक्षी जाति में आकाश में उडने की शक्ति जन्म सिद्ध है परन्तु मनुष्य जाति में जन्म सिद्ध नहीं है वे किसी विद्या या वर्तमान एरोप्लेन आदि से आकाश में गमन करते हैं । इन्हें सहायक पदार्थों की आवश्यक्ता रहती है। दूसरा दृष्टान्त यह है कि जैसे -किसी एक मनुष्य को काव्यादि शक्ति स्वयम् प्रकट होती है इत्यादि । और कई जनों को उसके लिये प्रयत्न करना पडता है।

तिर्यंच और मनुष्यों में अवधिज्ञान छ प्रकार का होता है। (१) अनुगामी, (२) अननुगामी, (३) वर्धमान, (४) हीयमान, (५) अवस्थित, (६) अनवस्थित।

(१) अनुगामिक-अवधिज्ञान के प्राप्त स्थान से पुन अन्य स्थान गमन करने पर भी उसका ज्ञान च्युत न हो । अर्थात् गमन करने पर भी उसके साथ रहे उसको अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं। जैसे सूर्य का प्रकाश।

(२) अननुगामिक-जिसका ज्ञान प्राप्त स्थान से अन्य स्थान गमन करने पर च्युत होजाय उसको अननुगामिक

अवधि ज्ञान कहते हैं। जैसे:--किसी पुरुष का नैमितिकज्ञान ऐसा होता है कि वह अपने स्थान पर बैठा हुआ प्रश्न का उत्तर दे सकता है पर अन्य स्थान में ठीक उत्तर नहीं दे सकता।

(३) वर्धमान--जो अवधिज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् परिणामों की विशुद्धता से प्रतिसमय वर्द्धित होता रहे उसे वर्द्धमान अवधिज्ञान कहते हैं। जैसे--अग्नि का कण घास को पाकर वृद्धि को प्राप्त होता है।

(४) हीयमान--जो अवधिज्ञान असंख्याता द्वीप, समुद्र और ऊर्द्ध, अधोलोक विषयी होके पुनः परिणामों की मंदता से ह्रास को प्राप्त होता है उसे हीयमान अवधिज्ञान कहते हैं। जैसे वर्षा के बन्द होने से नदी का प्रवाह।

(५) अवस्थित--जो ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात केवल ज्ञान पर्यन्त च्युत न हो अथवा आजन्म पर्यन्त नहीं गिरता है या जन्मान्तर में चिह्न के समान साथ रहे उसको अवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं।

(६) अनवस्थित--जो ज्ञान जल तरंग के समान कभी वृद्धि न्यून भाव को प्राप्त होता हो और कभी नाश को प्राप्त हो उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं।

तीर्थंकरों को या अन्य पुरुषों को जन्मसिद्ध अवधिज्ञान प्राप्त होता है वह भी गुणप्रत्ययी समझना चाहिये। परन्तु योग्य गुण न रहने पर वह देवताओं के समान आजन्म (उम्रभर) नहीं रहता ॥ २१--२२ ॥

मनःपर्याय ज्ञान के भेद।

ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः ॥ २४ ॥

विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २५ ॥

अर्थ–मन पर्यायज्ञान के ऋजुमती, विपुलमती ऐसे दो भेद होते हैं ॥ २४ ॥

इन दोनों में विशेषता यह है कि एक दूसरे से विशुद्ध और पतनाभाव है।

विवेचन–जिसके मन हो उसको सज्ञी कहते हैं। वे किसी भी कार्य या वस्तु का मन से चिन्त्यवन करते हैं उस समय चिन्त नीय वस्तु के भेदानुसार चिन्तवन कार्य में प्रवृत्तमान हुआ मन भी भिन्न २ आकृतिवाला होता है। वे आकृतियाँ मन की पर्याय हैं। उन पर्यायों को साक्षात् जाननेवाले का ज्ञान मन पर्यायज्ञान कहलाता है। उस ज्ञान के बल से मन चिन्तित आकृतियों को जान लेता है परन्तु चिन्तनीय वस्तु को नहीं जानता।

प्रश्न क्या चिन्तनीय वस्तु को मन पर्यायज्ञानी नहीं जान सकता ?

उत्तर-पीछे से अनुमान द्वारा जान सकता है।

प्रश्न किस तरह ?

उत्तर-जैसे तीक्ष्ण बुद्धिवाला मनुष्य किसी के चेहरे को या हाव भाव को देखकर उसकी मनोगत बातों को जान लेता है अर्थात् अनुमान कर लेता है इसी तरह मन पर्यायज्ञानी मन की आकृतियों को प्रत्यक्ष देखता है। तत् पश्चात् अभ्यास की प्रबलता से अनुमान करता है कि इसने अमुक वस्तु का चिन्तवन किया। क्योंकि चेहरा उस समय चिन्तित वस्तु की आकृतियुक्त जरूर होता है।

प्रश्न-ऋजुमती और विपुलमती में क्या विशेषता है ?

उत्तर-सामान्यरूप से विषय जाने वह ऋजुमती मनः पर्याय और विशेषरूप से जाने उसको विपुलमती मन पर्यायज्ञान कहते हैं।

प्रश्न- सामान्यग्राही दर्शन है इसलिये ऋजुमती को दर्शन न मान कर ज्ञान कहते हो इसका क्या कारण है ?

उत्तर-विपुलमती के समान विशुद्ध (विशेषता को) नहीं जानता इस अपेक्षा से ऋजुमती को सामान्यग्राही कहा है। परन्तु उस सामान्य का तात्पर्य दर्शन नहीं है किन्तु विशेषता समझना चाहिये।

ऋजुमती की अपेक्षा विपुलमती का ज्ञान विशुद्धतर होता है। वह सूक्ष्मता से स्पष्टरूप जानता है। इसके सिवाय इन दोनों में यह भी विशेषता है कि ऋजुमती ज्ञान उत्पन्न होकर विनाशभाव को भी प्राप्त होता है परन्तु विपुलमती केवलज्ञान पर्यन्त रहता है॥ २४--२५ ॥

अवधिज्ञान से मनःपर्यायज्ञान की विशेषता ।

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः ॥ २६ ॥

अर्थ--विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय-अवधिज्ञान से मनः पर्यायज्ञान विशेष है ॥ २६ ॥

विवेचन--अवधि और मन पर्याय दोनों ज्ञान प्रमाणपने अपूर्णरूप से समान हैं तथापि विशेषता रूप से भिन्न हैं। जैसेः— विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत स्वामीकृत और विषयकृत भेद हैं।

(१) अवधिज्ञान से मनःपर्यायज्ञान अपने विषय को बहुत स्पष्टता से जानता है इसलिये वह विशुद्धतर है।

(२) क्षेत्र से अवधिज्ञान अंगुल के असंख्यातवें भाग से यावत् सम्पूर्ण लोक प्रमाण देखता है और मनःपर्यायज्ञान का क्षेत्र मनुष्योत्तर-पर्वत पर्यन्त है इससे परे नहीं होता और न इस से परे रहे हुए जीवों के मनोगत भावों को जानता है।

(३) अवधिज्ञान के स्वामी चारगति के जीव हैं अर्थात् चारों गति के जीवों को अवधिज्ञान प्राप्त हो सकता है परन्तु मनःपर्याय ज्ञान मनुष्य में केवल संयत (साधु) को होता है दूसरों को नहीं होता।

(४) अवधिज्ञान सब रूपी द्रव्यों के कतिपय पर्यायों को जानता है और मनःपर्यायज्ञान का विषय उसके अनन्तवें भाग (सूत्र २६) मात्र मनोद्रव्य ही है।

उत्तर-न्यून विषयी होने पर भी मनःपर्याय ज्ञान को अवधिज्ञान से विशुद्धतर माना इसका क्या कारण?

उत्तर-यह कारण विषय की न्यूनाधिकता पर नहीं है किन्तु विषयगत सूक्ष्मता के जानने पर है। जैसे एक मनुष्य अनेक शास्त्रों को पढ़ता है और दूसरा एक ही शास्त्र पढ़ा है परन्तु वह एक शास्त्र का पाठी यदि अपने विषय को सूक्ष्मता के साथ विस्तृत रूप से प्रतिपादन करता है तो उस अनेक शास्त्रों के पढ़नेवाले से एक शास्त्र के पढ़नेवाले का ज्ञान विशुद्ध कहलायगा। इसी तरह अल्पविषयी होने पर भी जो सूक्ष्म भावों को जानता है इसलिये विशुद्धतर कहा है॥ २६॥

मन पर्यायज्ञान के पश्चात् क्रम प्राप्त केवलज्ञान का वर्णन करना चाहिये परन्तु इसका विशेषरूप से वर्णन दशवें अध्याय में किया है ।

पांचों ज्ञानों का ग्राह्य विषय ।

मतिश्रतयोनिर्बन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २७ ॥

रूपिष्ववधेः ॥ २८ ॥

तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ॥ २९ ॥

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ ३० ॥

अर्थ—सम्पूर्ण द्रव्यों में और कतिपय पर्यायों में मति श्रुत ज्ञान की ज्ञायकता है ॥ २७ ॥

अवधिज्ञान की प्रवृत्ति सर्व पर्याय रहित केवल रूपी द्रव्य में है ॥ २८ ॥

मनःपर्यायज्ञान की प्रवृत्ति उससे अनन्तवें भाग सर्व पर्याय रहित केवल रूपीद्रव्य में होती है ॥ २९ ॥

सम्पूर्ण द्रव्य और सम्पूर्ण पर्यायों को जानना और देखना केवलज्ञान का विषय है ॥ ३० ॥

विवेचन—मति, श्रुतज्ञान रूपी अरूपी सब द्रव्यों को जानता है परन्तु उनके सब पर्यायों को नहीं जानता कतिपय पर्यायों का ज्ञायक है ।

प्रश्न-उपरोक्त कथन से मति, श्रुतज्ञान के ग्राह्य विषय में न्यूनाधिकता नहीं हो सकती । क्या यह ठीक है ?

उत्तर-द्रव्यरूप ग्राह्य की अपेक्षा से परस्पर तुल्य है परन्तु पर्यायरूप ग्राह्य की अपेक्षा से अवश्य न्यूनाधिक होते हैं परन्तु उनमें सामान्यता यह है कि ये दोनों ज्ञान द्रव्य के परिमित पर्याय विषयी हैं किन्तु द्रव्य के सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जानते। मतिज्ञान वर्तमान विषयग्राही होने से इन्द्रियों की शक्ति और आत्मा की योग्यता के अनुसार कितने ही वर्तमान पर्यायों को ग्रहण कर सकता है और श्रुतज्ञान त्रिकाल विषयग्राही है वह अपने ग्रहण योग्य त्रिकाल विषयी कितने ही पर्यायों को जानता है।

प्रश्न-मतिज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों से प्राप्त होता है और इन्द्रियों में केवल मूर्त्तिमान द्रव्य को ग्रहण करने की सामर्थ्य है तो रूपी अरूपी सब द्रव्य मतिज्ञान से कैसे ग्राह्य हो सकते हैं?

उत्तर-मतिज्ञान इन्द्रियों के समान मन से भी होता है और मन स्वयम् अथवा शास्त्र से श्रवण किये हुए मूर्ति अमूर्ति सब द्रव्यों का चिन्तवन करता है। इसलिये सब द्रव्य मतिज्ञान ग्राही मानने में कोई दोष उत्पन्न नहीं होता।

प्रश्न-स्वमेव अनुभव तथा शास्त्रश्रवण विषयों में मन द्वारा मतिज्ञान प्राप्त होता है वैसे ही श्रुत ज्ञान भी प्राप्त होता है इसलिये इन में परस्पर क्या विशेषता?

उत्तर-मानसिक चिन्तवन शब्दोल्लेख होने पर वह श्रुत ज्ञान कहलाता है। और शब्दोल्लेख रहित केवल चिन्तवन विषयक ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान—जो द्रव्य (पदार्थ) रूप वाले हैं वे अवधि ज्ञान विषयक हैं। उन रूपीद्रव्य के सम्पूर्ण पर्यायों को अवधिज्ञान

नहीं देख सकता । कतिपय पर्यायों को देखता है । " उत्कृष्ट परमावधि में लोकमान अलोक में भी असंख्याते खंड देखने का सामर्थ्य है तथापि अरूपीद्रव्य नहीं देख सकता ।

मनःपर्यायज्ञान—यह भी मूर्त्त द्रव्य को साक्षात् देखता है परन्तु अवधिज्ञान जितना विषयी नहीं है । अवधिज्ञान द्वारा सब प्रकार के रूपी ग्रहण किये जाते हैं परन्तु मनःपर्यायज्ञान द्वारा केवल मनोवर्गनापने परिणमन हुए पुद्गल -वे भी मनुष्योत्तर क्षेत्र के अन्तरगत रहे हुए हों तो ग्राह्य हो सकते हैं । इसलिये अवधिज्ञान से मन पर्यायज्ञान का विषय अनन्तवें भाग कहा है । मनःपर्यायज्ञान कितना ही विशुद्ध हो तथापि अपने ग्राह्यद्रव्य के सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं देख सकता । उसके द्वारा केवल चिन्तवन शील मूर्त्तिमान मनोद्रव्य का ही साक्षात्कार होता है । पुनः अनुमान से तदनुयायी चिन्तित मूर्त्त अमूर्त्त द्रव्य को भी जानता है ।

केवलज्ञान—समस्त द्रव्य तथा उनके सम्पूर्ण पर्यायों का ज्ञायक है । मति आदि चारों ज्ञान अत्यन्त शुद्ध से विशुद्ध होने पर भी वस्तु के समग्र भावों को नहीं जान सकते । वस्तु के स्थूल और सूक्ष्म जितने पर्याय हैं उन सब का सम्पूर्ण रूप से एक केवलज्ञान ही प्रकाशक है इसको परिपूर्णज्ञान कहते हैं, चेतनाशक्ति के सम्पूर्ण विकास होने से प्रकट होता है. वस्तु के मूर्त्त, अमूर्त्त समस्त, भावों को प्रत्यक्षरूप से जानने वाला है. केवलज्ञान लोकालोक विषयी अनन्तपर्यायी है और प्रत्येक द्रव्य के अनन्त पर्यायों को सम्पूर्ण रूप से एक समय मात्र में जान लेता है । पूर्णभावी होने के कारण अपूर्णताजन्य भेद प्रभेदादि नहीं होते ॥ २७-३० ॥

एक समय एक जीव में कितने ज्ञान होते हैं ?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥ ३१ ॥

अर्थ—एकात्मा में एक समय एक साथ एक ज्ञान से यावत् चार ज्ञान अनियत रूप से होते हैं ॥ ३१ ॥

विवचन—पूर्वोक्त मत्यादि पाच ज्ञानों में से एक आत्मा में एक समय युगपत एक, दो तीन या चार ज्ञान होते हैं । पाचों ज्ञान एक साथ नहीं होते । एक ज्ञान वाले को केवलज्ञान, दो वाले को मति श्रुत तीन वाले को मति, श्रुत-अवधि, और चार वाले को मति, श्रुत, अवधि और मन पर्याय ज्ञान होते हैं । परिपूर्ण अवस्था में अन्य अपूर्ण ज्ञान नहीं होते इसलिये एक केवलज्ञान ही कहा है । उक्त पाच ज्ञानों में मति, श्रुत दोनों ज्ञान नियमा सहचारी हैं । शेष तीन ज्ञानों में सहचारिता नहीं है और चारों ज्ञान जो अपूर्ण भावी हैं उनमें मति और श्रुतिज्ञान प्रत्येक जीव को अवश्य होता है । अवधि, मन पर्यायज्ञान किसी को होता है और किसी को नहीं भी होता । जिसको होता है उसके साथ मति, श्रुत अवश्य रहता है । बिना मति-श्रुतज्ञान के अकेला अवधि, मन-पर्याय ज्ञान नहीं होता । केवलज्ञान पूर्ण भावी होने से किसी ज्ञान के साथ सहचारिता नहीं है । कारण अपूर्णता के साथ इसका विरोधी भाव है ।

दो, तीन या चार ज्ञान की सभवता एक साथ है वह शक्ति की अपेक्षा से है किन्तु प्रवृत्ति की अपेक्षा से नहीं है ।

प्रश्न-शक्ति और प्रवृत्ति का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जो जीव पूर्वोक्त दो, तीन या चार ज्ञान वाला है वह जिस समय मतिज्ञान द्वारा किसी एक वस्तु को जानने के लिये प्रवृत्तमान होता है। उस समय शेष ज्ञान के आविर्भाव होते हुए भी उसकी उपयोगिता नहीं होती। जीवको चारों ज्ञान की शक्ति एक समय होती है परन्तु उपयोग अर्थात् प्रवृत्ति रूप से चारों ज्ञान नहीं होते। एक समय एक ज्ञान का ही उपयोग होता है। दो, तीन ज्ञान का एक समय एक साथ उपयोग नहीं हो सकता। श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति में मति या अवधिज्ञान की शक्ति प्राप्त होते हुए भी उसकी उपयोगिता शक्ति प्रकट नहीं होती। तात्पर्य यह है कि एक समय एक ज्ञान का ही उपयोग होता है। दूसरे ज्ञान निष्क्रिय रहते हैं।

केवलज्ञान के समय मति आदि चारों ज्ञान नहीं होते यह सिद्धान्त सामान्य होते हुए भी इसकी व्युत्पत्ती दो प्रकार से की जाती है।

(१) कितने आचार्यों का मन्तव्य है कि केवलज्ञान के समय भी मत्यादि चारों ज्ञान की शक्ति आत्मा में रहती है परन्तु जैसे–सूर्य के प्रकाश होने पर चन्द्र ग्रहादि का प्रकाश उसमें लुप्त होजाता है वैसे ही मत्यादि चारों ज्ञान केवलज्ञान के प्रकट होतेही निष्क्रिय हो जाते हैं केवलज्ञान के सद्भाव में उनका अभाव नहीं मानते किन्तु अतीन्द्रियजन्य आत्मज्ञान प्रकट होने से इन्द्रिय उपलब्ध मत्यादि ज्ञान की आवश्यक्ता नहीं रहती। अवधि, मनःपर्यायज्ञान केवल रूपी द्रव्य विषयी है और मति, श्रुतिज्ञान के सद्भाव में उनकी उपलब्धता और सहचारिता है केवलज्ञान के समय अन्य ज्ञान शक्तियों की प्रवृत्ति है परन्तु भिन्न रूप प्रकाशित नहीं होती।

(२) दूसरे आचार्यों का कथन है कि मत्यादि चारों ज्ञान की शक्ति आत्मा में स्वाभाविक नहीं है किंतु कर्मोपाधि सापेक्ष क्षयोपशम जन्य है और केवलज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा अभाव अर्थात् क्षय होने से प्रकट होता है । उस समय उपाधिसापेक्ष ज्ञान शक्तियों का होना असंभव है इसलिये केवल-ज्ञान के समय केवल शक्ति के सिवाय अन्य मत्यादि ज्ञान शक्तियां नहीं होतीं और न इनका पर्यायरूप कार्य ही होता है ।

कई यह भी कहते हैं कि ज्ञानावरणीय कर्म के अविभाग पर्याय सब सरीखे हैं और उन अविभाग पर्यायों में वरणादि जानने की शक्तियां अनेक प्रकार की हैं । उन शक्तियों के आविर्भाव की तारतम्यता से मत्यादि भिन्न भिन्न नाम रक्खे गये हैं और आवरण का सर्वथा अभाव अर्थात् क्षय होने से केवल ज्ञान रहता है ॥ ३१ ॥

अज्ञान का निर्धारण और निमित्त ।

मति श्रुताऽवधयो विपर्ययश्च ॥ ३२ ॥

सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३३ ॥

अर्थ—मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञान अज्ञानरूप भी होते हैं ॥ ३२ ॥

"सत्-असत्" वास्तविक अवास्तविक की विशेषता को बिना जाने "यदृच्छा उपलब्धि" उन्मत्तता के समान स्वेच्छाचारी होने से ज्ञान भी अज्ञान रूप होता है ॥ ३३ ॥

विवेचन—मत्यादि पांचों ज्ञान चेतनाशक्ति के पर्याय हैं । वे अपने अपने विषय को यथार्थ रूप से प्रकाशित करते हैं इस-

लिये ज्ञान कहलाते हैं परन्तु इन में पूर्व के तीन मति, श्रुति और अवधि अज्ञान रूप भी होतेहैं।

प्रश्न—मति, श्रुत और अवधि तीनों ज्ञान स्वविषय के बोधक हैं तो वे अज्ञान रूप कैसे हो सकते हैं? क्योंकि ज्ञान और अज्ञान ये दोनों शब्द परस्पर विरोधी हैं-जैसे-छाया और ताप, शीत और उष्ण अथवा अंधेरा और प्रकाश। अर्थात् विरोधी भाव एक स्थान में नहीं रह सकता।

उत्तर—अलौकिक दृष्टि से तीनों पर्याय ज्ञान रूप ही हैं। परन्तु यहां इनको ज्ञान, अज्ञान दो रूप से कहा यह संकेत केवल आध्यात्मिक शास्त्र का है। सम्यक् दृष्टि की अपेक्षा उक्त तीनों पर्याय ज्ञानरूप से माने गये हैं और मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से इन्हीं पर्यायों को मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान कहा है।

प्रश्न—क्या सम्यक् दृष्टि आत्मा के सब व्यवहार केवल प्रमाणभूत ही होते हैं और मिथ्यादृष्टि का सब व्यवहार केवल अप्रमाण भूत है? यह बात असंभवित है। अर्थात् सम्यक् दृष्टि को संशय, भ्रम तथा मिथ्याज्ञान बिलकुल नहीं होता और मिथ्यादृष्टि को हमेशा होता है, यह कहना अयथार्थ (भ्रमात्मक) है। यह कोई नहीं कह सकता कि सम्यक् दृष्टि की इन्द्रियसाधना सम्पूर्ण और निर्दोष ही होती है और मिथ्यादृष्टि की अपूर्ण और सदोष ही होती है। मिथ्यादृष्टि भी पीले रंग को पीला, काले रंग को काला शीत को शीत और उष्ण को उष्ण, इसी तरह शेष इन्द्रियों के विषय को भी सम्यक्त्वी के समान देखता है और कहता है तो आपगृहीत सम्यक्त्व और अन्यगृहीत मिथ्यात्व यह कहना असंगत है और विज्ञान तथा साहित्यादि विषय को प्रकाशन करने वाले सम्यक्दृष्टि ही हों ऐसा भी नहीं कहते अतः इसका यथार्थ तात्पर्य क्या है?

अ० १ सू० ३२।

उत्तर आध्यात्मिक शास्त्रका आधार केवल आध्यात्मिक दृष्टि पर है। लौकिक दृष्टि पर उसका ध्येय नहीं रहता। जीव दो प्रकार के होते हैं। (१) मोक्षाभिमुखी (२) संसाराभिमुखी। मोक्षाभिमुखी आत्माओं में समभाव की मात्रा और आत्मविवेक विशेषता रूप से होता है इसलिये ये अपने ज्ञान का उपयोग केवल समभाव की पुष्टि में करते हैं किन्तु सांसारिक वासना की तरफ उनका लक्ष्य नहीं दौड़ता इस हेतु से वह कितना ही अल्प विषयी ज्ञान वाला क्यों न हो तथापि उसका ज्ञान ज्ञानही कहलायगा। इससे विपरीत जो सांसारिक वासनाओं में आसक्त आत्मा अभिमुखी जीवों का कितनाही विशाल और स्पष्ट ज्ञान क्यों न हो पुनरपि वह अज्ञान ही कहलायगा क्योंकि वह संसारवृद्धि का हेतु है। जैसे -कोई उन्मत्त पुरुष लोहे को लोहा और सोने को सोना समझता है और कहता है तथापि उन्मत्तता के कारण बुद्धि नष्ट होने से हिताहित का गवेषी नहीं हो सकता। सत्यासत्य को यथार्थ रूप से नहीं जानता इसलिये यथार्थ ज्ञान भी विचार शून्य होने से अज्ञान ही कहलाता है। संसाराभिमुखी आत्मा को कितनाही अधिक से अधिक ज्ञान क्यों न हो परन्तु आत्मिक ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण वह लौकिकज्ञान आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञान ही कहलायगा। जसे -मतिअध पुरुष को अधिक विभूति या वस्तु का यथार्थ बोध भी हो जाय तथापि वह उसकी उन्माद-ताका परिवत न हो वे वृद्धि का हेतु होता है। वैसे ही मिथ्यादृष्टि आत्मा रागद्वेष की तीव्रता और आध्यात्मिक ज्ञान की अनभिज्ञता के कारण अपने विशाल ज्ञान राशिका उपयोग केवल संसार पुष्टि ही के लिये करता है इसलिये उसके ज्ञान को अज्ञान कहा है और यही रागद्वेष की तीव्रता को मन्द करता हुआ आत्मतृप्ति

उपार्जन करने का हेतु होता हो तो उस ज्ञान को ज्ञान ही कहेंगे। इसी का नाम आध्यात्मिक दृष्टि है॥ ३२—३३॥

नय के भेद।

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः॥ ३४॥

आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ॥ ३५॥

अर्थ—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ये पांच नय हैं॥ ३४॥

नैगम और शब्द नय के यथाक्रम दो तीन भेद हैं॥ ३५॥

विवेचन—नय भेदों की संख्या के लिये एक परम्परा नहीं है सामान्य रूप से बाहुल्यता सात भेदों के प्रतिपादन की है यथा-नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द समभिरूढ़, एवंभूत यह अम्नाय श्वेताम्बरीय; दिगम्बरीय ग्रन्थों में प्रख्यात रूप से प्रचलित है परन्तु कहीं कहीं छ, पांच, चार, दो आदि भेदों की व्याख्या भी मिलती है। सिद्धसेनदिवाकर की प्ररूपना नैगम नय को छोड़ के शेष छ नयों की है और प्रस्तुत ग्रन्थकार पांच नय प्रतिपादन करते हैं तथा विशेषावश्य भाष्य गाथा २२६४-६७ में सात, छ, पांच, चार और दो भेदों का उल्लेख मिलता है और प्रत्येक नय के सौ सौ भेद भी कहे हैं। इसका वर्णन स्याद्वाद रत्नाकर, रत्नाकरावतारीटीका और नयप्रदीपादि ग्रन्थों में सविस्तार लिखा है।

नय स्वरूप।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु के (नित्य या अनित्य) किसी एक अंश को ग्रहणकर प्रकाशित किया जाय उसको नय कहते है।

अथवा-एक वस्तु या अनेक वस्तु विषय एक या अनेक मनुष्यों के विचार नाना प्रकार के होते हैं और वे वास्तविक रूप से अपरिमित हैं। उनके प्रत्येक विचारों को ग्रहण करके वस्तु का अवबोध करना कठिन है। इसलिये अति सूक्ष्म और अति स्थूल को छोड के मध्यम श्रेणी से प्रतिपादन करना ही नयवाद अर्थात नयस्वरूप है।

नय निरूपण अथवा विचारों का वर्गीकरण और नयवाद अर्थात् विचारों की मीमांसा इसमें केवल विचारों के कारण या उनके परिणामों की तथा उनके विषयों की ही चरचा नहीं है किन्तु वस्तु के पारस्परिक दिखते हुए विरोधी भावों का वास्तविक रीति से अविरोधपने की गवेषणा करनी यही मुख्य हेतु है इसलिये नयवाद का तात्पर्य अर्थ यह है कि विरोधी भावों के विचारों का अविरोधपने समन्वय कराना। जैसे—शास्त्रों में किसी जगह आत्मा एक और किसी जगह आत्मा अनेक यह विरोधी भाव दिखाई देता है ऐसी अवस्था में उस विरोधी भावों के कारण शास्त्र असंगत होता है। इसलिये नयवाद से उसका समन्वय करा दिया कि व्यक्तिगत दृष्टि से आत्मतत्व अनेक हैं परन्तु वे शुद्धचेतना दृष्टि से सब सदृश हैं इसलिये एक हैं। इसी तरह आत्मा नित्य और अनित्य भी है, कर्ता और अकर्ता भी है इत्यादि विरोधी भावों का एकीकरण अर्थात् अविरोधपने एकता दृष्टि से घटाना इसको नयवाद कहते हैं यही इसका मुख्य तात्पर्य है इस नयवाद को अपेक्षावाद भी कहते हैं।

ज्ञान से नयवाद की पृथक् देशना का कारण।

प्रश्न—पूर्वकथित (सूत्र २०) ज्ञान निरूपण में श्रुत की चरचा आजाती है। श्रुत यह विचारात्मक ज्ञान है और नय भी

विचारात्मक ज्ञान है। इसलिये नय श्रुत में समाजाता है। वास्ते पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि श्रुत निरूपण के पश्चात् नय पृथक् देशना देने का क्या कारण? अगर नयवाद से जैन तत्वज्ञान की एक विशेषता मानी जाती है ऐसा कहोगे तो नयवाद है वह श्रुत है और श्रुत है वह आगम प्रमाण है। इस तरह जैनेतर दर्शन वाले भी प्रमाण चरचा में आगम प्रमाण का निरूपण करते हैं। दूसरा प्रश्न यह है कि जब इतर दर्शनों में आगम प्रमाण को स्थान मिला है तब आगम प्रमाण में समावेश होने वाले नयवाद की केवल पृथक् प्ररूपणा करने से ही जैन तत्वज्ञान की विशेषता क्यों मानी जाय? और जैन दर्शनों ने श्रुत प्रमाण के उपरान्त नयवाद को स्वतंत्र रूप से पृथक् कहा इसका क्या उद्देश?

उत्तर—नय और श्रुत दोनों विचारात्मक है तथापि परस्पर भिन्नता है। जो विषय को सर्वांश स्पर्श करता हो या सर्वांश स्पर्श करने के प्रयत्न का विचारक हो उसको श्रुत ज्ञान कहते हैं और उसका मात्र एक अंश ग्राही नय है। इसलिये नय स्वतंत्र रूप से प्रमाण नहीं कह सकते तथापि अप्रमाण भी नहीं है। जैसे—अंगुली का पैरवा अंगुली नहीं कहलाता तथा वह अंगुली ही नहीं ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि वह अंगुली का अंश है। इसी तरह नय प्रमाण का अंश है।

विचार का उत्पत्तिक्रम और उससे होनेवाली प्रवृत्ति की दृष्टि से नय निरूपण श्रुत प्रमाण से पृथक होता है। किसी भी विषय का विचार अंश-अंश से उत्पन्न होता हुआ अनुक्रम से पूर्णता के परिणाम को प्राप्त होता है। जिस क्रम से विचार उत्पन्न होता है उसी क्रम से तत्वबोध का वर्णन होना चाहिये और

पमा होने से स्वयम नय निरूपण श्रुत प्रमाण से पृथक हो जायगा चाहे जितना पूर्ण ज्ञान हो परन्तु उसका उपयोग व्यवहार प्रवृत्ति में क्रमश होगा इसी से सम्पूर्ण विचारात्मक श्रुत की अपेक्षा अंश विचारात्मकनय निरूपण पृथक् होना चाहिये।

जैनेतर दर्शनों में भी आगम प्रमाण की चरचा है और उसी आगम प्रमाण म समावेश होने वाले नयवाद की जूदी प्रतिष्ठा जैन दर्शन वालों ने की है उसका हेतु यह है कि मनुष्य की ज्ञानवृत्ति समान रूप से अधूरी होती है और तत् विषयी इच्छा प्रवृत्ति विशेष होने से वह पूर्णता की प्राप्ति के लिये दौड़ा दौड़ म प्रेरित हुआ दूसरे सद्विचारों को न मानकर अपने अंशातमय ज्ञान को परिपूर्ण रूप से मान बैठता है। इसको नयाभाष अर्थात् दुनय कहते हैं। इसी दुनय के कारण वस्तु विषयी जूदे जूदे विचार होने से परस्पर वाद विवाद उत्पन्न होते हैं वास्तविक सत्य ज्ञान का द्वार बन्द होजाता है।

उत्तर—किसी जगह किसी समय और किसी अवस्था में रहा हुआ मनुष्य यदि समुद्र की तरफ बिना विशेषता के अथात् उसके रग, स्वाद, गहराई, छिछलापन या सीमा आदि के तरफ ध्यान न देता हुआ केवल पानी के तरफ ही सामान्य दृष्टि से नजर दौड़ाता है उसको द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। यह वस्तु को सामान्य दृष्टि से देखता है और जो उसके रग स्वाद, गहराई सीमा आदि विशेषाथ ग्राही दृष्टि से कथन, चिन्तवन, अवलोक नादि का विचारक हो उसको पर्यायार्थिक नय कहते हैं। इसी तरह अन्य भौतिक वस्तुओं में भी समझ लेना चाहिये ससार में कोई भी एमी वस्तु नहीं है कि जो सामान्य, विशेष स्वभाववर्ती न हो।

सामान्य लक्षण—किसी भी विषय को सापेक्षता से निरूपण करना अथवा विचार करना उसे नय कहते हैं। नय के संक्षेप से दो भेद हैं। (१) द्रव्यार्थिक (२) पर्यायार्थिक। संसार में छोटी बड़ी सभी वस्तुओं में समानता या असमानता दो धर्म रहे हुए हैं। केवल एक समानता या असमानता रूप अनुभव नहीं होती इसीलिये वस्तु उभयात्मक कहलाती है। मानव बुद्धि किसी समय सामान्य अंश की तरफ प्रवाहित होती है और किसी समय विशेष अंश की तरफ प्रवाहित होती है। इसी सामान्य विचार को द्रव्यार्थिक नय और विशेष विचार को पर्यायार्थिक नय कहते हैं वह सामान्य, विशेष विचारात्मक दृष्टि एक सदृश नहीं होती इसलिये इनके उत्तर भेद सात हैं। द्रव्यार्थिक के तीन और पर्यायार्थिक के चार यह दृष्टि विभाग गौण, प्रधान भाव की अपेक्षा से समझने चाहिये।

प्रश्न—पूर्वोक्त नय सरल दृष्टान्त पूर्वक समझाइये ?

किसी एक दर्शनवाले अपने माने हुए आत्मादि विषय के एक देशीय विचारों को सम्पूर्ण रूप से मानते हैं तब दूसरे दर्शन वाले उसके विरोधी पक्ष को ग्रहण करके उसे अप्रमाणित मानकर उसकी अवगणना करते हैं। इसी तरह पहला दूसरे की दूसरा तीसरे की इत्यादि परस्पर अवहेलना करते हुए समता की जगह विषमता उत्पन्न करते हैं। इसी विवाद को दूर करने के लिये नयवाद की प्रतिष्टा की है। इसके द्वारा यह सूचित होता है कि प्रत्येक विचार यदि सापेक्ष हो तो वे आगम प्रमाण कहला सकते हैं अर्थात् सब देशीय विचार इस कोटि में प्रमाण भूत होते हैं। ऐसा नयवाद द्वारा सूचित करना यह जैन दर्शन की ही विशेषता है।

नयके विशेष भेदोंकास्वरूप।

पूर्वोक्त द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नय को विचार श्रेणी में विभाजित करने से अनेक भेद होते हैं यथा विशेषावश्यक भाष्य जावन्तो वयणपहा तावन्तो वा नयं विसद्दाओ। (गाथा २२६४)

उन सब का अवबोध सामान्य दृष्टि वालों के लिये अग्राह्य है इसलिये सुख से अवबोध कराने के हेतु द्रव्यार्थिक नय के तीन और पर्यायार्थिक नय के चार भेद किये हैं।

(१) नैगम नय जो विचार लौकिक रूढ़ी से या लौकिक सस्कार के अनुसरण से उत्पन्न होते हैं उसे नैगम नय कहते हैं।

(२) सग्रह नय—एक वचन, एक अध्यवसाय या एक उपयोग से एक साथ ग्रहण या अवबोध किया जाय अथवा जो वाक्य समुदाय अर्थ को ग्रहण करे उसको सग्रह नय कहते हैं।

(३) व्यवहार नय—सग्रह नय से ग्रहित वस्तु अर्थात् सामान्य विचारात्मक वस्तु को व्यावहारिक प्रयोजनानुसार विभाजित करना ही व्यवहार नय है और उक्त तीनों नय द्रव्यार्थिक कहलाती है।

दृष्टान्त—देशकाल और लोक स्वभाव की विविधता से लोक रूढ़ी और तत् जन्य सस्कार भी अनेक प्रकार के होते हैं। इसलिये उससे उत्पन्न होने वाली नैगम नय के भी अनेक भेद हो सकते हैं और इसके दृष्टान्त भी शास्त्रों में अनेक प्रकार के मिलते हैं और यथा मति कल्पना करके भी कह सकते हैं। जैसे जगल में जाते हुए किसी मनुष्य से किसी ने पूछा तुम कहा जाते हो उत्तर में वह कहता है मै कुल्हाडे का बेट (लकड़ी) या धान मापने की पायली विशेष लाने के लिये जाता हूँ इस प्रत्युत्तर से

पूछने वाले को समाधान होजाता है और वह समझलेता है कि यह लोक रूढ़ी के अनुसार मन के अभिप्रायिक शब्द हैं। वह अपने अभिप्राय के अनुसार काष्ट को लाकर वस्तु तैयार करेगा। अथवा-महावीर स्वामी के निरवाण काल को सैकड़ों वर्ष होगये तथापि आज दिवाली को महावीर स्वामी का निर्वाण हुवा ऐसा कहते हैं। यह भी लोक रूढ़ी है या दो सेनाओं का युद्ध देखकर कहते हैं कि चीन और हिन्दुस्थान का युद्ध हो रहा है, इत्यादि कहने सुनने वाले को लोक रूढ़ी के अनुसार उसको बोध हो जाता है और उससे उत्पन्न होने वाले विचार नैगमनय की श्रेणी में समावेश होते हैं।

संसार में जितने पदार्थ है उन सब में सत् लक्षण "उत्पाद व्यय ध्रुव युक्तंसत्" सामान्य रूप से रहा हुआ है उसी के तरफ दृष्टि रखता हुवा विशेष स्वभाव की ओर ध्यान न देकर सभी वस्तुः को एक रूप समझे वह संग्रह नय है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें सत् लक्षण न हो सद्रूपता लक्षण सभी वस्तुओं मे सामान्य रूप से रहा हुवा है इसलिये संग्रह नय में संसार की सभी वस्तुओं का समावेश होता है। जैसे:—वस्त्र अनेक प्रकार के होते हैं उनकी विशषता की तरफ दृष्टिपात न करके केवल सामान्य लक्षण को ग्रहण कर सब को वस्त्र (कपड़ा) कहना यह वाक्य संग्रह नयग्राही है। संग्रह नय की विशालता सामान्यता के अनुसार है और विविध वस्तुओं के सामान्य तत्वों का एकीकरण ही संग्रह नय है।

एक रूप से ग्रहण की हुई विविध वस्तुओं की विशेषता समझनी हो अथवा व्यवहार में उसका उपयोग करना हो उस समय पृथककरण करना पड़ता है उसे व्यवहार नय कहते हैं।

जैसे –खादी के खरीदने वाले को मात्र कपड़ा कहने से इच्छित वस्तु नहीं मिल सकती। कपड़ा कई प्रकार के होते हैं इसलिये विभाग करके उसे खादी कहना पड़ेगा और उसमें भी मील नबर आदि विशेषता प्रगट करना पड़ेगी इसी तरह सद्रूपता में सब पदार्थों का समावेश होता है परन्तु उसकी विशेषता प्रदर्शित करने पर सद्रूपता के दो भेद (१) जड़ (२) चेतन ये। उसके विशेषा विशेष भाव अनेक प्रकार के होते हैं उसका पृथक्करण ही व्यवहार नय है।

उपरोक्त दृष्टांत से नैगमनय लोकरूढ़ी के आधारवर्ती है और लोकरूढ़ी आरोप, अंश, विकल्प रूप सामान्य तत्त्वाश्रयी होने से नैगमनय के भी आरोप, अंश, विकल्प रूप तीन भेद होते हैं। संग्रह नय एकीकरण रूप व्यापार विषयी होने से सामान्य गामी है। और व्यवहार नय पृथक्करणोन्मुखी होने पर भी उसकी क्रिया केवल सामान्य पट पर चित्रित होने से वह सामान्य विषयी है इसलिये तीनों नय द्रव्यार्थिक हैं।

नैगमनय का विषयक्षेत्र सब से विस्तीर्ण है वह सामान्य और विशेष दोनों को लोकरूढ़ी के अनुसार कभी मुख्य और कभी गौण भाव से मानती है। संग्रह नय का विस्तार नैगमनय से न्यून है वह केवल सामान्य लक्षी है और व्यवहार नय का विषय संग्रह नय से न्यून है क्योंकि वह संग्रह गृहित वस्तु को पृथक्करण रूप केवल विशेषगामी है इस तरह उत्तरोत्तर संकुचित क्षेत्र होते हुवे भी पूर्वापर सम्बन्ध वाली है। नैगमनय सामान्य विशेष उभय संबोधक है और इसीसे संग्रह नय की उत्पत्ति है और संग्रह नय के तटपर ही व्यवहार नय आलेखित है।

पर्यायार्थिक नय के चार भेद ।

(१) ऋजुसूत्र नय—भूत, भविष्य काल के विचार को छोड़ के केवल वर्तमान समयग्राही हो उसको ऋजुसूत्र नय कहते हैं।

(२) शब्द नय—वाच्य अर्थग्राही अर्थात् घट शब्द के अर्थ का जिसमें संकेत हो उसको घट कहे वह शब्द नय ।

(३) समभिरूढ नय—शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर उस अर्थ भेद की कल्पना करे वह समभिरूढ़ नय है ।

(४) एवंभूत नय—जो शब्द फलितार्थ अर्थात् परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त हो उसे एवंभूतनय कहते हैं ।

भूत, भविष्य काल की विचार कल्पना का मनुष्य एकान्त परित्याग नहीं कर सकता तथापि किसी समय केवल वर्तमान ग्राही विचारों के तरफ प्रवाहित हो के उपस्थित वस्तु को ही वस्तु रूप मानता है क्योंकि भूत, भविष्य वस्तु कार्य साधन नहीं होती शून्यवत् है । वर्तमान समृद्धि सुख के लिये साधन भूत है। परन्तु भूत समृद्धि का स्मरण और भावी ऋद्धि की कल्पना वर्तमान में सुख का साधन नहीं है । इसी तरह वर्तमान में जो माता पिता की सेवा करे वह पुत्र है । परन्तु भूत, भविष्य पुत्र रूप नहीं है ऐसे वर्तमान कालिक विचारों को ऋजुसूत्र नय कहते हैं ।

जब विचार तर्क की लहर पर चढ़ता है तब उस में कई प्रकार की तरंगे उठती हैं वह उसकी गहराई में उतर कर सोचता है कि भूत, भविष्यत् काल को छोड़ के मात्र वर्तमान काल को ही ग्रहण [स्वीकार] करते हैं तो एक ही शब्द में काल, लिंग, संख्या, कारक, पुरुष, उपसर्गादि भिन्न भिन्न शब्दों के अर्थ से वस्तु सर्वथा भिन्न होजायगी और यदि मात्र एक वर्तमान काल स्थित वस्तु रूप है तो भूत, भविष्य कालिक शब्द से वस्तु सर्वथा भिन्नता रूप माननी पड़ेगी ? और शास्त्रों में ऐसा भी उल्लेख है कि राजगृह नाम का नगर था इस वाक्य का स्थूल अर्थ यह होता है कि वह नगर भूत

काल मे था वर्तमान काल में नहीं है परन्तु जब लेखक के समय भी राजगृह नगर वर्तमान है तो उस में भूत कालिक क्रिया 'था' लिखने की क्या जरूरत है। इस सवाल के जवाब में शब्द नय की आवश्यकता है। वह शब्द नय की अपेक्षा से कहेगा कि वर्तमान राजगृह की अवस्था से भूत कालिक राजगृह की अवस्था दूसरी ही है और प्रस्तुत वर्णन उसी राजगृह का है इसीलिये भूत कालिक 'था' का प्रयोग किया यह काल भेद से अर्थ भेद सूचित करना शब्द नय का काम है। इसी तरह हुआ, हुई, अथवा सस्थान प्रस्थान, उपस्थान, आराम, विराम इत्यादि एक धातु के अनेक शब्द बनते हैं तथापि उस में जो अर्थ भेद है वही शब्द नय की भूमिका है। उस विविध प्राकारिक शब्दों में अनेक धर्म रहे हैं जिन के अर्थ भेद की मान्यता अनेक प्रकार में प्रचलित है जो शब्द नय की श्रेणी में समावेश होती है।

शब्द भेद के आधार पर अर्थ भेद की कल्पना करने वाली बुद्धि जब आगे बढ के व्युत्पत्ति भेद करने के लिये प्रवृत्त मान होती है और यह विचार उत्पन्न होता है कि जो इन्द्र, सक्रेन्द्र पुरेन्द्र, गजेन्द्र आदि अनेक शब्द एकार्थी माने गये हैं परन्तु व्युत्पत्ति भेद से उनका अर्थ पृथक होता है।

प्रश्न—लिंग, सख्यादि से अर्थ भेद मानने वाली शब्द नय उनका अर्थ भेद क्यों नहीं कर देती?

उत्तर—राजा, भूपति, नृपति आदि अनेक शब्दों को एकार्थी मानना यह शब्दनय का विषय है और समभिरूढनय उन शब्दों की व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ बोधक है। जैसे -राज्य चिह्न से सुशोभित हो वह राजा, पृथ्वी का पालन करे वह भूपति मनुष्यों का पालन करे वह नृपति इस तरह व्युत्पत्ति से अर्थ भेद करना समभिरूढ नय का काम है। यह नय पर्याय भेद से अर्थ

भेद सूचक है।

परिवर्द्धित हुई विचार श्रेणी विशुद्ध बुद्धि की कसौटी पर चढ़ती है तब उसका वास्तविक रूप झलक उठता है वह केवल व्युत्पत्ति भेद को ही नहीं किन्तु वस्तु की यथार्थता याने एवं भूत नय परिपूर्ण वस्तु को ही वस्तु स्वरूप मानना है अर्थात् समभिरूढ़ नय का माना हुवा व्युत्पत्ति भेद इसको अमान्य है। जब तक व्युत्पत्ति भेद पूर्णरूप अर्थ सिद्ध न हो किन्तु एक पर्याय भी न्यून हो तो उसको ग्रहण नहीं करता वह केवल वस्तु की परिपूर्ण अवस्था को ही स्वीकार करता है उसे एवंभूतनय कहते हैं। जैसे:—राजचिह्न से सुशोभित सिंहासन पर बैठा हुवा न्याय करता हो उस समय वह राजा कहलायगा और जिस समय वास्तविक रूप से पृथ्वी की पालना करने में तत्पर हो उस समय वह भूपति कहलायगा इसी तरह उपयोग सहित चित्रकारी के काम में तत्पर हो वही चित्रकार है। परन्तु वही व्यक्ति यदि सोता हो, खाता हो या अन्य किसी काम में लगा हो उस समय उसे चित्रकार नहीं कहता क्योंकि उस समय शब्द प्रयोग की वास्तविकता दिखाई नहीं देती। जो शब्द पूर्ण प्रयोगावस्था रूप हो वही एवंभूतनय ग्राही है।

पूर्वोक्त चारों प्रकार की वचन श्रेणीमें पूर्वापर जो विशेषता है वह स्पष्ट रूप है उस में पूर्ववर्ती नय से उत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम विषयी है और उत्तरोत्तर नय के विषय का आधार पूर्व पर्यायार्थिक है। इसलिये ऋजुसूत्र नय से पर्यायार्थिक नय का प्रारंभ नय के विषय पर रहा हुवा है। इन चारों नयों को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। इस का कारण यह है कि ऋजुसूत्र नय भूत, भविष्यत् को छोड़ के केवल वर्तमान ग्राही है। वह स्पष्ट रूप से सामान्य विषय को परित्याग कर के मात्र विशेष पथदर्शी होने से पर्याय

माना गया है। ऋजुसूत्र नय के पश्चात् तीनों नय उत्तरोत्तर विशेषगामी होने से स्पष्ट रूप से पर्यायार्थिक ही हैं।

प्रश्न—यहां इस बात का स्पष्टिकरण होना चाहिये कि पर्यायार्थिक चारों नय का विषय पूर्व से उत्तर सूक्ष्म कहा गया है तो उत्तर से पूर्व उतने अंश सामान्यगामी ही होगा और ऐसी ही भूमिका द्रव्यार्थिक नय की है इनमें भी नैगमादि तीनों नय पूर्वा पर सूक्ष्म विषयी हैं तब तो उतने अंश में भी विशेषगामी हैं ? तो तीन द्रव्यार्थिक और चार पर्यायार्थिक कहने का क्या हेतु ?

उत्तर—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय कही गई है उसका मुख्य हेतु यही है कि प्रथम की तीन नय स्थूल रूप से सामान्य तत्वग्राही और उत्तर की चार नय विशेष तत्वग्राही है यहां केवल विशेष की स्पष्टता, अस्पष्टता के आधार पर मुख्यता गौणता के ध्येय से इनके द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक दो विभाग किये गये हैं वास्तविक रीति से विचार किया जाय तो प्रत्येक वस्तु में सामान्य और विशेष धर्म, एकीभाव से रहा हुआ है। "सामान्य विशेष रहित न विशेष सामान्य रहित", अर्थात् न सामान्य विशेष रहित नहीं होता और न विशेष ही सामान्य से रहित है इसलिये एक नय का विषय दूसरी नय से एकान्तपने पृथक् नहीं होता। जैसे—प्रत्येक वस्तु का सन्मुख और पृष्ट दोनों विभाग अविभाज्य रूप से रहा हुआ है।

नय, प्रापक (अर्थ विशेष को प्राप्त कराने वाला) कारक विशेष काय करानेवाला) साधक, निर्वतक, निभासक (किसी अर्थ का प्रकाशक) उपलम्भक तथा व्यञ्जक ये पर्यायवाची समानार्थक शब्द हैं जो जीवादि पदार्थों को प्राप्त कराते हैं, प्राप्त होते हैं, प्राप्त करते हैं सिद्ध करते हैं, व्यवहार में बनाते हैं, उपलब्ध और प्रगट करते हैं वे नय हैं। अथवा नयदृष्टि, विचारसरणी और

सापेक्ष अभिप्राय ये सब एक अर्थ के प्रकाशित करने वाले शब्द हैं। किसी एक वस्तु विषयी ज्ञान प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं और उस अनेक विचारात्मक सरणी का यहां स्थूल रूप से सात विभाग करके बताया है। ये सातों विभाग उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयी हैं। इन्हीं को व्यवहार नय और निश्चय नय भी कहते हैं। व्यवहारनय स्थूलगामी और उपचार प्रधान है और निश्चयनय सूक्ष्मगामी तथा तत्वदर्शी है। वास्तविक रूप से एवंभूत नय ही निश्चय नय की पराकाष्ठा है। इन सात नयों के और भी अन्य प्रकारसे दो भेद किये हैं (१) अर्थनय, (२) शब्द नय। जिसमें अर्थ का प्रधानपना है उसे अर्थनय कहते हैं वह नैगमादि चार नय हैं। और शब्द प्रधान को शब्दनय कहते हैं उसके शब्दादि तीन (शब्द० समभि० एवभू०) भेद हैं।

इसके सिवाय और भी कई दृष्टियां हैं। जैसेः—ज्ञान दृष्टि, क्रिया दृष्टि। जो विभाग मात्र सत्य विचार और तत्व स्पर्शी वह ज्ञान दृष्टि-ज्ञान नय कहते हैं। और जो सत्यता आच्छादित है उसका पथ प्रदर्शक क्रिया दृष्टि अर्थात् क्रिया नय कहते हैं। उपरोक्त सातों नय तत्व विचारक होने से ज्ञान नय है और उन्हीं सातों नयों के आधार से सत्यता संशोधन कर जीवन को सत्य मय बनाना वह क्रिया दृष्टि। उस समय उसे क्रिया नय कहते हैं।

प्रश्न—उपरोक्त सातों नय, पांच ज्ञान और तीन अज्ञान में कौन नय किस ज्ञान को आश्रय दाता है?

उत्तर—नैगमादि तीनों नय विपर्याय सहित सब ज्ञान आश्रय दायित्य हैं। जो सम्यक्दृष्टि से उसे ज्ञान होता है और मिथ्यात्वी को अज्ञान—तथा ऋजुसूत्र नय मति ज्ञान, अज्ञान को छोड़ के शेष छ ज्ञान का आश्रय करता है और श्रुतज्ञान और केवलज्ञान का ही आश्रय करता है।

उक्त पांच भावों के अनुक्रम से दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेद होते हैं ॥ २ ॥

(१) औपशमिक भाव के दो भेद । (१) उपशमसम्यक्त्व (२) उपशम चारित्र ॥ ३ ॥

(२) क्षायिक भाव के नौ भेद । (१) केवलज्ञान, (२) केवल दर्शन, (३) दान, (४) लाभ, (५) भोग, (६) उपभोग, (७) वीर्य, (८) क्षायिकसम्यक्त्व, (९) क्षायिक चारित्र ॥ ४ ॥

(३) क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद-४ चार ज्ञान, ७ तीन अज्ञान, १० तीन दर्शन, १५ पांच लब्धी, १६ क्षयोपशमसम्यक्त्व १७ देशविरती और १८ सर्व विरती एवं १८ ॥ ५ ॥

(४) औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं-४ चारगती, ८ चारकषाय, ११ तीन वेद, १२ मिथ्यात्व, १३ अज्ञान, १४ असंयम १५ असिद्धत्व, और २१ छलेश्या एवं २१ ॥ ६ ॥

(५) पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं-जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ॥ ७ ॥

विवेचन-आत्मस्वरूप के मन्तव्य विषय जैन और जैनेतर दर्शन में कितना मत भेद है उसी का; प्रस्तुत सूत्रों से दिग्दर्शन कराया है । सांख्य और वेदान्त दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य अर्थात् अपरिवर्तन शील नित्य मान के इस में किसी तरह का परिणाम नहीं मानते । ज्ञान और सुखदुखादि परिणाम वे प्रकृत्ती को मानते हैं । वैशेषिक, और नैयायिकदर्शन ज्ञानादि को आत्मा का गुण मानते हैं । तथापि वे आत्मा एकान्त नित्य अपरिणामी मानते हैं । और नवीन मीमांसकों का मन्तव्य भी यही है । बौद्धदर्शन आत्मा को एकान्त क्षणिक अर्थात् निरन्वयपरिणामों का प्रवाह मानते हैं । और जैन दर्शन का कहना है कि जैसे प्रकृति

(जडपदार्थ में कूटस्थ नित्यता नहीं है वैसे ही एकान्त, क्षणिकता भी नहीं है किन्तु परिणामी नित्य है। अर्थात् जो वस्तु अपने स्वभाव में स्थित रहती हुई भी देश, कालानुसार परिवर्तनशील याने पलटने के स्वभाव वाली हो उसको पारिणामिक नित्य कहते हैं। उसी तरह आत्मा को भी परिणामी नित्य मानते हैं इसीलिये ज्ञान और सुख, दुःखादि पर्याय आत्मा के ही समझने चाहिये।

आत्माके सब पर्याय एक अवस्था वाले नहीं होते कितनेक एक अवस्था वाले और कितनेक अन्य अवस्था वाले होते हैं। अर्थात् भिन्न अवस्था वाले होते हैं। पर्याय की भिन्नावस्था को ही भाव कहते हैं। व सामान्य रूप से पांच (५) विभागों में विभाजित करके बताये गये हैं यथा (१) औपशमिक, (२) क्षायिक, (३) क्षायोपशमिक (मिश्र), (४) औदयिक, (५) पारिणामिक हैं।

(१) औपशमिक भाव—कर्मों के उपशम से उत्पन्न होने वाले को औपशमिक भाव कहते हैं। यह आत्मा की एक प्रकार से शुद्धावस्था है जैसे:—मलीन पानी स्थिरता पाकर कुछ समय के लिये स्वच्छ होजाता है क्योंकि उसमें कचरादि जो मैलापना था वह नीचे बैठ जाता है। वैसे ही सत्तागत कर्म का उदय सर्वथा रुक जाने से जो आत्मा में निर्मलता उत्पन्न होती है उसे औपशमिक भाव कहते हैं।

(२) क्षायिक—कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले भाव को क्षायिक भाव कहते हैं। यह अवस्था आत्मा की परम विशुद्धता रूप है। जैसे मलीन पानी कचरादि निकालने से स्वच्छ होजाता है। वैसे ही कर्म बन्ध के क्षय होने से जो विशुद्धता प्रगट होती है उसे क्षायिक भाव कहते हैं।

(३) क्षायोपशमिक भाव—कर्मों के क्षय और उपशम से

उत्पन्न होने वाले भाव को क्षयोपशम भाग कहते हैं। यह भी आत्मा की एक प्रकार से विशुद्धता है। जो नहीं उदय में आने वाले कर्मों के अंश को उपशमाने से और उदय प्राप्त कर्मों के क्षय से प्रगट होती है इसी को क्षयोपशम भाव कहते हैं। इससे मादक शक्ति सर्वथा नष्ट नहीं होती अर्द्ध-जरित काष्ट के समान मिश्रभाव होता है।

(४) औदयिक भाव उदय से प्राप्त होने वाले भावों को औदयिक भाव कहते हैं। यह आत्मा की एक प्रकार से कलुषिता-वस्था है। जैसे -मैल से पानी में मलीनता आजाती है वैसे ही कर्म विपाक के उदय से कलुषितता आती है। उस अवस्था को औदयिक भाव कहते हैं।

(५) परिणामिक भाव-यह भाव जीवादि सब द्रव्यों में होना है परन्तु सूत्रोक्त (जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व) तीनों भेद जीव विशेष हैं अर्थात् जीव मे ही पाये जाते हैं। सूत्रसातवां (७)के आदि शब्द से शेष अस्तित्व, नित्यत्व, अरूपत्वादि अनेक भाव सूचित होते हैं वे सब द्रव्यों मे पाये जाते हैं और वे स्वाभाविक तथा कृत्रिम दोनों प्रकार के होते हैं। परिणामिक भाव जीवादिक द्रव्यों का एक परिणाम अर्थात् स्वाभाविक विशेष है। वह द्रव्य के अस्तित्व से स्वयम् सिद्धि होता है। अर्थात् सब द्रव्यों का स्वाभाविक स्वरूपपरिणामन ही परिणामिक भाव कहलाता है।

उपरोक्त पांच भाव ही आत्मा का स्वरूप है अर्थात् संसारी किंवा मुक्त कोई भी आत्मा क्यों न हो उनके सब पर्यायों में उक्त पांच भावों मे से किसी में दो से यावत् पांच भाव न्यूनाधिक रूप से अवश्य होते हैं। इन पांच भावों के ५३ भेद कहे हैं वे जीव विशेष हैं। अजीव में वे संभवित नहीं होते इसलिये वे जीव स्वरूप हैं।

जीव में पाचों भाव एक साथ हो ऐसा नियम नहीं है मोक्ष प्राप्त हुवे सब जीवों में उक्त पाच भावों में से केवल दो ही भाव होते हैं। (१) क्षायिक और (२) परिणामिक। सासारिक जीव कई तीन, कई चार और कई पाच भाव वाले होते हैं परन्तु इनमें दो भाव नहीं होते। अजीव में एक परिणामिक भाव होता है उसकी यहा व्याख्या नहीं है। प्रस्तुत सूत्र जीवराशि की अपेक्षा से है। परिणामिक भाव के भेद सूचित करने वाले सूत्र में जो आदि शब्द हैं वह उक्त तीन (३) पर्यायों के सिवाय और भी पर्याय सूचित करता है वे जीव, अजीव दोनों में पाये जाते हैं। इसलिये प्रस्तुत सूत्र मेंजीव समवित पर्यायों की गणना है और वे जीवही में पाये जाते हैं।

औदयिकभाव के जो पर्याय हैं वे वैभाविक और शेष चार भावों के पर्याय स्वभाविक रूप हैं परन्तु यह व्याख्या पाच भावों के ५३ भेद आश्रयी हैं जहा पारिणामिक भाव के भेद की अनेक रूप से व्याख्या होगी वहा वह भी स्वाभाविक, विभाविक रूप उभय धर्म वाला होजायगा।

पांच भावो के उत्तर भेद।

(१) उपशम केवल मोहनीयकर्म का ही होता है मोहनीयकर्म के उपशम से औपशमिक भाव प्रगट होता है। दर्शन मोहनीय के उपसम से उपशम सम्यक्त्व और चारित्र मोहनीय के उपशम से उपशम चारित्र प्रगट होता है इसलिये उक्त दोनों भेद उपशम भावी है।

(२) केवल ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से केवल ज्ञान और केवल दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से केवल दर्शन इसी तरह

पांच अन्तरायक्षय होने से लाभ, जैसे-अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्तभोग, अनन्त उपभोग, और अनन्त वीर्य रूप पांच लब्धियां प्रगट होती हैं। दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक चारित्र प्रगट होता है उक्त नौ प्रकृतियों के क्षय होने से क्षायिक भाव प्रगट होता है और इसी से क्षायिक भाव के नौ भेद माने गये हैं।

(३) मती, श्रुति, अवधि और मनः पर्यायज्ञानावर्णीय. कर्म के क्षयोपशम से मति, श्रुति, अवधि और मनः पर्याय ज्ञान प्रगट होता है। मिथ्यात्वयुक्त मती ज्ञानावरणीय, श्रुत ज्ञानावर्णीय अवधियज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से मति अज्ञान, श्रुनि अज्ञान, और विभगज्ञान प्रगट होता है चक्षुदर्शनावरणीय. अचक्षुदर्शनावरणीय और अवधिदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन प्रगट होता है, पंचविध अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से दानादि पूर्वोक्त पांच लब्धियां क्षयोपशम भाव से प्रगट होती हैं, अनन्तानुबंधी चतुष्क और दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से जो सम्यक्त्व प्रगट होता है उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं, और प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के क्षयोपशम से देशविरती और अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के क्षयोपशम से सर्व विरती चारित्र प्रगट होता है! इस तरह उक्त अठारह भेद क्षयोपशम सम्यक्त्व के माने गये हैं।

(४] गति नाम कर्म के उदय से १ नरक, २ तीर्यंच, ३ मनुष्य और ४ देवगति, तथा कषाय मोहनीय के उदय से ५ क्रोध, ६ मान, ७ माया, ८ लोभ और वेद मोहनीयकर्म के उदय से ९ स्त्री १० पुरुष, ११ नपुंसक तथा मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से १२ मिथ्यादर्शन अर्थात् तत्व विषयी अश्रद्धा और ज्ञानावरणीय

कर्म के उदय से १३ अज्ञान, १४ असयत अर्थात विरती का सर्वथा अभाव जो अनन्तानुबन्धी बारह प्रकार के चारित्र मोहनीय के उदय सम्राप्तफल रूप हैं और १५ असिद्धत्व अर्थात शरीर धारण करना यह नाम कर्म तथा वेदनीय, आयुष्य और गोत्र कर्म उदय जनित होता है, १६ कृष्ण, १७ नील, १८ कापोत, १९ तेजो, २० पद्म और २१ शुक्ल ये छ प्रकार की लेश्य यें कपायोदय रंजित किंवा योग प्रवृत्ति के फलरूप मोहनीय कर्म और नाम कर्म उदय जनित हैं एव २१ भेद उदयिक भाव कहलाते हैं।

( ) जीवत्व=चैतन्यत्व, भव्यत्व=मुक्ति की योग्यता, अभव्यत्व=मुक्ति की अयोग्यता। ये तीनों भाव स्वाभाविक रूप हैं किन्तु कर्मों के उदय से या क्षय से या क्षयोपशम से या उपशम से उत्पन्न नहीं होते। अनादि सिद्ध अथात् आत्मद्रव्य के आस्तित्व से ही सिद्ध हैं इसलिये इन्हें पारिणामिक भाव कहते हैं। परिणामिक भाव के और भी अनेक भेद हैं। जैसे -अस्तित्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणत्व, प्रदेशत्व, असचयत्व और अरूपत्व इत्यादि।

प्रश्न- पूर्वोक्त सूत्र में पारिणामिक भाव के तीन ही भेद क्यों बताये ?

उत्तर—प्रस्तुत विषय जीव स्वरूप विषयी हैं और उसकी पहिचान के लिये केवल जीव के ही साधारण भाव बताये गये हैं। अर्थात् उन भावों की यहा वक्तव्यता है जो जीव के सिवाय अन्य द्रव्य में सम्राप्त न हो इसलिये औपशमिकादि भावों के साथ वेही पारिणामिक भाव बताये गये हैं जो केवल जीव ही में पाये जाते हैं। शष अस्तित्वादि पारिणामिक भाव के भेद हैं वे जीव के समान अजीव में भी पाये जाते हैं इसलिये वे जीव के असाधारण भाव

हीं कहलाते । इसी कारण उन भेदों का यहां निर्देश नहीं है अन्त में आदि शब्द से वे सूचित किये गये हैं ।

जीव का लक्षण ।

उपयोगोलक्षणम् ॥ ८ ॥

अर्थ--उपयोग यह जीव का लक्षण है ॥ ८ ॥

विवेचन— जीव जिसको आत्मा और चैतन्य भी कहते हैं वह अनादि सिद्ध (स्वतन्त्र) द्रव्य है । तात्विक दृष्टि से अरूपी होने के कारण इसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता परन्तु स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तथा अनुमानादि से हो सकता है । तथापि साधारण जिज्ञासुओं के लिये एक ऐसा लक्षण बनाना चाहिये जिस में आत्मा की पहचान होजाय । यही ध्येय प्रस्तुत सूत्र का है । आत्मा लक्ष है और उपयोग लक्षण अर्थात् उसके जानने का मुख्य उपाय है संसार में जड़ और चैतन्य दो पदार्थों का मिश्रण है । इसमें जड़ और चैतन्य का विवेक पूर्वक निश्चय करना हो तो उपयोग लक्षण कहने से उसकी सहज ही में पृथकता हो जायगी क्योंकि वह (उपयोग) सब आत्माओं में तारतम्य भाव से अवश्य रहा हुआ है और जिस पदार्थ में उपयोग नहीं है वह अजीव अर्थात् जड़ कहलाता है ।

प्रश्न--उपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर—बोधरूप व्यापार को उपयोग कहते हैं ।

प्रश्न—आत्मा में बोधक्रिया होती है वैसी जड़ में क्यों नहीं होती ?

उत्तर--बोध का कारण चेतना शक्ति है वह शक्ति जिस में होगी उसी को बोध हो सकता है जीव के सिवाय अन्य पादार्थों

में चेतना शक्ति न होने के कारण उनको बोध नहीं होता इसीलिये वे जड कहलाते हैं। बोध शक्ति केवल आत्मा मे ही है।

प्रश्न—आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है इसमें अनेक गुण होने चाहिये केवल उपयोग ही को लक्षण कैसे कहा ?

उत्तर—वास्तविक रूप से आत्मा में अनेक गुण पर्याय है तथापि उन सब में मुख्यता उपयोग की है वही स्वपर प्रकाशक रूप है अनेक प्रकार के गुण पर्यायों की ज्ञानकत्व शक्ति का भाजन उपयोग ही है अस्ति, नास्ति आदि अनेक पर्यायों को जानना और उस विषय में ननु-नच करना सुख दु ख का अनुभव करना स्व और पर पर्याय का भान प्राप्त करना यह सब उपयोग का ही काम है। इसलिये सब पर्यायों में उपयोगपर्याय मुख्य समझा गया है।

प्रश्न—पहले पाच भावों से जीव का स्वरूप समझाया और अब उसका लक्षण बताते हो तो क्या लक्षण स्वरूप से भिन्न है ?

उत्तर—लक्षण स्वरूप से भिन्न नहीं है।

प्रश्न—तब लक्षण स्वरूप से भिन्न कहने की क्या आवश्यकता ?

उत्तर—पाच भाव जीव का असाधारण धर्म है अर्थात् वे जीव के सिवाय अन्य पदार्थों में नहीं पाये जाते। परन्तु वे सब आत्माओं में सदृश रूप नहीं होते। कतिपय लक्षण होते हुवे भी किसी समय लक्षरूप होते हैं और किसी समय लक्षरूप नहीं होते और उनमें कितनेक भेद ऐसे हैं जो किसी एक आत्मा में सर्वथा नहीं होते जैसेः-अभव्यत्व, भव्यत्वादि और कितनेक पर्याय ऐसे

हैं जो त्रिकाल लक्षरूप रहते हैं उनमें समग्र रूप से लक्ष में रहने वाला त्रिकाल वर्ती असाधारण धर्म उपयोग है इसलिये लक्षण रूप से इसको पृथक कहके समझाया है। इससे यह भी सूचित होता है कि औपशमिकादि भाव जीवस्वरूप हैं परन्तु वे सब जीवों में एक साथ नहीं मिलते और सब त्रिकाल वर्ती भी नहीं है त्रिकालवर्ती और सब आत्माओं में सदृश रूप से रहा हुआ है तो एक जीवत्वरूप पारिणामिक भाव ही है। जिसका फलितार्थ उपयोग ही होता है इसलिये " उपयोगोजीवलक्षणम् " यह लक्षणरूप से पृथक् कह बतलाया है। उपरोक्त ५३ भेद में जीवत्व को छोड़ के शेष ५२ भेदों को हम आत्मा का लक्षण भी कह सकते हैं। परन्तु वे लक्षांश हैं अर्थात् कर्म सापेक्ष होने से उन्हें उपलक्षण भी कह सकते हैं। लक्षण और उपलक्षण में विशेषता यह है कि जो मूल वस्तु वस्तुस्वरूप है उसे लक्ष कहते हैं और उस वस्तु में त्रिकालवर्ती रहा हुआ धर्म अर्थात् जो स्वभाव लक्ष को छोड़ के कभी पृथक् नहीं होता तीनों काल लक्ष में प्राप्त रहे जैसेः-अग्नि में उष्णता उसे लक्षण कहते हैं और जो धर्म किसी लक्ष (वस्तु) में हो और किसी में न हो जैसेः-अग्नि में धूँआ यह किसी समय होता है और किसी समय नहीं होता अर्थात् स्वभाव सिद्ध न हो उसे उपलक्षण कहते है इसलिये उपरोक्त सूत्र " उपयोगोजीवलक्षणम् " यह आत्मा का जीवत्व लक्षण है उस जीवत्व को छोड़ के शेष ५२ भेद कर्म सापेक्ष होने से उपलक्षण हैं ॥ ८ ॥

उपयोग की विविधता ।

साद्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

अर्थ—वह उपभोग दो, आठ और चार प्रकार का है ॥९॥

विवेचन—सब आत्माओं में चेतना शक्ति बराबर होते हुए भी ज्ञान क्रिया अर्थात् बोध व्यापार अथवा उपयोग सामान्य रूप से नहीं होता उसकी विविधता बाह्य अभ्यन्तर कारणों के समूह की विविधता पर अवलम्बित है। विषय भेद, इन्द्रियादि साधन भेद, देशकाल भेद इत्यादि विविधतायें बाह्य सामग्री से होती हैं और आवरण की तीव्रता मंदता का तारतम्यता भाव आन्तरिक सामग्री की विविधता पर है। इन सामग्रियों की विचित्रता से एक ही आत्मा में भिन्न २ समय नाना प्रकार की बोध क्रियायें हुआ करती है और अनेक आत्मा एक ही समय में भिन्न उपयोगी होते हैं। यह बोध विविधता अनुभव सिद्ध है। तथापि संक्षेप से इसका वर्गीकरण करके बताना ही प्रस्तुत सूत्र का उद्देश है उपयोग राशि के सामान्य रूप से दो विभाग हो सकते हैं। एक सकार उपयोग और दूसरा निराकार उपयोग। विशेष रूप से सकार उपयोग के आठ भेद और निराकार उपयोग के चार भेद हो सकते हैं। एव सूत्रोक्त व्याख्या से उपयोग के बारह भेद होते हैं।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान, केवल ज्ञान, मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान एव आठ प्रकार साकार उपयोग कहलाता है।

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चारों निराकार उपयोग हैं।

प्रश्न—साकार और निराकार किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस बोध द्वारा ग्राह्य वस्तु विशेष रूप [illegible] जाय उसे साकार उपयोग कहते हैं और ग्राह्य वस्तु [illegible] निराकार उपयोग कहते हैं।

अथवा सविकल्प वोध कहते हैं और निराकार को दर्शन अथवा निर्विकल्प वोध कहते हैं।

प्रश्न--उपरोक्त वारह भेदों में से कितने भेद पूर्ण विकास चैतना शक्ति कार्य विपयी हैं और कितने भेद अपूर्ण विकास चैतना शक्ति कार्य विपयी हैं ?

उत्तर—केवलज्ञान और केवलदर्शन दो उपयोग पूर्ण विकसित चेतना शक्ति व्यापार रूप हैं और शेष दश उपयोग अपूर्ण विकसित चेतना शक्ति व्यापार हैं।

प्रश्न—विकास की अपूर्णावस्था में उपयोग की विविधत संभव हो सकती है परन्तु परिपूर्ण विकसित अवस्था प्राप्त होने पर उपयोग के भेद कैसे संभवित हो सकते हैं।

उत्तर—विकास की परिपूर्णता में भी केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप दो उपयोग माने गये हैं वह केवल ग्राह्य विषय की द्विरूपता है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु सामान्य और विशेष रूप उभय स्वभाव वाली होती है और तद् रूप जानना ही पूर्णावस्था है इसलिये वस्तु उभय स्वभाव होने से तद् विषयी चेतना जन्य व्यापार भी ज्ञान, दर्शन रूप दो प्रकार से माना गया है।

प्रश्न--साकार उपयोग के आठ भेदोंमें ज्ञान और अज्ञान में क्या विशेषता है ?

उत्तर—ज्ञान सम्यक्त्व सहभावी है और अज्ञान असह भावी है यही परस्पर विशेषता है।

प्रश्न—तव तो सव ज्ञानों का प्रतिपक्षी अज्ञान और सर्व दर्शनों का प्रतिपक्षी अदर्शन मानना चाहिये ?

उत्तर—मनःपर्यव और केवल ये दो ज्ञान सम्यक्त्व के

विना हो ही नहीं सकने इसलिये इनके प्रतिपक्षी अज्ञान नहीं है। दर्शन विषय केवलदर्शन विना सम्यक्त्व के हो नहीं सकता। शेष तीनदर्शन सम्यक्त्व के अभाव में होते हैं। परन्तु इनके प्रतिपक्षी दर्शन नहीं कहने का कारण यह है कि दर्शन केवल सामान्याव बोध है इसलिये सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी का भेद दर्शन विषयी व्यवहार में नहीं बताया जा सकता।

प्रश्न—उपरोक्त बारह भेद की व्याख्या क्या है ?

उत्तर—ज्ञान के आठ भेदों का स्वरूप अध्याय सूत्र ६ से ३३ पर्यंत में वर्णन कर चुके हैं और दर्शन के चार भेदों का स्वरूप यह है (१) नेत्र के सिवाय किसी भी इन्द्रिय और मन से होनेवाले सामान्यावबोध को अचक्षु दर्शन कहते हैं। (२) नेत्र जन्य सामान्यावबोध को चक्षुदर्शन कहते हैं (३) अवधि लब्धि से मूर्त्तिमान पदार्थों का जो सामान्य अवबोध है वह अवधि दर्शन (४) प्रत्येक वस्तु सामान्य और विशेष स्वभाव वाली होती है उन समस्त पदार्थों का सामान्य धर्म विषयी अवबोध को केवल दर्शन कहते हैं ॥ ६ ॥

जीव राशि विभाग।

ससारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

अर्थ—जीवों के दो भेद हैं। एक ससारी और दूसरे मुक्त ॥ १० ॥

विवेचन—जीव अनन्त हैं और चेतना रूप से वे सब एक समान हैं अर्थात् एक स्वरूप हैं तथापि इनके जो दो विभाग करके बताये हैं वे उनकी विशेषापेक्षित है अर्थात् एक ससार रूप पर्याय वाले दूसरे मोक्ष पर्याय वाले हैं पहले प्रकार के जीवों को

संसारी और दूसरे को मोक्ष कहते हैं संसारी जीव जन्म मरण करते हुए संसार में भ्रमण करते हैं और मुक्त जीवों का संसार में आवागमन नहीं है वे जन्म जरा मरण के बन्धन से मुक्त हो गये हैं।

बन्धन दो प्रकार के हैं (१) द्रव्य बन्धन (२) भाव बन्धन और ये ही जीवों के लिये संसार रूप हैं। कर्म दल के विशिष्ट बन्धन को द्रव्यबन्ध कहते हैं वह तेरहवें गुणस्थानक पर्यन्त है और राग द्वेष की वासनाओं का सम्बन्ध भाव बन्ध है जो दशवें गुणस्थान पर्यन्त रहता है॥ १० ॥

संसारी जीवों के भेद प्रभेद।

समनस्काअमनस्काः ॥ ११ ॥

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

पृथिव्यंबु वनस्पतय स्थावराः ॥ १३ ॥

तजोवायु द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ॥ १४ ॥

अर्थ—संसारी जीवों के दो भेद हैं। मनवाले और मन रहित ॥ ११ ॥

पुनः संसारी जीवों के संक्षेप से त्रस, स्थावर रूप दो भेद हैं ॥ १२ ॥

पृथ्वी, पानी, वनास्पतिके जीव स्थावर कहलाते हैं।१३।

अग्नि, वायु इन्द्रियादि जीव त्रस है ॥ १४ ॥

विवेचन—संसारी जीव अनन्त है उनका संक्षेप से दो विभाग करके बताया है। यह दो प्रकार की कल्पना अनेक रूप से हो सकती है—जैसे सूक्ष्म और बादर, भव्य और अभव्य,

परत और अपरत, सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी इत्यादि परन्तु यहां सूत्रकार के किये हुए दो विभागों में पहली कल्पना मन के सम्बन्ध से और दूसरी मन के असम्बन्ध से है। जिसके मन है वह समनस्का और जो मन रहित है वह अमनस्का। इसमें सब ससारी जीवों का समावेश होता है। दूसरी कल्पना दो प्रकार की है उसमें त्रस और स्थावर रूप दो विभाग किये हैं। जो हलन, चलन क्रिया समर्थ ह उनको त्रस कहते और उक्त क्रिया से रहित हें उनको स्थावर कहते हैं। इसमें भी सब ससारी जीवों का समावेश होता है।

प्रश्न—मन किसे कहते ह ?

उत्तर—जिससे विचार किया जाय उस आत्मशक्ति को मन कहते ह अथवा आत्मशक्ति से ग्रहण किये हुए विचारात्मक मन वर्गणा के परमाणुओं को भी मन कहते हैं। आत्मशक्ति को भाव मन कहते ह और मन वर्गणा के परमाणुओं को द्रव्य मन कहते ह।

प्रश्न—मन रहित जीवों के द्रव्य मन या भाव मन होता है या नहीं ?

उत्तर—केवल भाव मन होता है।

प्रश्न—तब तो सब जीव मन वाले हुए फिर समनस्का, अमनस्का कहने का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—द्रव्य मन की अपेक्षा से भेद किये गये हैं। जैसे-वृद्ध मनुष्य पाव और चलने की शक्ति के होते हुए भी लकडी के सहारे बिना नहीं चल सकता। इसी तरह भाव मन के होते हुए भी द्रव्य मन के बिना स्पष्ट विचार नहीं कर सकता इसलिये द्रव्य मन की अपेक्षा से ही दो विभाग किये गये हैं।

प्रश्न--त्रस और स्थावर किसे कहते हैं ?

उत्तर--जिनको त्रसनाम कर्म का उदय हो अथवा गति क्रिया स्वभावी हो उसको त्रस कहते हैं। जिनको स्थावर नाम कर्म का उदय हो गति स्वभाव क्रिया से रहित हो उसे स्थावर कहते हैं।

प्रश्न--त्रसत्व, स्थावरत्व किसे कहते हैं।

उत्तर--उद्देश्य पूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने की शक्ति याने हलन चलन शक्ति हो उसे त्रसत्व कहते हैं अन्यथा स्थावर है।

प्रश्न--त्रस नाम कर्म और स्थावर नाम कर्म के उदय की क्या पहिचान ?

उत्तर--दुःख को छोड़ने की और सुख को प्राप्त करने की जिसमें प्रवृत्ति दिखे वह त्रसनामकर्म का उदय हैं इससे विपरीत स्थावर नाम कर्म का उदय समझना चाहिये।

प्रश्न--द्वीन्द्रिय के समान तेजस, वायुकाय जीव भी स्पष्ट रूप से गति स्वभावी दिखते हैं तो वे भी त्रस हैं ?

उत्तर--वे त्रस नहीं हैं।

प्रश्न--तो इनको पृथ्वीकाय के समान स्थावर क्यों नहीं कहा है।

उत्तर--उक्त लक्षण के अनुसार वास्तविक रूप से वे स्थावर नहीं हैं और अन्य कई ग्रन्थकारों ने इसे स्थावर ही माना है। परन्तु यहां द्वीन्द्रियादि के साथ गती सादृश पने से ही त्रस कहा है। त्रस दो प्रकार के होते हैं। एक गतित्रस और दूसरे लब्धित्रस। जिनको गतिनामकर्म का उदय है वे वास्तविक

रूप से लब्धि त्रस हैं जैसे -द्विन्द्रिय से यावत् पचेन्द्रिय जीव और एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर नाम कर्म का उदय है परन्तु प्रस्तुत सूत्र में तेजसकाय, वायुकाय को त्रस माना है । यह केवल गति त्रस की ही सापेक्षता है । वास्तविकरूप से पृथ्वी,, पानी, अग्नि, वायु और वनास्पति ये सब स्थावर हैं और द्विन्द्रिय, तेरीन्द्रिय, चौरीन्द्रिय और पचेन्द्रिय ये त्रस हैं स्थावर सर्वथा मन रहित होते हैं और कई त्रस मनवाले होते हैं और कई मन रहित होते हैं ॥ ११-१४ ॥

इन्द्रियों की सख्या और भेद ।

पचेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

द्विविधानि ॥ १६ ॥

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

उपयोग स्पर्शादिषु ॥ १९ ॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्राणि ॥ २० ॥

अर्थ—इन्द्रिया पाच हैं ॥ १५ ॥

ये प्रत्येक दो दो प्रकार की है ॥ १६ ॥

द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति और उपकरण रूप है ॥ १७ ॥

भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप है ॥ १८ ॥

उपयोग स्पर्शादि विषयों में होता है ॥ १९ ॥

स्पर्शन, रसन, घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पाच इन्द्रियों के नाम हैं ॥ २० ॥

विवेचन—इन्द्रियों की संख्या बताने का उद्देश यह है कि इस पर से संसारी जीवों के विभाग करने हो तो अनायास हो सकते हैं और उसे सरलता से समझ भी सकते हैं। इन्द्रियां पांच हैं तथापि समग्र संसारी जीवों के पूर्ण पांचों इन्द्रियां नहीं हैं। किसी के एक, किसी के दो, एवं यावत् किसी के पांच इन्द्रियां होती हैं। जिनके एक इन्द्रिय है वे एकेन्द्रिय कहलाते हैं। एवं द्विन्द्रिय, तेरीन्द्रिय, चौरीन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्यन्त इन्द्रिय भेद से संसारी जीव पांच प्रकार के होते हैं।

प्रश्न—इन्द्रियां किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिससे ज्ञान प्राप्त हो वे इन्द्रियां कहलाती है।

प्रश्न—क्या इन्द्रियां पांच से अधिक नहीं होती ?

उत्तर—हां इसी मर्यादा को सूचित करने के लिये ही यह सूत्र है। सांख्यादि शास्त्रों में जो इन्द्रियां कही हैं जैसे-वाक, पाणी पाद, पायु, गुदा, उपस्थित (लिंग तथा जननेन्द्रिय) परन्तु वे सब कर्मेन्द्रिय हैं प्रस्तुत केवल ज्ञानेन्द्रिय का विषय है और ये ज्ञानेन्द्रिय पांच से अधिक नहीं होती।

प्रश्न—ज्ञानेन्द्रिय किसे कहते हैं ? और कर्मेन्द्रिय किसे कहते हैं ?

उत्तर—जीवन यात्रा में वस्तु विषयी ज्ञान प्राप्ति का उपयोग जिसके द्वारा हो उसे मुख्यतया ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं और जिससे आहार, विहार, निहारादि क्रिया होसके उसे कर्मेन्द्रिय कहते हैं।

पांचों इन्द्रियां द्रव्य और भाव रूप से दो दो प्रकार की हैं और जो पुद्गलमय जड़रूप हैं वे द्रव्येन्द्रियां कहलाती हैं और आत्मिक परिणाम रूप भाव को भावेन्द्रिय कहते हैं।

द्रव्येंद्रिय दो प्रकार की है (१) निर्वृत्ति, (२) उपकरण' अगोपागनामकर्म से व निमाणनामकर्म के उदय से शरीर के अगोपाग की योग्य स्थान में प्रदेश रचना होती है उस रचना विशेष को निवृत्ति द्रव्येन्द्रिय कहते है यह बाह्य और अभ्यतर रूप दो प्रकार से है। उस निर्वृत्ति इन्द्रिय (नेत्रादि) की रक्षा के लिये उपकरण इन्द्रिय है। जैसे नेत्र की रक्षा के लिये डोला, पलक, भाफणादि है। उक्त दोनों (निवृत्ति और उपकरण) द्रव्येन्द्रिय कहलाती हैं और जड रूप हैं। वह निर्वृत्ति इन्द्रिय अनुपघात तथा अनुग्रह (हितवाह) होने से उपकारी हो सकती है वास्तविक रूप से आग के आकार विशेष को बाह्य द्रव्येन्द्रिय कहते है और उस मे रही हुई काली टीकी जिसमे लौकिक शक्ति है उसको अभ्यन्तर द्रयेन्द्रिय कहते है अथवा निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय की बाह्य अभ्यन्तर पौद्गलिक शक्ति जिसके विना निर्वृत्ति इन्द्रिय ज्ञान पेदा करने के लिये असमथ है उसे भी उपकरणेन्द्रिय कहते है।

भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप दो प्रकार की है। जीव की गति, जाति आदि कर्मों के उदय से तथा इनके आवरणीय कर्मों के क्षयोपशम से और इन्द्रिय आश्रय भूत कर्मों के उदय से उत्पन्न हो उसे लब्धि भावेन्द्रिय कहते ह और वह पाच प्रकार की है (१) स्पर्शेन्द्रिय लब्धि, (२) रसेन्द्रिय लब्धि, (३) घ्राणेन्द्रिय लब्धि, (४) चक्षुरिन्द्रिय लब्धि, (५) श्रोत्रेन्द्रिय लब्धि। उपगेक्त निवृत्ति, उपकरण और लब्धि तीनों के सम्मिलित होने से रूपादि विषयों का जो सामान्य और विशेष बोध होता है उसे उपयोग भावेन्द्रिय कहते हैं इनके ५ ज्ञान, ३ अज्ञान और ४ दर्शन रूप बारह भेद हैं।

मतिज्ञान रूप उपयोग भावेन्द्रिय है। वह अरूपी अमूर्त्त

पदार्थों को नहीं देख सकता केवल रूपी पदार्थ को देखता है और उस रूपी पदार्थ के भी सम्पूर्ण गुण, पर्यायों को नहीं जानता मात्र स्पर्शादि विषयों के कतिपय पर्यायों को जानता है।

प्रश्न—प्रत्येक इन्द्रिय के द्रव्य, भाव, रूप दो दो भेद और उस द्रव्य भाव के भी निर्वृत्ति उपकरण और लब्धि, उपयोग रूप दो दो भेद किये हैं परन्तु वे किस अनुक्रम से प्राप्त होते हैं?

उत्तर—लब्धिरूप भावेन्द्रिय के प्राप्त होने पर निर्वृत्ति संभवित होती है और निर्वृत्ति के विना उपकरण नहीं हो सकता अर्थात् लब्धि प्राप्त होने से ही निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग हो सकता है जैसे-तलवार, तलवार की धारा, धारा की शक्ति और उसका उपयोग।

लब्ध भावेन्द्रिय के प्राप्त होने पर निर्वृत्ति, उपकरण, उपयोग हो सकते हैं इसी तरह निर्वृत्ति के प्राप्त होने से उपकरण और उपयोग संभवित होता है और उपकरण प्राप्त होने पर उपयोग संभवित है। तात्पर्य यह है कि पूर्व इन्द्रिय प्राप्त होने पर उत्तरोत्तर इन्द्रिय प्राप्त हो सकती है। परन्तु पूर्वेन्द्रिय की प्राप्ति विना उत्तरेन्द्रिय प्राप्त नहीं हो सकती।

इन्द्रियों के नाम (१) स्पर्शेन्द्रिय=त्वचा (२) रसनेन्द्रिय=जिह्वा (३) घ्राणेन्द्रिय=नाक (४) चक्षुरेन्द्रिय=आंख (५) श्रोत्रेन्द्रिय=कान। ये पांचों इन्द्रियां लब्धि, निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग रूप चार चार प्रकार की है। इन चारों के सम्मिलित होने से प्रत्येक इन्द्रिय पूर्ण रूप समझी जाती है अन्यथा अपूर्ण है।

प्रश्न—उपयोग यह ज्ञान का विषय है और इन्द्रियजन्य फल है। इसे इन्द्रिय कैसे कहते हो?

उत्तर—वास्तविक रीति से उपयोग यह लब्धि, निर्वृत्ति और उपकरण इन तीनों का सम्मिलित कार्य है परन्तु यहा उपचार मात्र से कार्य में कारणता आरोप करके उपयोग को इन्द्रिय कहा है ॥ १५-२० ॥

इन्द्रियों का ज्ञेय विषय।

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः ॥ २१ ॥

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २२ ॥

अर्थ—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये पाचों अनुक्रम से पाच इन्द्रियों का ज्ञेय विषय है ॥ २१ ॥

श्रुतज्ञान अनिन्द्रिय अर्थात् मन विषयी है ॥ २२ ॥

विवेचन—संसार में पदार्थ (वस्तु) दो प्रकार के हैं (१) मूर्त्त (२) अमूर्त्त। जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शादि हो उनको मूर्त्तमान कहते हैं। इनका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा होता है और इनसे विपरीत को अमूर्त्त कहते हैं। पाचों इन्द्रियों का विषय पृथक् रूप बताया है पर सबका द्रव्यात्मक भिन्नावस्था स्वरूप नहीं है। किन्तु एक ही द्रव्य का भिन्न २ अंश अर्थात् पर्याय रूप है तात्पर्य यह है कि पाचों इन्द्रिय एक ही वस्तु की परस्पर भिन्नता वाली अवस्थाओं जानने के लिये प्रवृत्त होती है इसलिये प्रस्तुत सूत्र में जो पाच इन्द्रियों के पाच विषय बताये गये हैं वे स्वतन्त्र द्रव्यरूप अलग अलग वस्तु नहीं है। वे एक ही वस्तु के पर्याय हैं अर्थात् एक ही वस्तु को पाच प्रकार से अवबोध कराती है। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है उसे पाचों इन्द्रिया स्वभावतः विषय के भिन्न भिन्न अंश ग्रहण करती है। जैसे-स्पर्शेन्द्रिय ही वस्तु के शीतोष्ण,

स्पर्श का ज्ञान होता है। वैसे ही जिह्वा से तिक्तादि रस, नासिका से दुर्गन्ध, आंख से रक्त पीतादि वर्ण और कान से शब्दादि विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। उपरोक्त विषय एक ही वस्तु में सर्वांश से रहे हुए हैं किन्तु उनके लिये स्थान अलग अलग हो ऐसा नहीं है। वे एक ही द्रव्य के अविभाज्य पर्याय हैं। केवल इन्द्रियों के बल से बुद्धि द्वारा विभाजित किये जाते हैं। इन्द्रियां कितनी हीं प्रबल और पटु हो परन्तु स्वग्राह्य विषय के सिवाय अन्य विषय को जानने के लिये असमर्थ है। शक्ति जूदी जूदी होने के कारण इनका विषय पृथक २ है।

प्रश्न—स्पर्शादि पांचों विषय सहचारी अर्थात् रूपी पदार्थ में वे एक साथ रहते हैं। तथापि किसी एक वस्तु में उन पांचों की एक साथ उपलब्धी नहीं दिखती केवल एक दो की उपलब्धी जान पड़ती है। जैसे-सूर्यादि की प्रभा है उसका एक ही रूप दिखता है। शेष स्पर्श, रस, गन्धादि नहीं दिखते इसी तरह वायु का भी वर्ण, गन्ध, रस नहीं जान पड़ता ?

उत्तर—प्रत्येक रूपी द्रव्य में उपरोक्त स्पर्शादि पांचों पर्याय होते हैं परन्तु वे स्थूल विषयी हों तो इन्द्रिय ग्राही हो सकते हैं अन्यथा नहीं हो सकते। कितनी ही वस्तुओं में स्पर्शादि पांचों विषय स्थूल रुप से दिखाई देते हैं और कितनी ही वस्तुओं में एक दो पर्याय के सिवाय अन्य पर्यायें अनुत्कृष्ट अवस्था वाली होने से इन्द्रिय अग्राह्य होती हैं। परन्तु वे सूक्ष्मरूप से अवश्य हैं। इन्द्रियों की ग्राह्य शक्ति सब जीवों की एक समान नहीं होती। एक जाति के प्राणियों में भी इन्द्रियों की पटुता विविध प्रकार की दिखाई देती है इसलिये स्पर्शादि की उत्कृष्टता, अनुत्कृष्टता का विचार इन्द्रियों की पटुता के तारतम्य भाव पर निर्भर है।

पाच इन्द्रियों के सिवाय एक और भी इन्द्रिय है जिसे मन कहते हैं। मन भी ज्ञान का साधन है। यह स्पर्शादि के समान बाह्य साधन नहीं हैं किन्तु आन्तरिक साधन है। इसे अन्त करण भी कहते हैं। मन का विषय बाह्य इन्द्रियों के समान परिमित नहीं है। बाह्य इन्द्रिया केवल मूर्त्त पदार्थ को अश रूप से ग्रहण करने वाली हैं और मन मूर्त्ति, अमूर्त्ति समस्त पदार्थों को अनेक रूप से ग्रहण करने वाला है। मन का कार्य विचार करने का है। यह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये हुवे और नहीं किये हुए विषयों को विकाश की योग्यता के अनुसार विचार करता है। इस विचार को श्रुत कहते हैं इसलिये मन का विषय श्रुत कहा गया है अर्थात् मूर्त्ति, अमूर्त्ति का तत्वस्वरूप मनका प्रवृत्ति क्षेत्र है।

प्रश्न—जिसको श्रुत कहते हो वह यदि मन का कार्य हो और मन एक प्रकार का स्पष्ट या विशेषग्राही ज्ञान है तो क्या मन से मति ज्ञान नहीं हो सकता ?

उत्तर—ठीक है परन्तु मन के द्वारा सब से पहले जो वस्तु ग्रहण होती है और जिससे शब्दार्थ सम्बन्ध, पूर्वापर अर्थात् आगे पीछे का अनुसधान और विकल्प रूप विशेषता न हो वह मतिज्ञान है। तत्पश्चात् उत्पन्न होने वाली विशेष विचारधारा ही श्रुतज्ञान है। तात्पर्य यह है कि मनोजन्य व्यापार की धारा का प्राथमिक अल्पाश मतिज्ञान है। तत्पश्चात् अधिकाश श्रुतज्ञान है। स्पर्शादि पाच इन्द्रिया से मतिज्ञान होता है और मन से मति, श्रुत दोनों ज्ञान होते हैं परन्तु प्रधानता श्रुतज्ञान की है।

लेना पड़ता है। इस पराधीनता के कारण नोन्द्रीय अथवा अनीन्द्रीय कहा है।

प्रश्न—नेत्रादि इन्द्रीयों के समान मन का भी शरीर में नियत स्थान है या सर्वत्र ?

उत्तर—मन के लिये शरीर में नियत स्थान नहीं है वह सर्वत्र व्यापी है। क्योंकि शरीर के भिन्न अवयवों तथा इन्द्रीयों द्वारा ग्रहण किये हुए सब विषयों में इसकी गति होती है इसलिये शरीर में सर्वव्यापी मानना योग्य है परन्तु दिगाम्बरीय सम्प्रदाय मन्तव्यानुसार मनका स्थान सर्वत्र शरीर व्यापी नहीं है। वे इस का नियत स्थान हृदय को मानते हैं और श्वेताम्बरीय अम्नाय के मन्तव्यानुसार सर्व व्यापी है यथा-"यत्र पनस्तत्रमनः" ॥२१-२२॥

इन्द्रियों का स्वामी।

वाय्वन्तानामेमकम् ॥ २३ ॥

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २४ ॥

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २५ ॥

अर्थ—पृथ्वी से लेकर वायु वनास्पति पर्यन्त जीवों के एक ही इन्द्रीय होती है ॥ २३ ॥

कृमि, पिपीलिका=चींटी, भ्रमर और मनुष्यादि के यथा क्रम एकैक इन्द्रीय अधिक होती है ॥ २४ ॥

मन सहित हो उसे संज्ञी कहते हैं ॥ २५ ॥

विवेचन—पूर्व सूत्र १३-१४ में संसारी जीवों के दो विभाग करके बताये हैं। (१) स्थावर (२) त्रस। इन दोनों विभागों में मुख्य जातियां नौ हैं। पृथ्वी, जल, तेजु, वायु और

वनास्पति ये स्थावर तथा एकेन्द्रीय कहलाते हैं। द्विन्द्रीय, तेरिन्द्रीय, चौरेन्द्रीय और पचेन्द्रीय त्रस कहलाते हैं। पृथ्वी आदि पाच स्थावरों के एक स्पर्शेन्द्रीय होती है। कृमि, जलोक आदि के स्पर्श और रस दो इन्द्रिया होती हैं, चींटी, खटमल आदि तेरिन्द्रीय कहलाते हैं इनके स्पर्श, रस और घ्राण तीन इन्द्रिया होती हैं भ्रमर मक्खि, विच्छु आदि चौरेन्द्रिय कहलाते हैं। उनके पूर्वोक्त तीन और चक्षु ये चार इन्द्रिया होती है; मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता नारकी जीवों के श्रोतेन्द्रिय सहित पाच इन्द्रिया होती हैं और ये पचेन्द्रिय कहलाते हैं।

प्रश्न—इन्द्रियों की इस तरह संख्या बताई गई है वह द्रव्येन्द्रिय या भावेन्द्रिय अथवा उभयेन्द्रिय में से किस की अपेक्षा समझनी चाहिये?

उत्तर—यहा केवल द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा से ही इन्द्रियों का न्यूनाधिकपना बताया है। भावेन्द्रिय सब जीवों में पाच होती हैं। इस में न्यूनाधिकता नहीं होती।

प्रश्न—क्या भावेन्द्रिय से जीव किसी प्रकार का पुरुषार्थ यानि हलन चलन, देखना, सुनना आदि क्रियायें कर सकता है?

उत्तर—नहीं अकेली भावेन्द्रिय उक्त क्रियायें करने में असमर्थ है इसके साथ द्रव्येन्द्रिय की आवश्यकता रहती है। बिना द्रव्येन्द्रिय किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं की जा सकती। इसलिये कृमि, चींटी आदि जीवों के आख और नाक रूप द्रव्येन्द्रिय न होने से वे देखने और सुनने के लिये असमर्थ है तथापि वे प्राप्त द्रव्येन्द्रिय के बल से वे अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह करते हैं।

पृथ्वीकाय से यावत् चौरीन्द्रिय पर्यन्त आठ निकाय जीवों के मन नहीं होता वे असन्नी कहलाते हैं। पचेन्द्रिय जीव

संज्ञी, असंज्ञी दोनों प्रकार के होते हैं। उपरोक्त पंचेन्द्रिय के चार भेद बताये गये हैं। देवता, नारकी केवल संज्ञी होते हैं और मनुष्य, तिर्यंच (पशु पक्षी) संज्ञी, असंज्ञी दोनों प्रकार के होते हैं। जो गर्भोत्पत्ति वाले हैं वे संज्ञी अर्थात् मन वाले होते हैं और सम्मूर्च्छिम जीव मन रहित होते हैं उन्हें असंज्ञी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पंचेन्द्रिय जीवों में नारकी, देवता, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यंच मनवाले होते हैं और संज्ञी कहलाते हैं। संमूर्च्छिम मनुष्य, तिर्यंच के मन नहीं होता और वे असंज्ञी कहलाते हैं।

प्रश्न—यह कैसे जाना जा सकता है कि इसके मन है वा नहीं?

उत्तर—संज्ञापर से। जिसके संज्ञा है उसके मन है और जिसके संज्ञा नहीं है उसके मन भी नहीं है।

प्रश्न—संज्ञा वृत्ति को कहते हैं और वृत्ति न्यूनाधिक रूप किसी न किसी प्रकार की सब जीवों में है। जैसे-कृमि, चींटी आदि सभी जन्तुओं में आहार, भय आदि वृत्तियां दिखाई देती हैं इससे क्या यह सिद्ध होता है कि सब जीव मनवाले हैं?

उत्तर—साधारण वृत्ति "आहार, भय, मैथुन, परिग्रह" को यहां संज्ञा रूप नहीं माना है। विशिष्ट वृत्ति अर्थात् जिससे गुण दोष की विचार वृत्ति द्वारा हित को ग्रहण करने की और अहित त्यागने की बुद्धि हो उसी को संज्ञा रूप में माना है। उसी का नाम सम्प्रधारण संज्ञा है। यही संज्ञा मन की वृत्ति रूप है जो देवता, नारकी, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यंच में स्पष्टरूप से दिखाई देती है और इसी साम्प्रधारण संज्ञा को मुख्यपने ग्रहण करके संसारी जीवों के संज्ञी, असंज्ञी रूप दो भेद किये हैं।

प्रश्न—क्या कृमि, चींटी आदि जीव अपने अपने इष्ट,

अनिष्ट का ग्रहण, त्याग करने के लिये प्रयत्न नहीं कर सकते ?

उत्तर—कर सकते हैं।

प्रश्न—तब तो सब जीवों के मन और सम्प्रधारण संज्ञा माननी चाहिये ? क्योंकि वे ताप, तजनादि दुःखों का अनुभव करते हैं और उसको निवारण करने के लिये प्रयत्न भी करते हैं ?

उत्तर—उनका पूर्वोक्त प्रयत्न केवल देहमात्र के लिये उपयोगी है। नानबिन्दु आदि ग्रन्थों में लिखा है कि कृमि आदि जीवों के अल्प विषय रूप सूक्ष्म मन होता है। जिससे वे इष्टानिष्ट ग्रहण त्याग की प्रवृत्तिया करने के लिये प्रयत्नशील होते हैं। परन्तु देह यात्रा के सिवाय अन्य विषय विचारने के लिये असमर्थ हैं। इसलिये यहां उसकी गवेषणा न करके विशेष विचार की योग्यता को सम्प्रधारण संज्ञा मानी है। तात्पर्य यह है कि जिन जीवों को यावत् पूर्व जन्म के स्मरण की योग्यता प्राप्त हो सकती है उन्हीं को यहां समनस्का कहा है। यह संज्ञा केवल देव, नारकी, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यंच को ही होती है। जन्म के स्मरण की योग्यता के अधिकारी इनके सिवाय अन्य जीव नहीं हैं। जो गहन या गूढ विषयों में कल्पनाशक्ति से गुण दोष के विचार स्वरूप ज्ञान शक्ति विशेष हो। वही सम्प्रधारण संज्ञा है और उसी संज्ञा से वे संज्ञी कहे जाते हैं॥ २३-२५॥

संसारी जीव गति क्रियावाले होते हैं।

विग्रहगतौ कर्मयोगः॥ २६॥

अनुश्रेणिगतिः॥ २७॥

अविग्रहाजीवस्य॥ २८॥

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २९ ॥

एकसमयोऽविग्रहः ॥ ३० ॥

एकं द्वौवानाहारकः ॥ ३१ ॥

अर्थ--विग्रहगति जीव को कर्मयोग अर्थात् कार्मण योग से ही होती है ॥ २६ ॥

जीव की गति श्रेणी अर्थात् सरल रेखा के अनुसार होती है ॥ २७ ॥

मोक्ष प्राप्ति के समय जीव की अविग्रह गति होती है॥२८॥

संसारी जीवों की गति अविग्रह, सविग्रह दोनों प्रकार की होती है वह चार से पूर्व तीनादि समय वाली है ॥ २९ ॥

एक समय की गति को अविग्रह कहते हैं ॥ ३० ॥

एक या दो समय तक जीव अनाहारक रहता है ॥ ३१ ॥

विवेचन—पूर्वजन्म मानने वाले दार्शनिकों के समक्ष गत्यान्तर सम्बन्धी पांच प्रश्न उपस्थित होते हैं।

(१) जन्मान्तर या मोक्ष के लिये जब जीव गति करता है उस गत्यान्तर समय स्थूल शरीर न होने से जीव प्रयत्नशील कैसे हो सकता है ?

(२) गतिशील पदार्थ गति करते हैं वे किस नियम से?

(३) गति क्रिया के कितने भेद हैं और कौन कौन से जीव किस किस गति के अधिकारी हैं ?

(४) अन्तरगति का जघन्य और उत्कृष्ट कालमान कितना है ? और किस नियमपर अवलम्बित है ?

(५) अन्तरगति समय जीव आहार ग्रहण करता है

या नहीं ? अगर नहीं करता है तो कितने समय तक ? तथा अनाहारक स्थिति का कालमान किस नियम पर अवलम्बित है ?

जो सर्व व्यापी आत्मा मानने वाले हैं उन व्यापक आत्म वादियों को भी उपरोक्त पाच प्रश्नों पर अवश्य विचार करना चाहिये क्योंकि वे भी पूर्वजन्म की उत्पत्ति के लिये नितान्त सूक्ष्म शरीर और अन्तरगति को मान देते हैं और जेन दर्शन देहव्यापी आत्मवादी है। इसलिये उनको उपरोक्त प्रश्न अवश्य विचारणीय है और उसीको सूत्रकार क्रमश बताते हैं।

(१) योग—अन्तरगति दो प्रकार की होती है। एक ऋजुगति, दूसरी वक्रगति। ऋजुगति से स्थानान्तर जाते समय जीव को किसी प्रकार का नवीन प्रयत्न नहीं करना पडता कारण उसका यह है कि जब वह पूर्व शरीर छोडता है उस समय उसको पूर्वशरीरजन्य वेग प्राप्त होता है। उसी के बल से दूसरे प्रयत्न सिवाय धनुष्य से छूटे हुये बाण के समान सीधा अपने नवीन स्थान पर पहुँच जाता है। वक्रगति से जाने वाले जीव को नवीन प्रयत्न करना पडता है। पूर्वशरीरजन्य प्रयत्न से समश्रेणी जाता हुआ जब विश्रेणी को प्राप्त होता है उस समय पूर्व देहजनित प्रयत्न मन्द हो जाता है पर उस समय भी जीव के साथ सूक्ष्म शरीर तो रहता ही है और उसी का प्रयत्न होता है सूक्ष्म शरीरजन्य प्रयत्न को ही कार्मण योग कहते हैं। इसी आशय से सूत्र में कहा है कि विग्रहगति में कार्मण काय योग होता है। तात्पर्य यह है कि वक्रगति से जाता हुआ जीव मात्र पूर्वशरीरजन्य प्रयत्न से नवीन स्थान पर नहीं पहुँचता। वास्ते नवीन प्रयत्न के लिये कार्मण=सूक्ष्म शरीर ही साध्य है। उस समय दूसरा कोइ स्थूल शरीर नहीं रहता। बिना स्थूल शरीर के मन, वचन योग नहीं होता।

कही है वंकगति का दो, तीन और चार समय कहा है। समय की वृद्धि का आधार वांक के संख्या की वृद्धि के आधार पर है स्थापना-

ऋजु　　एकवंका　　द्विवंका　　त्रिवंका
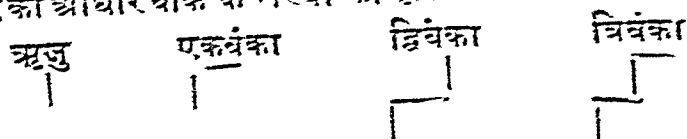
जिस गति में एक वांक है उस का कालमान दो समय का है, जिस में दो वांक हैं उसका कालमान तीन समय का है और जिस में तीन वांक हैं उसका कालमान चार समय का है। सारांश यह है कि एक विग्रह गति से उत्पत्ति स्थान में जाना हो तब पूर्व स्थान से वांक वाले स्थान पर पहुंचने के लिये एक समय और वांक वाले स्थान से उत्पत्ति वाले स्थान को जाने के लिये एक समय एवं दो समय लगता है, इस नियम के अनुसार दो विग्रह गति में तीन समय और तिन विग्रह गति में चार समय लगते हैं ऋजु गति हो वा विग्रह गति हो जन्मान्तर के लिये पूर्वायुष्य पूर्ण होने के पहले ही नवीन आयुष्य, गति, आनुपूर्वि नामकर्म का बन्ध पड़ जाता है। तदनुसार उदयावली को प्राप्त होता है।

(५) आहार कालमान—मुच्यमान अर्थात् मोक्षप्राप्ति के समय अन्तर गति विषय आहार का प्रश्न नहीं होता क्यों कि वह अशरीरी अवस्था है अर्थात् वे सूक्ष्म, बादर शरीर से रहित हो गये हैं और संसारी जीव है उनके लिये आहार का प्रश्न अन्तर गति के लिये उपस्थित होता है। क्योंकि वे सूक्ष्म शरीर से तो रहित कभी हो ही नहीं सकते और जब बादर नाम कर्म का उदय होता है उस समय वे बादर शरीर को धारण करते हैं। संसारी जीव कभी किसी अवस्था में अशरीरी

रह नहीं सकते। आहार का मतलब है शरीर योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना और ऐसा संसारी जीवों के लिये अन्तर गति समय भी उपस्थित है। परन्तु स्थानाभाव के कारण वे ग्रहण कर नहीं सकते। स्थान का सद्भाव होने से योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके शरीरपने परिणमाते हैं। पं० सुखलालजी प्रस्तुत सूत्र के गुजराती अनुवाद पृष्ठ १२१ में लिखते हैं ऋजुगति वाले जीव जिस समय पूर्व शरीर का परित्याग करते हैं उसी समय नवीन स्थान प्राप्त करते हैं। समयान्तर नहीं होता इससे एक समय में दो गति का स्पर्श होता है। यह शास्त्र सम्मत नहीं है विचारणीय विषय है। पूर्व भव शरीर द्वारा ग्रहण किये हुवे आहार का समय अथवा नवीन स्थान में ग्रहण किये हुए आहार का समय यही ऋजु गति का समय है। एक विग्रह गति वाले प्रथम समय पूर्व भव द्वारा ग्रहण किये हुए आहार का है और द्वितीय समय उत्पत्ति स्थान में पहुचने का है जो नवीन शरीर को धारण करके आहार ग्रहण करता है। परन्तु तीन समय की दो विग्रह वाली और चार समय की तीन विग्रह वाला गति है वह अनाहारक स्थिति सम्प्राप्त है कारण इसका यह है कि उक्त दोनों गति में प्रथम समय त्यक्त शरीर द्वारा ग्रहण किये हुवे आहार का है। और अन्तिम समय उत्पत्ति स्थान म प्राप्त किये हुवे आहार का है। इस तरह प्रथम और अन्तिम समय को छोड़ के मध्य के समय अनाहारक रहता है। इसलिये द्विविग्रह गति मे एक समय और तीन विग्रह गति मे दो समय अनाहारक कहा है। यही प्रस्तुत सूत्र का आशय है। कई ग्रन्थों में अनाहारक दशा तीन, चार समय की लिखी है वह पाच समय प्राप्त चार विग्रह वाली गति की अपेक्षा है। देखो भगवती सूत्र श० ७ उ० १

प्रश्न—अन्तर गति समय शरीर पोषक आहार स्थूल पुद्गलों के ग्रहण का तो आपने अभाव बताया परन्तु उस समय कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है या नहीं ?

उत्तर—कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है।

प्रश्न—किस तरह ?

उत्तर—संसारी जीव अन्तर गति समय भी कार्मण शरीर युक्त होता है और शरीरजन्य आत्मदशा की प्रकम्पमान अवस्था को कार्मण योग कहते हैं वह अवश्य होती है और जहां योग दशा है वहां कर्मपुद्गलों का ग्रहण अनिवार्य है क्योंकि योग ही कर्म वर्गणा के आकर्षण का कारण है जैसे- पानी की वृष्टि के समय फेंका हुआ संतप्त वाण पानी के कणों को ग्रहण कर के सोषण करता हुवा जाता है। इसी तरह अन्तर गति समय भी कार्मण योग की चंचलता से जीव कर्मवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है और उस को अपने साथ सम्मिलित करके स्थानान्तर लेजाता है ॥ २९-३१ ॥

जन्मयोनि भेद तथा स्वामी

संमूर्छनगर्भोपपाता जन्माः ॥ ३२ ॥

सचित्तशीतसंवृत्ताःसेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३३ ॥

जराय्वण्डपोतजानमूगर्भः ॥ ३४ ॥

नारक देवानामुपपातः ॥ ३५ ॥

शेषाणां संमूर्छनम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—तीन प्रकार के जन्म होते हैं (१) समूर्छम् (२)

गर्भज (३) उपपात ॥ ३२ ॥

उपरोक्त तीन प्रकार का जन्म नौ प्रकार की योनी से होता है (१) सचित्त (२) संवृत (३) शीत, इन के प्रतिपक्षी (१) अचित्त (२) उष्ण (३) विवृत्त तथा तीन मिश्र (१) सचित्ताचित्त, (२) शीतोष्ण, (३) संवृत्तविवृत्त एवं नव ॥ ३३ ॥

जरायुज, अण्डज, पोतज से जन्म लेने वाले प्राणी गर्भज कहलाते हैं ॥ ३४ ॥

नारकी और देवों का उपपात से जन्म होता है ॥ ३५ ॥

शेष सब प्राणियों का समूर्छम जन्म होता है ॥३६॥

विवेचन—(जन्म भेद) वर्त्तमान भव समाप्त होते ही संसारी जीव नवीन भव धारण करता है इसके लिये इनको जन्म लेना पड़ता है परन्तु सब जीवों का जन्म सदृश नहीं होता। उसी का विवेचन करना प्रस्तुत सूत्र का उद्देश है। पूर्व भव के स्थूल शरीर को छोड़ के पश्चात् केवल कार्मण शरीर के साथ नवीन स्थान में आकर भवधारणीय स्थूल शरीर के लिये योग्य पुद्गलों को पहले पहल ग्रहण करना उसी को जन्म कहते हैं। जन्म के तीन भेद हैं (१) समूर्छम, (२) गर्भज, (३) पोतज। माता, पिता के संयोग विना ही उत्पत्ति स्थान में आकर प्रथम समय ग्रहण किये हुवे औदारिकादि पुद्गलों को शरीरपने प्रणमन करना समूर्छम जन्म कहलाता है। तथा मातापिता के संयोग से शुक्र, शोणित पुद्गलों को प्रथम समय ग्रहण करके शरीर बनाना गर्भज जन्म कहलाता है और मातापिता के संबन्ध सिवाय उत्पत्ति स्थान में वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण कर शरीरपने परिणमन करना ही उपपात जन्म कहलाता है ॥ ३२ ॥

योनि भेद—जन्म के लिये कोई स्थान अवश्य चाहिये जिस स्थान में रह कर प्रथम समय ग्रहण किये हुवे औदारिकादि पुद्गलों को शरीरपने परिणमन करना अर्थात् कार्मण शरीर के साथ साथ सम्मिलित होने के स्थान को योनि कहते हैं। योनि नौ प्रकार की होती है। सचित्त, शीत, संवृत्त, अचित्त, उष्ण, विवृत्त, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत्त। (१) जो योनि जीव प्रदेशों से व्याप्त हो उसे सचित्त कहते हैं (२) जीव प्रदेशों से अव्याप्त हो वह अचित्त (३) कोई भाव जीव अधिष्ठित हो और कोई भाव न हो वह मिश्र (४) उत्पत्ति स्थान में शीत स्पर्श हो वह शीत (५) उष्ण स्पर्श हो वह उष्ण योनि (६) किसी भाग में शीत किसी भाग में उष्ण वह शीतोष्ण मिश्र योनि कहलाती है (७) उत्पत्ति स्थान ढका हुवा या दबा हुवा हो उसे संवृत्त (८) आच्छादित (ढका हुवा) न हो उसे विवृत्त (९) कुछ ढका और कुछ खुला हो उसे संवृत्तविवृत्त मिश्र योनि कहते हैं।

कौन जीव किस योनि में उत्पन्न होते हैं इसके लिये—

जीव०	योनि
नारकी, देवता	अचित्त
गर्भज मनुष्य और तिर्यंच	.........सचित्ताचित्त (मिश्र)
बाकी के सब जीव अर्थात् पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज मनुष्य तिर्यंच	सचित्त, अचित्त, और मिश्र
गर्भज मनुष्य, तिर्यंच, देवता और तेजसकाय	शीतोष्ण (मिश्र)
शेष चार स्थावर तीनविकलेन्द्रिय अगर्भज मनुष्य, तिर्यंच और नारकी	शीत, उष्ण और शीतोष्ण (मिश्र)

नारकी, देवता, एकेन्द्रिय	सवृत्त
गर्भज मनुष्य, तिर्यंच	सवृत्त, विवृत्त मिश्र
तीन विकलेन्द्रिय अगर्भजमनुष्य, तियंच	विवृत्त

प्रश्न—योनि और जन्म में क्या भेद है?

उत्तर—योनि आधार और जन्म आधेय है। अर्थात् स्थूल शरीर के लिये योग्य पुद्गलों का प्राथमिक ग्रहण जन्म है और वे पुद्गल जिस जगह पर ग्रहण किये जाय वह योनि कहलाती है।

प्रश्न—योनि चौरासी लक्ष कही जाती है और आप नौ (९) ही कहते हो यह कैसे?

उत्तर—चौरासी लक्ष का कथन है यह सविस्तार दृष्टि से है। पृथ्वीकायादि जिन जिन निकायों के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थानादि तरतम भाव वाले जितने उत्पत्ति स्थान होते हैं उनको पृथक २ गिनने से चौरासी लक्ष योनि होती है। प्रस्तुत सूत्र में चौरासी लक्ष योनि को ही सचित्तादि रूप द्वारा संक्षेप विभाग से नौ भेद करके बताये गये हैं॥ ३२॥

जन्म स्वामी—उपरोक्त तीन प्रकार के (समू० गर्भज, पोतज) जन्म बताये हैं। उस के अधिकारी कौन है उसी को सूत्रकार बताते हैं।

जरायुज, अडज, और पोतज प्राणी गर्भ जन्म वाले होते हैं॥ ३४॥

देवता व नारकी उपपात जन्म वाले होते हैं॥ ३५॥

शेष पाच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज मनुष्य, तिर्यंच समूर्छम जन्म वाले होते हैं॥ ३६॥

जरायुज = मनुष्य, गाय, भैंस, बकरी आदि जाति वाले जीवों पर एक प्रकार का जाल जैसा आवरण होता है और वह मांस व खून से भरा रहता है और उत्पन्न होने वाला बच्चा उसमें लिपटा रहता है उसको जरायुज कहते हैं।

अंडज* = अंडे से उत्पन्न होने वाले बच्चे को अंडज कहते हैं। जैसे—सांप, मयूर, कबूतर, कौआ आदि।

पोतज = जिन जीवों के बच्चों पर किसी प्रकार का आवरण नहीं होता वे पोतज कहलाते हैं। जैसे—हाथी, खरला, चूहा आदि जो खुले शरीर पैदा होने वाले हैं।

उपपात = देवता व नारकी जिस नियत स्थान में उत्पन्न होते हैं उसको उपपात कहते हैं। जैसे—देव शय्या यह देवों के उत्पत्ति का स्थान है। नारकी वज्रमय भींत के गवाक्ष में उत्पन्न होते हैं। उनके लिये यही उत्पत्ति स्थान है। ये अपने उपपात क्षेत्र में रहे हुए वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण करके शरीर पर्याप्ति समाप्त होते हैं।

समूर्छम = मल, मूत्र, श्लेष्मादि पदार्थों में स्वयम् उत्पन्न होनेवाले जीवधारियों को समूर्छम कहते हैं। जैसे—पांच स्थावर और तीन विकलेन्द्रिय आदि ॥ ३२-३६ ॥

शारीरिक विषयी।

औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३७ ॥

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३८ ॥

---

* कांटा, टीड, बिच्छू आदि कई समूर्च्छिम जाति के जीव भी अंडों से उत्पन्न होते हैं।

प्रदेशतेऽसख्येयगुण प्राक्तैजसात् ॥ ३६ ॥

अनन्तगुणे परे ॥ ४० ॥

अप्रतिघाते ॥ ४१ ॥

अनादिसबन्धेच ॥ ४२ ॥

सर्वस्य ॥ ४३ ॥

तदादिनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्य ॥ ४४ ॥

निरुपभोगमत्यम् ॥ ४५ ॥

गर्भसमूर्छनजमाद्यम् ॥ ४६ ॥

वैक्रियमौपपतिकम् ॥ ४७ ॥

लब्धिप्रत्ययच ॥ ४८ ॥

शुभविशुद्धमव्याघाति चाहारक चतुर्दशपूर्वधारस्यैव ॥४९॥

अर्थ—शरीर पाच प्रकार के हैं (१) औदारिक (२) वैक्रिय (३) आहारक (४) तेजस (५) कार्मण ॥ ३७ ॥

उपरोक्त पाचों शरीर यथा अनुक्रम पूर्व से पर (आगे आगे) के सूक्ष्म हैं ॥ ३८ ॥

तेजस के पूर्ववर्ती तीनों शरीर के प्रदेश परस्पर उत्तरोत्तर असख्यात गुणे अधिक हैं ॥ ३९ ॥

परे अर्थात् तेजस, कार्मण के प्रदेश अनन्तगुणे अधिक हैं ॥ ४० ॥

अन्त के दो शरीर (तेजस, कार्मण) अप्रतिघाती है

अर्थात् इनकी रुकावट कहीं नहीं होती ॥ ४१ ॥

और इन दोनों (तै० का०) के साथ जीव का अनादि सम्बन्ध है ॥ ४२ ॥

उक्त दोनों शरीर (तै० का०) सब संसारी जीवों के होता है ॥ ४३ ॥

उन दोनों को (तै० का०) आदि लेके एक समय एक जीव के चार शरीर पर्यंत विकल्प से होते हैं ॥ ४४ ॥

अन्तका (कारमण) शरीर उपयोग रहित है अर्थात् सुख दुःख के अनुभव से रहित है ॥ ४५ ॥

प्रथम का (औदारिक) शरीर सम्मूर्छन तथा गर्भज रूप जन्म से उत्पन्न होता है ॥ ४६ ॥

वैक्रिय शरीर उपपात जन्म से उत्पन्न होता है ॥ ४७ ॥

और वह लब्धि प्रत्यय भी होता है ॥ ४८ ॥

आहारक शरीर शुभ पुद्गलजन्य विशुद्ध=निष्पाप कार्य कारी और व्याघात रहित होता है और चौदह पूर्वधर मुनिजनों को ही प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

विवेचन—शरीर के आरंभ का कारण जन्म है अत, जन्म के पश्चात् शरीर का वर्णन करते हुए तत् सम्बन्धी अनेक विचार प्रदर्शक सूत्र क्रमानुसार व्याख्या करते हैं।

(१) शरीर भेद—देहधारी जीव अनन्त हैं और वे भिन्न शरीरी होने से व्यक्तिगत भी अनन्त हैं। परन्तु यह बात अवश्य जानने योग्य है कि औदारिक, वैक्रिय और आहारक भिन्न शरीरी जीव असंख्याते ही हैं। भिन्न शरीरी अर्थात् प्रत्येक शरीर को धारण करने वाले उक्त (औ० वै० आ०) जीव असंख्याते ही

है परन्तु तेजस कार्मण की अपेक्षा से भिन्न शरीरी अनन्त जीव हैं। उनके कार्य कारण की सादृश्यतापेक्षा से संक्षेप रूप पांच विभाग किये गये हैं यथा-(१) औदारिक (२) वैक्रिय (३) आहारक (४) तेजस (५) कार्मण।

(१) जीव के क्रिया करने का जो साधन है उसे शरीर कहते हैं। जिस शरीर का छेदन, भेदन, प्रजालनादि हो सके उसको औदारिक शरीर कहते हैं।

(२) जिस शरीर का आवश्यकतानुसार संकोच विकास अर्थात् कभी छोटा कभी बड़ा, कभी मोटा, कभी पतला, कभी एक, कभी अनेक इत्यादि विविध प्रकार के रूप को धारण कर सके उसे वैक्रिय शरीर कहते हैं।

(३) जो शरीर केवल चौदह पूर्वधर मुनिराज ही अपनी धार्मिक शंका समाधान करने के लिये नवीन रूप बना कर तीर्थंकर या केवली के पास भेजते हैं उसको आहारक शरीर कहते हैं।

(४) जो शरीर तेजोमय अर्थात् ग्रहण किये हुए आहारादि को पचाने तथा देदिप्यमान करने के लिये कारणभूत हो उसे तेजस शरीर कहते हैं।

(५) कर्म समूह को कार्मण शरीर कहते हैं।

उक्त शरीर संसारी जीवों के होता हैं ॥ ३७ ॥

(२) स्थूल तथा सूक्ष्म भाव = उक्त पांचों शरीर में औदारिक सब से स्थूल है। इससे वैक्रिय शरीर सूक्ष्म है। वैक्रिय से आहारक शरीर सूक्ष्म है इसी तरह आहारक से तेजस और तेजस से कार्मण सूक्ष्म सूक्ष्मतर है।

प्रश्न—यहां सूक्ष्म और स्थूल कहने का तात्पर्य क्या है?

उत्तर—शरीर की शिथिलता और सघनतापेक्षा यहां स्थूल, और सूक्ष्मता का वर्णन है। औदारिक से वैक्रिय सूक्ष्म है परन्तु आहारक से स्थूल है। इसी तरह आहारकादि शरीर पूर्व पूर्व की अपेक्षा से सूक्ष्म और उत्तर उत्तर की अपेक्षा से स्थूल है अर्थात् यह सूक्ष्म और स्थूल भाव परस्पर की सापेक्षता से है। जिस शरीर की रचना अन्य शरीर की रचना से शिथिल हो वह स्थूल है और जो स्थूल अपेक्षा सघन हो वह सूक्ष्म। रचना की शिथिलता और सघनता का आधार पौद्गलिक परिणती पर है। पुद्गल अनेक प्रकार परिणमन स्वभावी हैं। वे उत्तर की अपेक्षा से परिणाम रूप थोड़े होते हुए भी यदि शिथिल रूप में परिणत होते हैं तब वे स्थूल कहलाते हैं और पूर्व की अपेक्षा से अधिक परिणाम वाले होते हुए भी यदि सघनता को प्राप्त होते जाय तो वे सूक्ष्म सूक्ष्मतर कहलावेगे। जैसे-आक और सीसम की लकड़ी तोल में बराबर बराबर परिणामवाली होने पर भी आकार में न्यूनाधिक पना दिखाई देता है वह उसकी सघनता, शिथिलता का कारण है। शिथिल पुद्गल हैं वे स्थूल रूप हैं और सघन=गाढ़ हैं वे सूक्ष्म रूप से दिखाई देते हैं ॥ ३८ ॥

उपादान द्रव्य परिमाण=उपरोक्त व्याख्यासे यह स्पष्ट हो गया कि जो स्थूल और सूक्ष्म शरीर है वह आरंभ अवस्था मे पूर्व पूर्व शरीरसे उत्तर उत्तर शरीरके आरंभिक द्रव्य परिणामसे अधिक अधिक होते हैं। तथापि उनमें कितनी अधिकता है उसी का स्पष्टीकरण उक्त (३९-४०) दो सूत्रों द्वारा करते हैं।

शरीरका निर्माण परमाणुओंके स्कन्धोंसे होता है। जो परमाणु स्कन्धरूप में परिवर्तित हुए हैं वेही शरीर परिणतिको प्राप्त हो सकते हैं। पृथक् २ परमाणु रूपमें रहे हुए परमाणुओं से

शरीर नहीं बनता। परमाणुओं के पुजको स्कन्ध कहते हैं और उसीसे शरीर बनता है। वे स्कन्ध परिमाणसे अनन्त अणुओंवाले होतेहैं। अर्थात् अभव्यसे अनन्तगुणे और सिद्धके अनन्तवें भागकी राशिके परिमाणवाले होते हैं।

औदारिक शरीरके प्रारम्भ स्कन्धोंसे वैक्रियशरीर प्रारभ स्कन्धोंके परमाणु असख्यातगुणे हैं। अर्थात् औदारिकशरीर के प्रारभ स्कन्ध अनन्त परमाणुओं से बने हुए हैं और वैक्रियशरीर के स्कन्ध भी अनन्त परमाणुओं के बने हैं तथापि वैक्रिय शरीर स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त सख्या है वह औदारिक शरीर स्कन्धगत अनन्त परमाणुओं की सख्या से असख्यातगुणी अधिक है इसी तरह वैक्रिय और आहारक शरीर योग्य स्कन्धगत परमाणुओं की सख्या परस्पर असख्यात गुणी समझनी चाहिये। आहारक शरीर योग्यगत अनन्तपरमाणुओं की सख्या से तैजस शरीर स्कन्धगत परमाणुओं की सख्या अनन्तगुणी अधिक है इसी तरह तैजस से कर्मण शरीर योग्य स्कन्धगत परमाणु अनन्त, गुणे अधिक हैं।

इस विषय में सब आचार्यों का मन्तव्य सदृश नहीं है। कई औदारिकादि पाचों शरीर योग्य स्कन्धगत परमाणुओं को परस्पर साधिक मानते हैं और कई सब को अनन्तगुणे कहते हैं। इसका सविस्तार विवेचन भाषान्तर ग्रन्थों में देखना हो तो विशेषावश्यक भाष्य सूत्र ६३१ आदि का गुजराती अनुवाद तथा कर्म प्रकृति ग्रन्थ गाथा १८ का गुजराती अनुवाद और भी कर्मग्रन्थादि प्रकरणों में इस विषय की स्पष्टरूप से चरचा है। परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि पूर्व पूर्व शरीर से उत्तर उत्तर शरीर योग्य स्कन्धगत परमाणु अधिक, अधिकतर, अधिकतम अवश्य है और परिणमन की विचित्रता से वे उत्तरोत्तर निबड, निबडतर,

निवड़तम (घनरूप) होते हुए भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर रूप से परिणमन होते हैं।

अन्त के दो शरीरों की विशेषता—पूर्वोक्त पांच शरीरों में से प्रथम के तीन और अन्त के दो शरीरों में परस्पर जो भिन्नता है उसको तीन प्रकार से तीन सूत्रों द्वारा बताते हैं।

तेजस और कार्मण शरीर अप्रतिघाती हैं इनको समग्र लोक में किसी की रुकावट नहीं होती वे कठिन से कठिन वज्र सरीखी वस्तुओं में भी विना किसी प्रकार की रुकावट के सरलता से प्रवेश कर जाते हैं क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं यद्यपि मूर्तिमान पदार्थ से मूर्तिमान पदार्थ का प्रतिघात होता है। यह केवल स्थूल वस्तुओं के लिये है। किन्तु सूक्ष्मके लिये नहीं है। सूक्ष्म वस्तु समस्तलोक में विना रुकावट के प्रवेश करती है। जैसे लोहे में अग्नि।

प्रश्न—वैक्रिय और आहारक को भी अप्रतिघाती कहना चाहिये क्योंकि पूर्व (औदारिक) शरीर से वे सूक्ष्म हैं?

उत्तर—यह यथार्थ है वैक्रिय और आहारकशरीर भी प्रतिघात विना प्रवेश करते हैं परन्तु यहां प्रतिघातक उसी को माना है जिसकी लोकान्तपर्यन्त अव्याहत यानि अस्खलित गति हो। तात्पर्य यह है कि जिसकी लोकान्तपर्यन्त रुकावट न हो उस को अप्रतिघातक मानाहै। वैक्रिय, आहारक भी अव्याहतगति वाले हैं परन्तु तेजस, कार्मण के समान सम्पूर्ण लोक में उनकी अव्याहत गति नहीं है। केवल लोककी त्रसनाड़ीमें ही नियत स्थान पर्यन्त अव्याहत गति करसकते हैं।

जैसा तेजस और कार्मण शरीरका आत्मा के साथ अनादि प्रवाहरूप संबन्ध है वैसे प्रथम के तीन शरीरों का नहीं

है। अवस्था के अनुसार उन (औ० वै० आ०) का परिवर्तन होता रहता है। स्वअवस्थामें नियमानुसार स्थायीरूप रह सकते हैं। पश्चात् उनका अवश्य परिवर्तन होता है इसलिये कथंचित स्थायी सम्बन्ध वाले कहे गये हैं और तेजस, कार्मण अनादि प्रवाहरूप वाले हैं।

प्रश्न—जिसका जीव के साथ अनादि सम्बन्ध है उसका कदापि अभाव न होना चाहिये ?

उत्तर—उपरोक्त दोनों शरीर प्रवाहकी अपेक्षा से अनादि है किन्तु व्यक्तिगतापेक्षा अनादि नहीं हैं इसलिये ये उनका अप चय, उपचय हुआ करता है। जो वस्तु भावात्मक व्यक्तिरूप से अनादि हो उसका नाश नहीं होता। जैसे—परमाणु।

जितने संसारी जीव हैं वे सब तेजस, कार्मण शरीर को धारण करने वाले हैं। परन्तु औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर को सम्पूर्ण जीव धारण नहीं करते। जैसे-देवता, नारकी मे केवल वैक्रिय शरीर होता है, चौदह पूर्व के पाठी प्रमत्त मुनि राज ही आहारक शरीर बनाते हैं इत्यादि कितनेक जीव औदा रिक शरीर के स्वामी हैं।

प्रश्न—तेजस और कार्मण शरीर के, परस्पर कौनसी विशेषता और कितना अन्तर है ?

उत्तर—सम्पूर्ण शरीरों का मूल कारण कार्मण शरीर ही है क्योंकि वह कर्मस्वरूप है और सब कार्यों का निमित्त कारण है वह भी कर्म ही है। कार्मण के समान तेजस शरीर कारण रूप नहीं है। यह सबके साथ अनादि सबन्ध से रहकर भुक्त आहार को पाचनादि में सहायक होता है॥ ४१-४३॥

लभ्यमान शरीर—संसारी जीवों को ससार काल

पर्यन्त तेजस, कार्मण शरीर अवश्य होता है परन्तु औदारिकादि शरीर बदलता रहता है अर्थात् उनकी अवस्था के अनुसार परिवर्तन हुआ करता है। इसीलिये यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रत्येक जीव को एक समय जघन्य, उत्कृष्ट कितने शरीर होते हैं? इसीका उत्तर शास्त्रकार प्रस्तुत सूत्र द्वारा देते हैं।

संसारी एक जीव को एक साथ जघन्य दो शरीर होते हैं और उत्कृष्ट चार शरीर होते हैं किन्तु पांच शरीर एक साथ किसी समय भी नहीं होते। दो शरीर होते हैं उस समय तेजस, कार्मण होते हैं और तीन होते हैं उस समय पूर्वोक्त दो के साथ औदारिक या वैक्रिय होता है और चार शरीर होते हैं उस समय तेजस, कार्मण, औदारिक, वैक्रिय अथवा तेजस, कार्मण औदारिक और आहारक इस तरह विकल्प से होते हैं। परन्तु पांचों शरीर एक साथ नहीं होते। दो शरीर बताये वे गत्यान्तर में होते है, उस समय अन्य शरीर नहीं रहता। तीन शरीर मनुष्य तिर्यंच अथवा देवता, नारकी के जीवों में आजन्म पर्यन्त रहता है और चार शरीर के दो विकल्प बताये है। उसमें पहला विकल्प (ते० का० औ० वै०) वैक्रिय प्रयुंजक मनुष्य, तिर्यंचों में होता है और दूसरा विकल्प मात्र चौदह पूर्वधर मुनिराज को आहारक लब्धि प्रयुंजते अर्थात् प्रयोग समय होता है। पांच शरीर एक साथ नहीं होते जिसका कारण यह है कि वैक्रिय और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ नहीं होता क्योंकि वैक्रिय लब्धि है वह केवल प्रमत दशा में होती है और आहारक लब्धि प्रयोग पश्चात् मुनि अप्रमत दशा को प्राप्त होता है। प्रयोग के समय तो प्रमत रहता है परन्तु आहारक शरीर बनाने के पश्चात् शुद्ध अध्य-

वसाय सभवितहोनेसे अप्रमत भाव प्रगट होता है। प्रस्तुत सूत्र का आशय है कि चार शरीर एक साथ हो सकते हैं परन्तु पाच शरीर नहीं होते यही दिखाया है। यद्यपि आहारक लब्धिवाले मुनि को वैक्रिय लब्धि की योग्यता भी सभवित है परन्तु प्रस्तुत सूत्र केवल आविर्भावपेक्षी है। शक्तिरूप से पाचों शरीर एक साथ रहते हैं।

प्रश्न—उक्त रीति से तीन या चार शरीरों के साथ एक समय एक जीव का सम्बन्ध कैसे घट सकता है?

उत्तर—जैसे-एक प्रदीप का प्रकाश अनेक वस्तुओं पर एक साथ पड़ता है वैसे ही एक जीव का अनेक शरीरों के सा थ सम्बन्ध हो सकता है।

प्रश्न—किसी समय एक जीव के एक शरीर नहीं हो सकता?

उत्तर—उपरोक्त व्याख्या की गई है वह सामान्य सिद्धात अपेक्षा है। इस विषयमें कई आचार्यों का मत है कि कामणशरीर के समान तेजसशरीर यावत्ससार भावी नहीं है। किन्तु आहारक लब्धि के समान लब्धि जन्य है। इसलिये विग्रहगति में मात्र कार्मण शरीर होता है और चतुथ कर्मग्रन्थ में अनाहारक मार्गणा विषय एक कार्मण कार्ययोग ही कहा है और सामायिक चारित्र मार्गणा में तेजस, कामण योग का अभाव कहा है इत्यादि अनेक प्रकार के मतान्तर अन्य ग्रन्थों में पाये जाते हैं और एक शरीर भी सभवित होता है॥ ४४॥

प्रयोजन—विना प्रयोजन कोई वस्तु नहीं होती प्रत्येक वस्तु में कोइ न कोई प्रयोजन अवश्य रहता है। इसलिये शरीर भी सप्रयोजन होना चाहिये इसका मुख्य प्रयोजन क्या है? और

वह सब शरीरों में सामान्य रूप है या विशेषता वाला है ? इसी का यहां उत्तर दियागया है कि शरीर का मुख्य प्रयोजन उपभोग है। जो प्रथम के चार शरीरों में सिद्ध है केवल अन्तिम कार्मणशरीर से सिद्ध नहीं होता इसलिये कार्मण शरीर को निरुपभोग अर्थात् उपभोग रहित माना है।

प्रश्न—उपभोग किसे कहते है ?

उत्तर—इन्द्रियों द्वारा शुभाशुभ शब्दादि विषयोंको ग्रहण कर उसके सुख दु खादि का अनुभव करना तथा हाथ, पांव आदि अवयवों द्वारा दान, हिंसादि से शुभाशुभ क्रिया करके शुभाशुभ कर्म रूप वन्धन को प्राप्त करना और पवित्र अनुष्ठानों द्वारा कर्म की निर्जरा अर्थात् क्षय करना इसको उपभोग कहते हैं।

प्रश्न—औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर सेन्द्रिय तथा सावयव है इसलिये उक्त प्रकार का उपभोग साध्य हो सकता है परन्तु तेजस शरीर से वह असंभवित है क्योंकि वह इन्द्रिय और अवयवों से रहित है। विना इन्द्रिय और अवयवों के उपभोग का अनुभव नहीं हो सकता ?

उत्तर—तेजस शरीर सेन्द्रिय और सावधान=हस्तपादादि युक्त नहीं है तथापि इसका उपभोग पाचनादि कार्य में होता है। जिससे सुख, दु ख का अनुभव सिद्ध नहीं है और दूसरा कार्य स्राप, अनुग्रह रूप है अथवा पाचनादि कार्य में तेजस शरीर का उपभोग समस्त संसारी जीव करते हैं और विशिष्ट तप के करने वाले तपस्वी अपनी तपस्या की प्रवलता से तेजस लब्धि संप्राप्त है वे कुपित होने पर भस्मीभूत कर सकते है और किसी पर प्रसन्न होके उसे शान्ति भी दे सकते हैं। इसलिये स्राप अनुग्रह में उपयोग होने से सुख दुख का अनुभव तथा शुभाशुभ कर्मव-

न्धादि होता है इस हेतु से उपभोगयुक्त माना गया है।

प्रश्न—इस सूक्ष्म दृष्टि से तो कार्मण शरीर भी उपभोग युक्त माना जासकता है क्योंकि अन्य शरीरों के उत्पत्ति का मूल कारण यही है। वास्तविक रूप से देखा जाय तो अन्य शरीर का उपभोग है वह कार्मण का ही उपभोग है बिना कामण के उनकी उत्पत्ति ही नहीं है इसलिये इसे निरूपभोग कैसे कह सकते हैं?

उत्तर—ठीक है। उपरोक्त रीति से कार्मण को सउपभोग कह सकते हैं। परन्तु यहा निरूपभोग कहने का अभिप्राय रूपसे उपभोगको सिद्ध करने के लिये औदारिकादि चारों शरीर ही मुख्य है इस हेतुसे इन "चारों" को उपभोगसहित माना है और कार्मण परम्परारूप साधन होनेसे कारण निरूपभोग कहा है।

तत्वार्थभाष्य अध्याय २ सूत्र ४५ के हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ८३ में लिखा है कि कार्मण शरीर से कर्मों का बन्धन, कर्मों की निर्जरा नहीं होती परन्तु कर्मग्रन्थ में कार्मण काय योगी जीव को ७ या ८ कर्मका बन्धक कहा है॥ ४५॥

जन्मसिद्ध तथा कृत्रिमता—यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि उक्त पाच शरीरोंमे कितने जन्म सिद्ध हैं और कितने कृत्रिम हैं? जन्मसिद्ध कौनसा शरीर किस जन्म से प्राप्त होता है? और कृत्रिम कहनेका कारण क्या है? इसीका चार सूत्रों द्वारा प्रतिपादन करते हैं।

तेजस और कार्मण शरीर जन्मसिद्ध भी नहीं है और कृत्रिम भी नहीं है क्योंकि पूर्व और उत्तर दोनों अवस्था मे होते हैं इसलिये अनादि सम्बन्ध वाले हैं। औदारिक शरीर जन्म सिद्ध है और वह गर्भज तथा सम्मूर्छिम दो प्रकार के जन्म से प्राप्त होता है तथा स्वामी इसका तिर्यंच, मनुष्य है। वैक्रिय शरीर जन्मसिद्ध

और कृत्रिम दोनों प्रकार से होता है। नारकी, देवता को वह जन्मसिद्ध ही है। कृत्रिम, वैक्रियशरीर लब्धिजन्य है और तपोबल से प्रगट होता है इसके स्वामी गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यंच हैं तथा इसके लिये एक प्रकारकी दूसरी लब्धि भी मानी गई है। वह तपो जन्य नहीं है। इसके अधिकारी वायुकाय माने गये हैं। इन में जो वैक्रिय शरीर माना है वह कृत्रिम वैक्रिय एक प्रकार की लब्धिजन्य स्वाभाविकता से उत्पन्न होता है। आहारक शरीर केवल कृत्रिम ही होता है इसका कारण विशिष्ट लब्धि जन्य है तथा अधिकारी केवल मनुष्य वह भी संयति, चौदह पूर्व का पाठी ही है।

प्रश्न—चौदह पूर्व के पाठी इस लब्धि का उपयोग किस लिये करते हैं ?

उत्तर—जब उनको किसी सूक्ष्म विषयमें सन्देह उत्पन्न होता है उसको निवारण करनेकेलिये वे आहारकशरीरका उपयोग करते हैं अर्थात् उनको दार्शनिक विषयमें किसी प्रकारकी शंकासमाधान करना हो और उस समय सर्वज्ञका संनिधान न हो औदारिक शरीर से अन्य क्षेत्रमें जाना असंभवित हो उस समय वे अपनी विशिष्ट लब्धि का प्रयोग करते हैं और उसके द्वारा किंचित् न्यून एक हाथ का शरीर बनाते हैं। वह शुभ पुद्गलों से अतीव सुन्दर और अत्यन्त सूक्ष्म होता है उसको किसी प्रकार का व्याघात नहीं होता अर्थात् किसीके रोकनेसे नहीं रुकता। प्रशस्त उद्देश वाला होने से निर्वद्य होता है। वह अन्य क्षेत्रमें सर्वज्ञके समीप जाके उन चौदह पूर्वीके शंकाका समाधान करता है। इस की स्थिति अन्तर मुहूर्त की है। वह अपनी बध्यस्थिति में शंका निवारण करके स्वस्थान आकर विसर्जन होता है।

तेजस शरीर को भी कई आचार्य लब्धि जन्य मानते हैं और कई नहीं भी मानते। परन्तु जैसा वैक्रिय, आहारक शरीरका यथारूप आविर्भाव है वैसा तेजस शरीर का नहीं है। वह केवल प्रयोग कार्य जन्य लब्धि रूप है ॥ ३७-४६ ॥

लिंग (वेद) विभाग।

नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

न देवाः ॥ ५१ ॥

अर्थ—नारकी और सम्मूर्छम नपुंसक होते हैं ॥ ५० ॥

देवता नपुंसक नहीं होते ॥ ५१ ॥

विवेचन—शरीर वर्णन के पश्चात् लिंग (वेद) का प्रश्न उपस्थित होता है। संसारकी मनुष्यादि चार गतियोंमें लिंग का क्या नियम है उसे बताते हैं। औदायिक भावों की व्याख्या अ० २ सूत्र ६ में कह आये हैं कि वेद तीन हैं (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) इसी को लिंग भी कहते हैं। चारित्र मोहनीय कषाय का आगे वर्णन किया जायगा वहां भी तीन प्रकार के वेद की ही व्याख्या होगी।

उपरोक्त लिंग अर्थात् वेद (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) दो प्रकार के होते हैं (१) द्रव्य वेद, (२) भाव वेद। द्रव्य वेद का अर्थ चिह्न अर्थात् आकार विशेष है और भाव वेद का अर्थ विषय की अभिलाषा जिसको इच्छा कहते हैं।

(१) जिस चिह्न द्वारा पुरुषकी पहचान की जाय उसे पुरुष वेद कहते हैं। यह द्रव्य वेद है। स्त्रीसंसग या सुरतकी अभिलाषा को भाव पुरुष वेद कहते हैं।

(२) स्त्रीत्व के पहचान का जो साधन है उसे स्त्री वेद

कहते हैं। यह द्रव्य स्त्री वेद है। जो पुरुष प्रत्यपि संसर्ग या सुख की अभिलाषा वह भाव स्त्री वेद कहलाता है।

(३) जिसमें स्त्रीत्व, पुरुषत्व दोनों के चिह्न पाये जांय या दोनों से विपरीत चिह्न हो उसे द्रव्य नपुंसक वेद कहते हैं और स्त्री, पुरुष दोनों के संसर्गकी अभिलाषा हो उसको भाव नपुंसक वेद कहते है।

द्रव्य वेद पौद्गलाकृति रूप, नामकर्म उदय फलस्वरूप है और भाववेद है वह एक प्रकार का मनोविकार रूप मोहनीय कर्म का फल है। द्रव्य और भाव वेद का परस्पर साध्य, साधन, पोष्य, पोषक सम्बन्ध है।

विभाग—नारकी और सम्मूर्छम जीव नपुंसकवेदी होते हैं। देवताओं को नपुंसक वेद नहीं होता वे स्त्री, पुरुषवेदी होते हैं। शेष गर्भज मनुष्य गर्भज तिर्यंचों को तीनों वेद होते हैं अर्थात् कोई स्त्री, कोई पुरुष, कोई नपुंसक वेदी होता है।

विकार की तरतमता—तीनों वेद के विकार की स्थायी रूप से तुलना कीजाय तो पुरुषवेद का स्थायीरूप विकार सबसे न्यून समयवर्ती है तथा पुरुषवेदसे स्त्रीवेद का स्थायी विकार विशेष समय वाला है और इससे भी नपुंसक वेदका स्थायी विकार अधिक समय वाला है। इसकेलिये यह उपमा बताई गई है कि पुरुष वेदका विकार प्रज्वलित घास की अग्नि के समान है वह शरीरकी रचना विशेषसे शीघ्र प्रगट होता है और शीघ्र ही शान्त भी हो जाता है। स्त्री वेद का विकार अंगारा के समान है। वह पुरुषवेद के समान शीघ्रता से शान्त नहीं होता। और नपुंसक वेदका विकार तपी हुई ईंट के समान है। वह बहुत समय के पश्चात् शान्त होता है। स्त्री में कोमलत्व, पुरुषमें कठोरत्व और

नपुसकमें उभयभाव की मुख्यता रहती है ॥ ५०-५१ ॥

आयुष्य भेद और उसके स्वामी।

औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षाऽयुषोऽनपवर्त्यायुष ॥ ५२ ॥

अर्थ—औपपातिक, " नारकी, देवता " चरम शरीरी, उत्तमपुरुष और असंख्यातवर्षजीवी ये सब अनपवर्तनीय आयुष्य वाले होते हैं ॥ ५२ ॥

विवेचन—संसारकी चार गतियों में आयुष्य स्थिति की क्या व्यवस्था है ? क्योंकि युद्धादि विप्लवों मे हजारों हृष्ट पुष्ट नवयुवक मरते दिखाई देते है और वृद्धावस्था से जर्जरित देहवाले भयानक आफतोंमें से बचते हुए देख यह संदेह होता है कि क्या अकाल मृत्यु है ? जिससे अनेक व्यक्ति एक ही साथ मृत्यु शय्या ेे जाते हैं और कई मर्णान्त कष्ट को पाकर भी जीवित रहते हैं। इसीका यहा स्पष्टीकरण करते हैं।

आयुष्य दो प्रकार का होता है (१) अपवर्तनीयायुष्य, (२) अनपवर्तनीयायुष्य। जो आयुष्य बन्धसमय की स्थिति के बिना परिपूर्ण हुए शीघ्रता से भोगलिया जाता है। उसे अपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं और आयुष्य के बन्धकालकी स्थिति परिपूर्ण होनेसे पहले जो समाप्त नहीं होता उसे अनपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं। अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयुष्यका बन्ध स्वाभाविक नहीं होता वह परिणामोंके तारतम्य भावोंपर अवलम्बित है। भावी जन्म के आयुष्यका निर्माण वर्तमान जन्ममें होता है। आयुष्यबन्ध के समय परिणामोंकी शिथिलतासे शिथिलबन्ध होता है और निमित्त मिलने पर काल मर्य्यादा घट जाती है। उसे अपवर्तनीय

आयुष्य कहते हैं। इससे विपरीत अर्थात् परिणामों की तीव्रता से आयुष्यका बन्ध प्रगाढ़ होता है। उसे कैसा भी कारण क्यों न प्राप्त हो परन्तु अपनी मर्यादित काल स्थिति से कदापि न्यून नहीं होता। उसे अनपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं। जैसे-अपने बल पूर्वक अत्यन्त दृढ़ता से खड़े हुए पुरुषोंको कोई भेद नहीं सकता और यदि वे शिथिलता से अनउपयोग खड़े हैं तो साध्य हो सकते हैं अथवा यदि कोई पुरुष किसी वस्तु की गठड़ी बांधकर अपने कन्धे पर उठाये हुए किसी चिन्तित स्थान पर जा रहा है। यदि उसकी गांठ शिथिल बन्धी हुई है तो योग्य निमित्त मिलनेपर विना प्रयास केही खुल जायगी और यदि वह गांठ प्रबल यानि प्रगाढ़ बन्धी हुई है तो कैसा भी कारण क्यों न प्राप्त हो वह रास्ते में खुल नहीं सकती। इसीतरह तीव्र परिणाम से बन्धा हुआ आयुष्य शस्त्र विषादि के प्रयोग होने पर भी अपने नियतकाल की मर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होता और मन्द परिणाम से उपार्जित किया हुआ शिथिल बन्धवाला आयुष्य विष, शस्त्रादि प्रयोग प्राप्त होते ही अपनी नियतकालकी मर्यादा के पहले अन्तर मुहूर्त मात्र में सम्पूर्ण भोगलिया जाता है। इस तरह आयुष्य के शीघ्र भोग को ही अपवर्तन अर्थात् अकाल मृत्यु कहते हैं और नियत स्थिति-वाले भोगको अनपवर्तनीय अर्थात् कालमृत्यु कहते हैं। अपवर्तन आयुष्य सोपक्रम अर्थात् उपक्रम सहित होता है। तीव्र शस्त्र, तीव्र विष, तीव्र अग्नि आदि के निमित्त से जो अकाल मृत्यु होती है उस निमित्त प्राप्ति को उपक्रम कहते हैं। ऐसा उपक्रम अपवर्तनीय आयुष्य को अवश्य संप्राप्त होता है। क्योंकि वह आयुष्य नीयत कालकी मर्यादा विना प्राप्त हुएही भोगने योग्य होता है परन्तु अपवर्तनीय आयुष्य सोपक्रम और निरुपक्रम दोनों प्रकार का होता

है। उक्त आयुष्यको अकालमृत्युके योग्य निमित्त प्राप्त होते भी हैं और नहींभी होते। यदि यथोक्त निमित्त सनिधान हो भी जाय अर्थात् अकालमृत्यु के सयोग प्राप्त हो भी जाय परन्तु अनपवत नीय आयुष्य अपनी नियत काल मर्यादा के पहले कदापि पूर्ण नहीं होता।

अधिकारी—अनपवर्तनीय आयुष्य के अधिकारी औपपातिक अर्थात् उपपात सज्ञक जन्मवाले देवता, नारकी, तथा चरम देह=तद्भव मोक्षगामी, उत्तम पुरुष=तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेवादि और असख्येय वर्षायुष्य वाले होते हैं। परन्तु इसमें औपपातिक (देवता, नारकी) और असख्येय वर्ष आयुष्यवाले कई मनुष्य, तिर्यच निरुपक्रम=अनपवर्तनीय आयुष्यवालेही होते हैं। तथा चरम शरीरी और उत्तम पुरुष सोपक्रम, निरुपक्रम दोनों प्रकार के अनपवर्तनीय आयुष्यवाले होते हैं। इनके सिवाय शेष सब ससारी जीव अपवर्तनीय, अनपवर्तनीय दोनों प्रकार के आयुष्य वाले होते हैं।

प्रश्न—नियतकालस्थिति के पहले ही आयुष्य कर्म अपवर्तित हो जाय अर्थात् न्यून या नष्ट हो जाय तो कृत नाश, अकृतागम और निष्फलता दोष प्राप्त होता है? जो शास्त्र को अमान्य है।

उत्तर—कोई भी कर्म विना भोगे नष्ट नहीं हो सकता उसका प्रदेशोदय अथवा विपाकोदय अवश्य भोगना पडता है। प्रदेशोदय कर्म के विपाक (सुखदु खादि) जीव को अनुभव नहीं होते और विपाकोदयी सुख दु ख अनुभव होते हैं आयुष्य कम को छोड के शेप कर्म दोनों प्रकार से भोगे जाते हैं। परन्तु आयुष्य कर्म विपाक अनुभव किये विना कदापि छूट नहीं सकता। दीर्घ काल के आयुष्य को शीघ्र भोगलेने में कृतनाश और निष्फलता

दोष प्राप्त नहीं हो सकता और शिथिलबन्ध कर्मानुसार प्राप्त होनेवाली मृत्यु से अकृतकर्मके आगमनका दोषारोपण भी नहीं होता। जैसे—घनीभूत शुष्क तृणराशिमें एक किनारे अग्नि की चिनगारी लगादेनेसे वह एकैक तृणको जलाती हुई बहुत काल मे उस गंजीको जलावेगी और यदि उसीके चारों तर्फ अग्निकी चिनगारियां रखदी जाय और वे पवन के झकोरेसे प्रज्वलित हो जाय तो अल्पकालमें उस गंजीको दहन करदेगी। इसी तरह शीघ्र परिपाक होनेवाले आयुष्यको अपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं।

इस बातको विशेष रूपसे स्पष्ट करनेकेलिये शास्त्रोंमें और भी दो दृष्टान्त पाये जाते हैं (१) गणित क्रिया का, (२) वस्त्र सुखाने का। जैसे—कोई बड़ी संख्या का लघुत्तम निकालना हो तब गणित विद्या का निपुण जैसा जल्दी जवाबदेगा वैसा अन्य पुरुष नहीं दे सकता दोनों का उत्तर समान है परन्तु क्रियाको भिन्नताके कारण ही समय भिन्नता होती है। इसीतरह किसी एक वस्त्रको दो, चार या अधिक परत करके सुखाया जाय तो वह विलम्ब से सूखेगा और यदि उसी को एक परत करके पवन की जगह धूपमें सुखादिया जाय तो वह बहुत जल्दी सूखेगा। उस वस्त्रमें पानीके कण अर्थात् गीलापन समान रूप होने पर भी क्रिया के भेद मात्र से समय का भेद होता है। यह शीघ्रता और विलम्बता केवल क्रिया के आधार पर निर्भर है। ऐसे ही यथोक्त विष, शस्त्रादि निमित्त भूत होने से समान परिणामवाला आयुष्य भी अपवर्तनीय, अनपवर्तनीय होता है इसीलिये पूर्वोक्त दोष "कृतनाश, अकृतागम और फलाव" की यहां प्राप्ति नहीं होती ॥ ५२ ॥

इति तत्त्वार्थ सूत्र द्वितीय अध्याय समाप्तम् ।

तृतीय अध्याय ।

द्वितीय अध्यायमें गति-अपेक्षा संसारी जीवोंके नारकी, तिर्यंच मनुष्य, और देवता ये चार भेद कहे। अब इन्हीं के स्थान, आयुष्य और अवगाहनादिका वर्णन तीसरे और चौथे अध्यायमें किया जायगा। प्रस्तुत अध्यायमें नारकी, तिर्यंचों और मनुष्य के स्थानादि का वर्णन है। देवताओं का वर्णन चौथे अध्यायमें करेंगे।

नारकी का वर्णन।

रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः ॥ १ ॥

तासु नरकाः ॥ २ ॥

नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

संक्लिष्टासुरोदीरित दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः सत्त्वानाम् परास्थितिः ॥ ६ ॥

अर्थ—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा,

धूम्रप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सातों पृथ्वी अधोऽधः भूमिमें विस्तारवाली हैं और घनाम्बु, घनवात तथा आकाशप्रदेश के ऊपर स्थित अर्थात् ठहरीहुई हैं ॥ १ ॥

उन रत्नप्रभादि भूमियोंमें नरकावास हैं ॥ २ ॥

ये नरकावास निरन्तर अशुभतरलेश्या, अशुभतरपरिणाम, अशुभतरदेह, पीड़ा और विक्रियवाले हैं ॥ ३ ॥

उन नरकावासोंमें नारकीजीव परस्पर दुःख उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥ ४ ॥

चौथी नरकभूमिसे पूर्व अर्थात् पहली, दूसरी और तीसरी नर्कभूमिमें नारकी जीवोंको संक्लिष्ट परिणामवाले असुर (परमाधामी) से उत्पादित दुःख सहन करने पड़ते हैं ॥ ५ ॥

उन नारकोंके जीवोंकी परा अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति अनुक्रमसे एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस और तैतीस सागरोपम की है ॥ ६ ॥

विवेचन—जिस आकाशप्रदेशमें जीवादि पदार्थ है उसे लोक कहते हैं और शेष आकाश अलोक कहलाता है। सम्पूर्ण लोकके तीन विभाग माने गये हैं। अधो, मध्य और उर्ध्व। अधो अर्थात् नीचेका भाग उसे कहते हैं जो मेरु-पर्वतकी समतल भूमि से नव सौ योजन नीचेकी पृथ्वी, वहींसे लोक का अधोभाग माना गया है, जिसका आकार उल्टे हुए सकोरेके समान ऊपरी भाग संकीर्ण और नीचे अनुक्रम से विस्तार वाला है। मेरु-पर्वतकी समतल भूमिसे नवसौ योजन नीचेकी पृथ्वी और नवसौ योजन ऊपर आकाश एवं अठारहसौ योजन मध्यलोक कहलाता है। जिसका आकार झालर के समान=आयामविष्कंभ (लम्बाई चौड़ाई) बराबर बराबर है। उसे मध्यलोक कहते हैं और मध्यके

ऊपरी सम्पूर्णविभाग को उर्द्धलोक कहते हैं जिसका आकार पखा वज के समान है। ऊपर और नीचे संकीर्ण और मध्यभाग विस्तार वाला है।

नारकीजीवोंके निवासस्थान भूमि को नरकभूमि कहते हैं। वह अधोलोकमें है। उस भूमिके सात विभाग माने गये हैं और ये सातों विभाग समश्रेणी नहीं हैं किन्तु एक दूसरेके ऊपर नीचे है। उसका आयाम विष्कभ अनुक्रमसे नीचे नीचे विस्तार वाला है अर्थात् पहली नर्क भूमि से दूसरी नर्कभूमि विस्तारवाली है। दूसरी से तीसरी एव यावत् सातवीं नरक भूमि अधिक अधिकतर विस्तारवाली है।

सातों नरक भूमि एक दूसरी के नीचे है परन्तु वे भूमि कायें परस्पर सलग्न नहीं हैं। उनके परस्पर बहुत अन्तर है। उस अन्तरमें प्रस्तुत सूत्रकारने घनोदधि, तनवात और आकाश प्रदेश ही कहा है, परन्तु अन्य शास्त्रोंमे इस क्रमसे कथन है। अर्थात् पहली नरकभूमि, के नीचे घनोदधि, घनोदधि के नीचे घनवात, घनवातके नीचे तनवात और तनवातके नीचे आकाशप्रदेश है। उस आकाशप्रदेश के पश्चात् दूसरी नरकभूमि है। इस दूसरी नरक भूमि और तीसरी नरकभूमि के बीचमें घनोदधि आदिका क्रम पूर्व वत है एव सप्तमी नरकभूमि पर्यन्त घनोदधि, घनवात, तनवात और आकाशप्रदेश अवस्थित रूप है। इसका वर्णन भगवती सूत्र श० १ उ० ६ में सविस्तार है। वहा इस बातका भी शका समा धान है कि वायु के आधार उदधि और उदधिके आधार पृथ्वी कैसे ठहर सकती है। इस समाधानके लिये पानी और वायु से भरी हुई मसकका दृष्टा त देकर समझाया है।

ऊपर ऊपर की नरक भूमिसे नीचे नीचेकी नरकभूमि की

जाडाई अर्थात मोटाई न्यून न्यून है। जैसे-प्रथम नारकीकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार (१८००००) योजन है। दूसरी नरकभूमि की मोटाई एक लाख बत्तीस हजार योजन प्रमाण तीसरीकी १२८००० चौथीकी १२००००, पांचवीकी ११८०००, छट्ठीकी ११६००० और सातवींकी १०८००० योजन का जाडापन (मोटाई) है। सातों नरक भूमि के नीचे नीचे स्थान घनोदधि के थर (तह) हैं। उन स्थानोंकी जाडाई समान रूप है। अर्थात सब थरोंकी बीस बीस हजार योजन प्रमाण है और जो तनवात और स्थान घनवात के थर (तह) हैं वे सब असंख्यात योजन प्रमाणकी जाडाई वाले हैं। परन्तु परस्पर न्यूनाधिक हैं। जैसे-पहली नारकीका घनवात, तनवात असंख्यात योजन है। उस से दूसरी नरक भूमिके थर (तह) विशेषाधिक हैं एवं यावत सातवीं नरक भूमि तक घनवात और तनवात के थर (तह) की जाडाई विशेषाधिक, विशेषाधिक है और यही क्रम आकाशप्रदेश का है।

पहली नरक भूमि रत्न प्रधान होने के कारण उसे रत्नप्रभा नाम कहा गया है, इसी तरह दूसरी सर्करा में कंकरों की बाहुल्यता है तीसरी वालुका अर्थात रेती की मुख्यता वाली है, चौथी पंक अर्थात् कीचड़ की प्रधानता वाली है, पांचवीं धूम अर्थात धूम्र प्रधान है, छट्ठी तम अर्थात अन्धकार की विशेषता वाली है और सातवीं तमतमप्रभा अर्थात प्रचुर अंधकार वाली है। इनके नाम अनुक्रम से घमा, वंसा, सेला, अंजना, रीष्टा, माघव्य और माघवती हैं।

रत्नप्रभा नारकीके तीन कांड (करंड) अर्थात तीन विभाग हैं। पहला सब से ऊपरी विभाग खर कांड प्रचुर रत्नमयी है। उसकी मोटाई (जाड़ापन) १६००० हजार योजन प्रमाण है,

इसके नीचे दूसरा फाड पकवाहुल्य अर्थात् फर्दममय ८४००० हजार योजन प्रमाणकी मोटाईवाला है और इसके नीचे तीसरा भाग जलवाहुल्य अर्थात पानी से भरा हुआ है। जिसकी मोटाइ ८०००० योजन प्रमाण है। उक्त तीनों काढ सम्मिलित होने से पहली नरक भूमि की सम्पूर्ण मोटाई एकलाख अस्सीहजार योजन प्रमाण है। दूसरी नरक भूमि से यावत् सप्तमी नरक भूमि पर्यन्त उपरोक्त विभाग नहीं है कारण उनमें ककर और वालु आदि जो जो पदार्थ हैं वे सब सदृश रूप हैं। रत्नप्रभाका प्रथम काड दूसरे काड पर है, दूसरा काड तीसरे काड पर है और तीसरा काड घनोदधि और घनवात के थर पर है। घनवात तनवात के थर पर है और तनवात आकाश पर प्रतिष्ठित है और आकाश का स्वभाव ही ऐसा है कि उसे दूसरे की आवश्यकता नहीं रहती-स्वात्मप्रतिष्ठित है। सब पदाथा को अवकाश देना आकाशका ही धर्म है। दूसरी नरक पृथ्वी के खण्ड (विभाग) नहीं हैं वह घनोदधि वलीये के आधारपर स्थित है। घनोदधि घनवात पर, घनवात तनवात पर, तनवात आकाश पर और आकाश स्वप्रतिष्ठित है। यही अनुक्रम यावत् सातवीं नरक पर्यन्त है। ऊपर की पृथ्वीसे नीचे नीचे की पृथ्वी का बाहुल्य (जाड़ाईपन) न्यून होते हुए भी आयाम, विष्कभ (लम्बाई, चौड़ाई) सब का अनुक्रम से अधिक अधिक है। इसलिये इनका सस्थान (आकार) छत्रातिछत्र अर्थात् जामे के आकार है।

साता नरक-भूमिका जितना जितना बाहल्यपन ऊपर कह आये हैं उसके ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़के शेष मध्य भागमे नरकावासा है, जिसमें नारकी जीव रहते हैं जैसे-रत्नप्रभा नारकी एकलाख अस्सीहजार योजनवाली है उसके

ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़ के शेष मध्यभाग के १७८००० योजन प्रमाण पृथ्वी पिंड नरकावासा है यही अनुक्रम सातों नरक भूमिका है. उन नरकवासों के घातक, सौचक, रौरव, रौद्र, पिण्पचनी, लोहीकर और उष्ट्रिकादि अशुभाशुभनाम हैं-जिन के सुनते ही भय प्राप्त होता है। रत्नप्रभागत सीमंत नामक नरका वाससे यावत् महातम प्रभागत अप्रतिष्ठान नाम नरकावास पर्यन्त सब नरकावास छुरे के समान वज्रमय तलिये वाले हैं। परन्तु संस्थान सब का सदृश नहीं है वे भिन्न भिन्न आकारवाले हैं। कितनेक त्रिकोन, कितनेक चौकोन, कितनेक कुंभ, हलादि नाना-प्रकार के आकार वाले एक, दो, तीन मंजिलवाले मकान के समान प्रतरवाले हैं। इनकी संख्या अनुक्रम से यह है। रत्नप्रभाके तेरह प्रतर, शर्करप्रभाके ग्यारह प्रतर इसी तरह प्रत्येक नरक के दो दो प्रतर घटाने से ६-७-५-३-१ प्रतर हैं अर्थात् सातवीं नारकी मे एकही प्रतर है। इनमें नारकी जीव रहते हैं।

नरकावासों की संख्या।

प्रथम नरक भूमि रत्नप्रभामें तीस लाख नरकावासा है, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी मे पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख पांचवीं में तीन लाख, छट्ठी में ९९९९५ और सातवीं में केवल पांच नरका वासा हैं।

प्रश्न—प्रतरों में नरक है इसका क्या तात्पर्य?

उत्तर—एक और दूसरे प्रतर का अवकाश अर्थात् अन्तर है उसमें नरक नहीं है किन्तु प्रत्येक प्रतरकी तीन तीन हजार योजन प्रमाण पृथ्वी पिंड है अर्थात् मोटाईपन है उसी में विविध प्रकार के नरक हैं।

प्रश्न—नरक और नारक का क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—नारक जीव हैं और नरक उनके रहने का स्थान है अर्थात् नरक में रहने वाले या उत्पन्न होने वाले नारकी कहलाते हैं।

पहली नरक भूमिसे दूसरी नरकभूमि अशुभ है। इसी तरह यावत् सातवीं नरक भूमि अशुभ अशुभतर रचना वाली है और इन नरकों में रहनेवाले नारकी जीवों के भी परिणाम, लेश्या, देह, वेदना और क्रियादिभी उत्तरोत्तर अशुभ अशुभतर होती है।

लेश्या—रत्नप्रभा और शर्करप्रभा में कापोत लेश्या है परन्तु शर्करप्रभा की कापोत लेश्या रत्नप्रभाकी लेश्या से तीव्र सक्लेश वाली है, बालुप्रभा मे कापोत और नील लेश्या, पकप्रभा में नील लेश्या, धूमप्रभा मे नील और कृष्ण लेश्या, तम प्रभा में कृष्ण लेश्या और तम तम प्रभामे महा कृष्ण लेश्या है।

परिणाम—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्दादि अनेक प्रकार के पौद्गलिक परिणाम हैं वे सातों भूमि में उत्तरोत्तर अशुभ अशुभतर होते हैं।

शरीर—सातों भूमिके नरकोंका शरीर अशुभ नाम कर्म के उदयसे अधिक अधिकतर अशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और सस्थान वाले तथा अशुचि, बीभत्स अर्थात् घृणाजनक होते हैं।

वेदना—सातों नरकभूमि के नारकों की वेदना उत्तरोत्तर अधिक अधिकतर है। प्रथमकी तीन नरकभूमि में उष्णवेदना है, चौथी में उष्ण शीत, पाचवीं में शीतोष्ण, छट्ठी में शीत और सातवीं में अतिशीत वेदना होती है। उष्ण और शीतपने की वेदना इतनी तीव्र होती है कि इस वेदनाको भोगनेवाले नारकोंको यदि

मृत्युलोककी तीव्र से तीव्र उष्ण या शीत में रखा जायतो वह स्थान उनके लिये सुख प्रद है।

विक्रिय—उन नारकों की क्रिया भी उत्तरोत्तर अधिक अधिकतर अशुभ होती है। वे दुःख से व्याकुल होकर छूटने का प्रयत्न करते हैं परन्तु वह उनके लिये विशेष दुःखदाई होता है। जिसे वे सुख का साधन समझते हैं वह दुःखका साधन होता है और वैक्रिय लब्धिसे शुभ वनाने की इच्छा करते हैं तथापि उनका वनाया हुआ अशुभ ही होता है।

प्रश्न—लेश्यादि अशुभभावोंको नित्य कहा इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—नित्य का अर्थ निरन्तर है। गति, जाति, शरीर और अंगोंपांग नामकर्मके उदयसे नरकगति में लेश्यादि भाव जीवन-पर्यन्त अशुभही वने रहते हैं। क्षण भरके लिये भी किसी समय अन्तर नहीं पड़ता। ये परिणाम पल भरके लियेभी शुभ भाव को प्राप्त नहीं होते।

प्रथम तो नरक में शरदी गरमी का दुःख भयंकर रूप से होता है इससेभी भूख और प्यास का दुःख अति भयंकर है। भूख का दुःख इतना अधिक है कि जितना अधिक आहार लेते हैं उतनी हीं भूख अग्नि के समान जाज्वल्यमान होती जाती है। किन्तु शान्ति प्राप्त नहीं होती। इसी तरह पियास काभी भयानक दुःख है। इससे भी अधिक दुःख उन्हें परस्पर के वैरभाव से उत्पन्न होता है। जैसे—विल्ली और चूहे के या सर्प और नौलीये (नौरा) के जन्म से ही शत्रुता होती है इसीतरह उनके भी जन्म शत्रुता है। इसलिये कुत्ता के समान परस्पर नित्य लड़ाकरते हैं और भयानक दुःख उपार्जित करते हैं।

नरक में तीन प्रकार की वेदना है जिसमें क्षेत्रजन्य और परस्पर से उत्पन्न होने वाली वेदना का वर्णन पहले कर चुके जो सातों नरक भूमि में समान रूप है। अब तीसरी परमाधामी जनित वेदना बताते हैं जो केवल प्रथम तीन (१-२-३) नरक भूमिकाओं में होती है और इन्हीं तीन नरक भूमिकाओं के अन्तरों में वे परमाधामी देव निवास करते हैं। वे एक प्रकार के असुर देव हैं स्वभाव से अति क्रूर और पापरत होते हैं। इनकी अब, अबरस इत्यादि पन्द्रह जाति हैं। वे स्वभाव से इतने निर्दयी और कुतूहली होते हैं कि इन्हें दूसरों को सताप देने में या पीड़ा पहुँचाने में ही आनन्द प्राप्त होता है इसलिये वे नारकी के जीवों को नाना प्रकार के प्रहारादि से अनेक प्रकार के दुःख दिया करते हैं। वे कुत्ते, साँड या पहलवानों के समान उन नारकी जीवों को हमेशा लड़ाया करते हैं और उन्हें लड़ते हुए देख कर आनन्दित होते हैं उन परमाधामी देवों के लिये और भी अनेक सुख साधन हैं तथापि पूर्वजन्म कृत तीव्र दोष के उदय से वे दूसरों को सताप देने में ही विशेष प्रसन्न रहते हैं। नारकी के जीव बेचारे कर्मवश अशरण होके आजन्म पर्यन्त तीव्र वेदना सहा करते हैं। इन्हें कितनी ही वेदना क्यों न हो परन्तु किसी की भी शरण नहीं है और न उनका आयुष्य अपवर्तनीय (न्यून होने वाला) है कि जिस से दुःख जल्दी समाप्त हो अर्थात् वे परिमित आयुष्य वाले होते हैं।

स्थिति—चारों गति के जीवों की स्थिति अर्थात् आयुष्य मर्यादा जघन्य, उत्कृष्ट दो प्रकार की होती है न्यून को जघन्य और अधिक को उत्कृष्ट कहते हैं प्रस्तुत सूत्र उत्कृष्ट स्थिति विषयी है। जघन्य स्थिति आगे अ० ४ सूत्र ४३—४४ में कहेंगे

पहले नरक में उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है, दूसरी में तीन सागरोपम, तीसरी में सात सागरोपम चौथी में दस सागर०, पांचवीं में सत्रह सागर०, छट्टी में बाईस सागर०, और सातवीं में तैंतीस सागरोपम की है।

उपरोक्त सूत्रानुसार विशेष रूप से वर्णन किया गया है। पुनरपि विशेष ज्ञान प्राप्ति के लिये गति, आगति और द्वीप समुद्र की व्याख्या करते है।

गति—वर्तमान आयुष्य को पूर्ण करके जिस गति में उत्पन्न हो सके उसे गति कहते हैं। असंज्ञी जीवों की गति पहली नरक भूमि पर्यन्त है। आगे दूसरी आदि नरक भूमि में वे उत्पन्न नहीं होसकते, भुजपरि सर्प की गति पहली और दूसरी नारकी, पक्षी तीसरी नरक भूमि, सिंह चौथी नरक भूमि, सर्प पांचवीं नरक भूमि, स्त्री छट्टी नरक भूमि और मत्स तथा मनुष्य मरके सातवीं नरक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य, तिर्यंच मरके नारकी में उत्पन्न होते है परन्तु देवता, नारकी मरके नारकी में उत्पन्न नहीं होते क्योंकि देवों में संक्लिष्ट अध्यवसाय का अभाव है। नारकी मरके तद्भव देवगति में भी उत्पन्न नहीं होता किन्तु मनुष्य या तिर्यञ्च में ही उत्पन्न होता है।

आगति—प्रथम की तीन नरक भूमि के नारकी आयुष्य पूर्ण करके यदि मनुष्य गति प्राप्त करेतो उत्कृष्ट तीर्थंकर पद की योग्यतावाले हो सकते हैं, चौथी नरक भूमि के नारकी मनुष्यत्व पाकर निर्वाणपद प्राप्त कर सकते हैं, पांचवीं नर्क भूमि का जीव मनुष्यगति पाकर सर्वविरती संयम प्राप्त कर सकता है, छट्टी नरक भूमि से निकला हुआ नारकी मनुष्यत्व को पाकर देशविरती की योग्यता प्राप्त कर सकता है और सातवीं नरक भूमि से

निकला हुआ नारकी मनुष्यत्व को पाकर सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। सातो नरक भूमि के नारकी यदि मनुष्यगति को प्राप्त करें तो किस हद तक की योग्यता को पा सकता है उसी का यह दिग्दर्शन है।

द्वीप समुद्र—रत्नप्रभा नरक भूमि को छोड के शेष छओं नरक भूमि में द्वीप, समुद्र, पर्वत, ग्राम, नगर, वृक्ष, लता, बादर वनस्पति द्विन्द्रिय यावत् पचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य नहीं हैं और रत्नप्रभा नारकी को छोडकर न किसी प्रकार के देवता हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस नरक भूमि का किंचित् ऊपरी भाग मध्यलोक सम्मिलित है कारण मेरु पर्वत की समतल भूमि से नवसौ योजन ऊडी (गहरी) सलीलावती नामक विजय है, जिसमें उपरोक्त द्वीप, समुद्र, देवतादि पाए जाते हैं। शेष नरक में इनका अभाव है वहां केवल नारकी और सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव ही पाये जाते हैं यह सामान्य नियम है परन्तु किसी अपेक्षा से तीसरी नरक पर्यन्त मनुष्य, तिर्यच और देवता भी पाये जाते हैं क्योंकि कारणवशात् वैक्रियलब्धि से उनका आवागमन होता है इससे आगे वे नहीं जासकते जैसे-पूर्वजन्म की मित्रता के कारण स्नेह से प्रेरित होके उस नारकी को अत्यन्त दुःखों से मुक्त करने के लिये जाते हैं और केवली समुद्धात की अपेक्षा सर्व लोक व्यापी आत्मप्रदेश होते हैं इस लिये इन्हें जगतव्यापी मानते हैं।

परमाधामीदेवों को नरकपाल भी कहते हैं उनका जना तीसरी नरक पर्यन्त आनाजानाहोता है और व्यन्तर, वाणव्यन्तर देव पहली नरक भूमि में ही होते हैं॥ १-६॥

॥ मध्यलोक वर्णन ॥

जम्बूद्वीप लवणादयः शुभनामानो द्वीप समुद्राः ॥ ७ ॥

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्व परिक्षेपिणो वलया कृतयः ॥ ८ ॥

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृतो योजनशतसहस्र विष्कम्भो जम्बूद्वीपः॥६

तत्र भरत हेमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधर पर्वताः ॥ ११ ॥

द्विर्धातकीखण्डे ॥ १२ ॥

पुष्करार्धेच ॥ १३ ॥

प्राक् मनुष्योत्तरान् मनुष्याः ॥ १४ ॥

आर्याम्लेच्छाश्च ॥ १५ ॥

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकूरूत्तरकुरुभ्यः॥१६॥

नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ १७ ॥

तिर्यग्योनीनांच ॥ १८ ॥

अर्थ—जम्बूद्वीप आदि शुभ नामवाले द्वीप और लवणादि शुभ नामवाले समुद्र हैं ॥ ७ ॥

ये द्वीप समुद्र एक दूसरे से द्विगुण द्विगुण विस्तार वाले तथा पूर्व पूर्व के द्वीप समुद्र पर पर के द्वीप समुद्र से वेष्टित हैं, " घिरेहुवे " और वलयाकार=चूड़ी के आकार :गोल हैं ॥ ८ ॥

इन द्वीप समुद्रों के मध्यभागमें लक्ष योजन विस्तार

वाला जम्बूद्वीप है जिसमें नाभि के समान वृत्ताकार मेरु पर्वत है ॥ ६ ॥

इस जम्बूद्वीप में भरत, परवत्, हेमवत्, हरिवर्ष, विदेह, रम्यक्, हैरएयवत् एवं सात वर्ष धर क्षेत्र हैं ॥ १० ॥

इन भरतादि क्षेत्रों का विभाग करने के लिये पूर्व, पश्चिम आयाम (लम्बाई) वाले हिमवान, महाहिमवान, निषढ, नील, रुक्मि और शिखरी एवं छ वर्षधर पर्वत कहलाते हैं ॥ ११ ॥

जम्बूद्वीप के पर्वत, क्षेत्रों से धातकी खड के पर्वत् क्षेत्र द्विगुण सख्या वाले हैं ॥ १२ ॥

पुष्करार्द्ध में भी पर्वत, क्षेत्र धातकी खड के समान हैं॥१३॥

मनुष्योत्तर पर्वत के पूर्वो भाग में जो द्वीप हैं उनमें मनुष्य रहते हैं ॥ १४ ॥

वे मनुष्य आर्य्य और म्लेछ दो प्रकार के हैं ॥ १५ ॥

देवकुरु, उत्तरकुरू आदि को छोड़के भरत, ऐरवत और विदेह कर्म भूमि है ॥ १६ ॥

मनुष्यों का आयुष्य जघन्य अन्तर मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम का है ॥ १७ ॥

तिर्यंचों का आयुष्य भी मनुष्यों के समान है ॥ १८ ॥

विवेचन—मध्यलोक की आकृति झालर के समान कही है इसमें असख्याते द्वीप समुद्र हैं वे द्वीप के पश्चात् समुद्र और समुद्र के पश्चात् द्वीप इस अनुक्रम से विनस्थित हैं उनकी व्यास रचना और आकृति का वर्णन करते हुए उक्त सूत्रों द्वारा मध्यलोक का आकार प्रदर्शित करते हैं।

व्यास—जम्बूद्वीप का पूर्व, पश्चिम और उत्तर, दक्षिण

विस्तार एक लक्ष योजन का है लवणसमुद्र का विस्तार इससे दूना अर्थात् दो लक्ष योजन का है। धातकीखंड का विस्तार इससे भी दुगुना अर्थात् चार लक्ष योजन का है इसी तरह कालोदधि आदि आगे आगे के जितने द्वीप समुद्र हैं वे परस्पर एक दूसरे से दुगुने दुगुने हैं तात्पर्य यह है कि जम्बूद्वीप से यावत् स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त जो असंख्याते द्वीप समुद्र हैं वे परस्पर एक दूसरे से दुगुने विस्तार वाले हैं। सब द्वीप समुद्रों के अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है वह असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाला है उसके परे पूर्वोक्त तीन वलियें और अलोकाकाश है।

रचना—जम्बूद्वीप थाली के समान या चाक के समान अथवा चक्रवत् गोलाकार है और लवणसमुद्र से वेष्टित है, लवण समुद्र धातकीखंड से वेष्टित है, धातकीखंड कालोदधि से, कालोदधि पुष्करवर द्वीप से और पुष्करवर द्वीप पुष्करोदधि समुद्र से, यही अनुक्रम यावत् अन्त के स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त समझलेना।

आकृति—जम्बू द्वीप थाली के समान गोल है. और दूसरे असंख्याते द्वीप समुद्र हैं वे चूड़ी के आकार गोल आकृति वाले हैं॥ ७-८॥

जम्बूद्वीप और मुख्य पर्वत, क्षेत्र-समस्त द्वीप, समुद्रों से वेष्टित और मध्यवर्ती द्वीप को जम्बूद्वीप कहते हैं वह सबसे पहला, थाली के समान लक्ष योजन विस्तार वाला है लवण समुद्र के समान वलयाकार नहीं है अर्थात् कुम्हार की चाक के समान है और इस जम्बूद्वीप के मध्यभाग में मेरु पर्वत है इस की ऊंचाई एक लक्ष योजन है इस के समान ऊंचाई वाले दूसरे पर्वत नहीं है अन्य द्वीपों में और भी चार मेरु पर्वत हैं परन्तु उनकी ऊंचाई जम्बूद्वीप के मेरु से किंचित् न्यून है इसे सुमेरु भी कहते

है। अर्थात् तिरछे लोक में इस के समान ऊंचाई वाले पर्वत नहीं है। १ लक्ष योजन की ऊँचाई मे एक हजार योजन पृथ्वी में रहा हुआ है शेष ६६ हजार योजन पृथ्वी के ऊपर है पृथ्वी के भीतरी भाग की लम्बाई चौडाई सब जगह दश हजार योजन है और जो पृथ्वी का बाहरी भाग है उस के सर्वोपरी-अंश को चूलिका कहते हैं उसका तला एक हजार योजन विस्तार वाला है यह पवत चार वनों से घिरा हुआ है और इसके तीन विभाग हैं, अर्थात् पहला भाग एक हजार योजन पृथ्वी में है, दूसरा भाग त्रेसठ हजार योजन और तीसरा भाग छत्तीस हजार योजन पृथ्वी के उपर है पहले भाग में शुद्ध पृथ्वी और ककरादि हैं, द्वितीय भाग में चादी और शर्करादि हैं तथा तृतीय भाग में स्वर्णादि है भद्रसाल, नदन, सोमनस और पाडुक नाम के चार वन हैं लाख योजन की ऊचाई के पश्चात् सब से ऊपरी भाग में एक चूलिका (चोटी) है जो प्रमाण से चालीस योजन ऊंची है उसका मूल भाग बारह योजन, मध्यभाग आठयोजन और उर्द्ध भाग चार योजन विस्तार वाला है ॥ ६ ॥

जम्बूद्वीप में मुख्य सात क्षेत्र हैं उन को वस वर्ष या वास क्षेत्र कहते हैं जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में १ भरत क्षेत्र, भरत क्षेत्रसे उत्तर २ हेमवन्, हेमवतसे उत्तर ३ हरिवर्ष, हरिवर्षसे उत्तर ४ विदेह, विदेहसे ५ रम्यक्, रम्यक्से ६ हिरण्यवत और उससे ७ ऐरवत +इस तरह उपरोक्त क्षेत्र एक एक से उत्तरीय हैं। व्यवहार से दिशाओं का यह नियम है कि सूर्य उदय को पूर्व दिशा नाम देकर शेष दिशायें नियत की गई हैं इस नियम के अनुसार सातों क्षेत्रों से मेरु उत्तर भाग में ही रहता है ॥ १ ॥

+समवायांग सूत्र के सातवें समवाह में भी सातही वासक्षेत्र कहे है।

सातों क्षेत्रों को पृथक करने के लिये छ पर्वत हैं ये वर्षधर कहलाते हैं इनकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम की ओर है, भरत और हैमवत के मध्यवर्ती अर्थात इनका विभाग करने वाला हिमवान पर्वत है इसी तरह हैमवत और हरिवर्ष क्षेत्र को पृथक करने वाला महा हिमवान पर्वत है, हरिवर्ष और विदेह को निषधपर्वत, विदेह और रम्यक को नील पर्वत, रम्यक और हिरण्यवत को रुक्मि पर्वत और हिरण्यवत तथा ऐरवत को पृथक करने वाला शिखरी पर्वत है उपरोक्त पर्वतों से सात क्षेत्र विभाजित माने गये हैं ये पर्वत उनक्षेत्रों के मध्यवर्ती हैं ॥११॥

❀ धातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीप ❀

जम्बूद्वीप की अपेक्षा से धातकी खंड में मेरू, पर्वत और वर्षधर दुगुने हैं अर्थात दो मेरू, चौदह वर्षक्षेत्र और बारह वर्षधर पर्वत सदृश नाम वाले हैं अर्थात जो नाम जम्बूद्वीप के पर्वत क्षेत्रों के हैं वेही नाम धातकी खण्ड के पर्वत क्षेत्रों के हैं वलयाकृत धातकी खंड के पूर्वार्द्ध, पश्चिमार्द्ध दो विभाग हैं प्रत्येक विभाग में एक एक मेरू सात सात वर्षक्षेत्र और छ छ वर्षधर पर्वत हैं उक्त दोनों विभागों के मध्य में उत्तर, दक्षिण विस्तार वाले हैं बाण के समान सीधे दो पर्वत हैं और उसीसे दो विभागों की कल्पना होती है उन दो विभागों में पूर्व, पश्चिम विस्तार वाले छ छ वर्षधर पर्वत और सात सात वर्ष क्षेत्र हैं तथा उनके मध्य में एक एक मेरू है इसका भीतरी भाग लवणसमुद्र और बाहरी भाग कालोदधि समुद्र से स्पर्शित है छ छ वर्षधर पर्वत मानों गाडी के पहियों में लगेहुए आरों के समान हैं और मध्यभाग में भरतादि सात क्षेत्र हैं ॥ १२ ॥

मेरू, वर्ष और वर्षधरों की संख्या और रचना जो घातकी

खड की बताई गई है। वही पुष्करार्द्ध द्वीप का है। एक जम्बूद्वीप एक धातकी खड और अर्द्ध पुष्करद्वीप मिलके अढाई द्वीप कहलाते हैं। प्रस्तुत अध्याय सूत्र १० के अनुसार इनमें कुल पाच मेरु, तीस वर्षधर पर्वत और पैंतीस क्षेत्र हैं। जिनमें पाच भरत, पाच ऐरवत और पाच महाविदेह एवम् पन्द्रह कर्मभूमि कहलाता है यहा असी, मसी, कसी, आदि कर्म व्यापार हैं अथवा कर्मरूपी मल को दूर करके मोक्षपद प्राप्त करने योग्य क्रम सिद्धि की यही भूमि है अन्य स्थानो में इसका अभाव है इसलिये यह कर्मभूमि कहलाती है। पाच हैमवत, पाच हरिवर्ष, पाच रम्यक् और पाच हैरण्यवत् एवम् तीस अकर्म भूमि कही है परन्तु अन्य शास्त्रकारों में तीस अकर्म भूमि कह के पैतालीस उपक्षेत्र अर्थात् मनुष्य के वासस्थान बताये हैं प्रस्तुत सूत्रकार ने जो पैतीस ही वासस्थान कहे हैं इसका तात्पर्य यह है कि वे महाविदेह के पूर्व, पश्चिम दो विभाग हैं उन दो विभागों के मध्य में अर्थात् मेरु पर्वत् के दोनों तरफ देवकुरू, उत्तरकुरू दो युगलिक क्षेत्र हैं उनको विदेह क्षेत्र में मान के पैंतीस ही उप क्षेत्र बताये हैं यथार्थ में देवकुरू, उत्तरकुरु अकर्म भूमि हैं और इसी अध्याय के सूत्र १६ में इनको पृथक करके भरत, ऐरवत और महाविदेह को कर्मभूमि कहा है ॥ १३ ॥

पुष्करवर द्वीप में जो मानुष्योत्तर नामक पर्वत है वह चूडी के आकार गोल और पुष्करवर द्वीप के बीच बीचोंबीच शहर पनाह के समान घिरा हुआ है इसी कारण द्वीप के दो विभाग होगये हैं भीतरी भाग में मनुष्यों का वासस्थान है और इसी कारण इस पर्वत् का मानुष्योत्तर नाम रखा है। इसके भीतरी भाग में अर्द्ध पुष्करवर द्वीप, कालोदधि समुद्र, धातकी खड, लवण समुद्र और जम्बूद्वीप यथाक्रम से हैं। इन क्षेत्रों में मनुष्यों का जन्म मरण

होता है इसलिये इसको मनुष्य लोक कहते हैं और इसकी सीमा रखने वाले पर्वत को मनुष्योत्तर पर्वत कहते हैं। इस पर्वत के परे जितना क्षेत्र है उसमें मनुष्यों का जन्म मरण नहीं होता वहां केवल विद्यासंपन्न मुनि या वैक्रिय लब्धि वाले मनुष्यों का ही आवागमन होता है। परन्तु जन्म मरण नहीं होता उनके जन्म मरण का स्थान मनुष्य लोक ही है।

मनुष्यों की स्थिति क्षेत्रादि।

उपरोक्त मनुष्योत्तर पर्वत के भीतरी भाग में अढ़ाई द्वीप, दो समुद्र हैं उसको मनुष्य लोक कहा है परन्तु वास्तविक रूप से मनुष्यों का जन्म मरण सब जगह नहीं होता उनका स्थान अढ़ाई द्वीप के अन्दर केवल पूर्वोक्त पैंतीस क्षेत्र और छप्पन अन्तर द्वीप है संहरण या विद्यालब्धि द्वारा अढ़ाई द्वीप में सब जगह जन्म मरण पाया जाता है और मानुष्योत्तर पर्वत के परे रुचकवर द्वीप पर्यन्त केवल आवागमन होता है और उर्द्ध मेरु की चूलिका पर्यन्त जाते हैं परन्तु जन्म मरण वहां नहीं होता। उन रूचकादि क्षेत्रों में गये हुए मनुष्यों के नाम भारतीय, धातकीखंडीय इत्यादि क्षेत्रों के नाम से व्यवहृत किये जाते हैं॥ १४॥

मनुष्यों के मुख्य दो भेद हैं एक आर्य और दूसरे म्लेच्छ। निमित्त भेद से आर्य छ प्रकार के माने गये हैं। (१) क्षेत्रार्य, (२) जाति आर्य, (३) कुलार्य, (४) कर्मार्य, (५) शिल्पार्य, (६) भाषार्य।

क्षेत्रार्य—पन्द्रह कर्मभूमि में भरत, ऐरवत के २५५ देश और पंच महाविदेह की एक सौ साठ चक्रवर्ती विजय ये आर्य संज्ञक देश कहे जाते हैं इन क्षेत्रों में जन्मे हुए मनुष्यों को क्षेत्रार्य कहते हैं।

जाति आर्य—जैसे-इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, अम्बष्ठ, ज्ञात, कुरू, बुवनाल, उग्र, भोग और राजन्य आदि इन जातियों में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य जाति आर्य कहलाते हैं।

कुलार्य—जैसे-कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और सप्त कुलकरों में प्रथम के तीन छोड के शेष चार कुलकर और भी जिनका विशुद्धकुल और प्रकृति है वे सब कुलार्य सज्ञक हैं।

कर्मार्य—जैसे-यजन, याजन अर्थात् यज्ञ (पूजन) करना, कराना, तथा पठन, पाठनादि प्रयोग करने वाले अथवा कृषि, लिपि, वाणिज्यादि से आजीविका करने वालों को कर्मार्य कहते हैं।

शिल्पार्य—जैसे-अल्पपाप या अनिन्दित कार्य करके आजीविका करने वाले, ततूवाय (कपडा बुनने वाले) तनुवाय (सूत कातनेवाले) अथवा अन्य अनेक प्रकार की शिल्प कलाओं को जानने वालों को शिल्पार्य कहते हैं।

भाषार्य—जैसे—तीर्थकर, गणधर आदि जो अतिशय सम्पन्न पुरुष हैं वे शिष्ट पुरुष कहलाते हैं, उनकी मान्य भाषा संस्कृत, प्राकृत, अर्द्धमागधी इत्यादि लोकप्रसिद्ध जो आर्य व्यवहार मे लाते हैं उसे भाषार्य कहते हैं। इस से विपरीत को म्लेच्छ कहते हैं।

इस व्याख्या से ३० अकर्मभूमि और छप्पन अन्तर द्वीप के रहने वाले युगल मनुष्य भी म्लेच्छ ही में सम्मिलित होते हैं और प्रस्तुत शास्त्र के भाष्य में स्पष्ट उल्लेख है कि छप्पन अन्तर द्वीप के रहने वाले मनुष्य म्लेच्छ हैं परन्तु अन्य शास्त्रों में केवल पन्द्रह कर्म भूमि के मनुष्य ही आर्य, म्लेच्छ सज्ञा से सबोधित किये गये हैं। तीस भोग भूमि और छप्पन अन्तर द्वीप अकर्म भूमि हैं इनमे रहने वाले मनुष्यों में उक्त (आर्य, अनार्य) सज्ञा नहीं मानी है म्लेच्छ सज्ञा केवल कर्म भूमि के अनार्य देशों मे उत्पन्न होने वाले मनुष्यों

की अपेक्षा से मानी गई है जैसे-शक, यवन, कंबोज, शबर, बबर, पुलिंदादि देशों मे रहने वाले मनुष्य। जीवाभिगम सूत्र में छप्पन द्वीप को अकर्म भूमि कहा है यथा—

" अन्तरदीवग अकम्मभूमग मणुस्सित्थी —
णं भंते " ...... इत्यादि"

और भाष्यकार इन द्वीपों के मनुष्यों को विजातिय कहते हैं ॥ १५॥

कर्मभूमि निर्देश

जिन क्षेत्रों में मोक्ष मार्ग के जानने वाले और उसके उपदेशक तीर्थंकरादि उत्पन्न होते हों उन्हें कर्मभूमि कहते हैं। अढ़ाई द्वीप में पैंतीस क्षेत्र और छप्पन अन्तर द्वीप हैं यही मनुष्य उत्पत्ति के स्थान है।

प्रश्न—अन्तर द्वीप कहां हैं ?

उत्तर—हिमवत् और शिखरी पर्वत् के दोनों किनारे लवण समुद्र को स्पर्श किये हुवे है उन किनारों में दो, दो शाखायें हाथी के दो दांतों के समान निकली है उसे गजदन्त भी कहते हैं वे लवण समुद्र के ऊपर स्थित है। अर्थात् हिमवान पर्वत् की चार शाखायें और शिखरी पर्वत की चार शाखायें एवम् आठ गजदन्त कहलाते हैं उन प्रत्येक गजदन्तों पर सात, सात द्वीप हैं वे अन्तर द्वीप कहलाते हैं। जम्बूद्वीप की जगती से तीन सौ योजन दूर अर्थात् लवण समुद्र के पानी पर तीन सौ योजन दूर जाने पर तीन सौ योजन के आयाम् विष्कंभवाला एक अन्तर द्वीप है इसीतरह जगती से चारसौ योजन की दूरीपर चारसौ योजन के आयाम विष्कंभ वाला तथा पांच सौ योजन की दूरीपर पांच सौ योजन के आयाम विष्कंभ वाला, छ सौ योजन की दूरीपर छ सौ योजन के आयाम विष्कंभ वाला यावत् नौ सौ योजन की दूरीपर नौ सौ योजन के आयाम विष्कंभ वाला सातवां अन्तर द्वीप है। इसीतरह एक २

गजदन्त पर सात सात द्वीप समान्य आयाम विष्कभवाले विवस्थित हैं। हिमवान पर्वत के चार गजदन्तों पर जिस नाम के अठाईस अन्तर द्वीप है उसी नाम के २८ अन्तर द्वीप शिखरी पर्वत के ४ चार गजदन्तों पर हैं और जिस नाम के ये द्वीप है उसी प्रकार के वहां मनुष्य निवास करते हैं जैसे-(१) एकोरुप+ (२) लांगुल (३) वेषाणिक (४) अभाषक उक्त चारों द्वीप लवण समुद्रमें जगती से तीन सौ योजन दूर तीन सौ योजन आयम विष्कभ वाले है इसीतरह चारसौ योजन के दूरीपर हयकर्ण, गजकर्ण, गौकर्ण, शष्कुलीकर्ण, पांच सौ योजन पर गजमुख व्याघ्रमुख, आदर्शमुख, गौमुख वाले, छ सौ योजन की दूरीपर अश्वमुख, हस्तिमुख, सिंहमुख, व्याघ्रमुख वाले, सातसौ योजन की दूरीपर अश्वकर्ण, सिंहकर्ण, हस्तीकर्ण, कर्णप्रचारण, आठ सौ योजन की दूरीपर उल्कामुख, विद्युजिव्हा मेघमुख, विद्युद्दन्तों वाले और नवसौ योजन की दूरीपर नौ सौ योजन के विस्तारवाले घनदन्त, गूढदन्त शिशिरदन्त तथा शुद्धदन्त नाम के चार द्वीप हैं एवम् २८ अन्तर द्वीप हिमवान पर्वत के चार गजदन्तों पर और अठाईस अन्तर द्वीप शिखरी पर्वत के चार गजदन्तों पर हैं इनको अन्तर द्वीप कहते हैं।

उत्तरकुरू, देवकुरू को छोड़ के पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच महाविदेह को कर्मभूमि कहते हैं शेष बीस क्षेत्र और छप्पन अन्तर द्वीप अकर्मभूमि है देवकुरू, उत्तरकुरू महाविदेह के सम्मिलित है तथापि यह अकर्मभूमि है। जहा युगलियों का निवास और युगलिक धर्म हो उसे अकर्मभूमि कहते हैं यहां चारित्रादि धर्म कदापि समवित नहीं होता॥ १८॥

+ जीवाभिगम सूत्र में युगल मनुष्यों के शरीर का वर्णन विस्तार से किया जिन्हों की सुन्दरता अलौकिक बतलाई है।

मनुष्य तिर्यंचों की स्थिति ।

मनुष्य की उत्कृष्ट स्थिति (जीवनकाल) तीन पल्योपम की और जघन्य स्थिति अन्तर मुहूर्त प्रमाण की है इसी तरह तिर्यंचों की भी जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति समझलेनी अर्थात् मनुष्यों के समान उत्कृष्ट ३ पल्योपम और जघन्य अन्तर मुहूर्त्त की स्थिति है।

पुनः स्थिति दो प्रकार की है (१) भव स्थिति. (२) काय स्थिति जो प्राणी अपने जघन्य या उत्कृष्ट आयुष्य प्रमाण से जीवित रहे उसे भव स्थिति कहते हैं और वही प्राणी दूसरी जाति में जन्म न लेकर वारंवार उसी उसी जाति में जन्म मरण करे उसे काय स्थिति कहते है अर्थात् एक ही जाति में वारंवार पैदा होना काय स्थिति है। मनुष्य और तिर्यंच की उपरोक्त स्थिति बताई है उसे भवस्थिति कहते हैं। जघन्य कायस्थिति मनुष्य और तिर्यंच की भवस्थिति के समान अन्तर मुहूर्त है परन्तु उत्कृष्ट काय स्थिति मनुष्य की सात, आठ भव है अर्थात् मनुष्य मनुष्य जाति में लगातार (वारंवार) सात, आठ वार जन्म ग्रहण कर सकता है पश्चात् अपनी जाति को छोड़ के अवश्य अन्य जाति में जाना पड़ता है।

समस्त तिर्यंचों की भवस्थिति और कायस्थिति एक समान नहीं है इस लिये किंचित् विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट भवस्थिति (आयुष्य) बाईसहजारवर्ष प्रमाण है, अपकाय की सातहजारवर्ष, वायुकाय की तीनहजारवर्ष, और तेउकाय की तीन अहोरात्रि की उत्कृष्ट भवस्थिति है और उत्कृष्ट कायस्थिति इनकी असंख्यात काल असंख्याती अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी की है। वनास्पतिकाय की उत्कृष्ट भवस्थिति दशहजारवर्ष

की और उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्त काल प्रमाण की है, द्वीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति बारहवर्ष की, तेरिन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति (४६) अहोरात्रि की और चौरिन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति छ मास प्रमाण की है तथा इन तीनों की उत्कृष्ट कायस्थिति सख्याताहजारवर्षों की है तिर्यंचपचेन्द्रिय गर्भज और समुर्छम दो प्रकार के होते हैं इन दोनों की भवस्थिति पृथक् पृथक् है गर्भजजलचर, गर्भजउरपरि, गर्भजभुजपरि इन की उत्कृष्ट भवस्थिति पूर्व कोड वर्ष की है तथा खेचरों (पक्षियों) की उत्कृष्ट भवस्थितिपल्योपम के असख्यातवें भागकी और स्थलचर (चार पाव वाले जानवरों) की उत्कृष्ट भवस्थिति तीनपल्योपमकी है। समुर्छम जलचर की उत्कृष्ट भवस्थिति (आयुष्य) पूर्व कोड वर्ष की, उरपरि की ५३ हजार वर्ष, भुजपरि की ४२ बयालीसहजार वर्ष, पक्षियों की ७२ हजारवर्ष, स्थलचर की चौरासीहजारवर्ष की उत्कृष्ट भवस्थिति है और पचेन्द्रियतिर्यंचों की उत्कृष्ट काय स्थिति सात, आठ भव भ्रमण रूप है तथा समुर्छम तिर्यंचपचेन्द्रिय की उत्कृष्ट कायस्थिति सात भव भ्रमण की है। विशेषाधिकार पन्नवणा सूत्र में है ॥ ७-१८ ॥

इति तत्वार्थ सूत्र तीसरा अध्याय हिन्दी अनुवाद समाप्तम् ।

चौथा अध्याय।

तीसरे अध्याय में नारकी, मनुष्य और तिर्यंचों का वर्णन किया गया है अब प्रस्तुत अध्याय में देवताओं का वर्णन करते हैं।

देवों के भेद।

देवाश्चतुर्निकायाः ॥ १ ॥

अर्थ—देवता चार निकाय "प्रकार" के होते हैं ॥ १ ॥

विवेचन—एक प्रकार के समूह या जाति को निकाय कहते है। देवों के चार निकाय हैं (१) भवनवासी (२) व्यंतर (३) ज्योतिषी (४) वैमानिक ॥ १ ॥

तीसरे निकाय की लेश्या।

तृतीयः पीतलेश्याः ॥ २ ॥

अर्थ—तीसरे निकाय वाले पीत लेशी हैं ॥ २ ॥

विवेचन—पूर्वोक्त चार निकाय के देवों में तीसरी निकाय ज्योतिष्कदेवों का है वे तीसरे निकाय वाले "ज्योतिष्क" देव केवल पीत अर्थात् तेजो लेश्या वाले होते हैं [१]लेश्या का अर्थ यहां द्रव्यलेश्या अर्थात् शारीरिक वर्ण से है किन्तु अध्यवसायरूप भावलेश्या नहीं, भाव लेश्या तो चारों निकाय के देवों में छओं प्रकार की होती है ॥ २ ॥

चार निकाय के भेद।

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पा कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

---

१ लेश्याके विशेष स्वरूप का वर्णन देखना हो तो देखो हिन्दी चौथे कर्म ग्रन्थ का परिशिष्ट पृष्ट २२

अर्थ—कल्पोत्पन्न पर्यन्त चारनिकायके देवता अनुक्रम से दश, आठ, पाच और बारह भेद वाले होते हैं ॥ ३ ॥

विवेचन—पूर्वोक्त चार निकाय देवों के अनुक्रम से भुवनपतिके दश, व्यन्तरके आठ, ज्योतिष्कके पाच, और वैमानिक के बारह भेद होते है। सूत्रकारने जो कल्पोत्पन्न पर्यन्त कहा उसका तात्पर्य यह है कि वैमानिक देवों के दो भेद है।। (१) कल्पोत्पन्न (२) कल्पातीत (अ० ४ सू १८) इनमें से उक्त भेद कल्पोत्पन्न के ही समझने चाहिये सौधर्म से यावत् अच्युत पर्यन्त बारह देवलोक कल्प कहलाते हैं और ऊपर के कल्पातीत हैं, इनका वर्णन आगे करेंगे ॥ ३ ॥

चार निकाय के अवान्तर भेद ।

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्य किल्बिषिका श्चैकशः ॥ ४ ॥

त्रायस्त्रिंश लोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त चार निकायों में प्रत्येक निकाय के इन्द्र, सामानिकादि प्रत्येक भेद करके उक्त दस भेद होते हैं (१) इन्द्र (२) सामानिक (३) त्रायस्त्रिंशक (४) परिषद् (५) आत्मरक्षक (६) लोकपाल (७) अनीक (८) प्रकीर्ण (९) अभियोग (१०) किल्बिषिक ॥ ४ ॥

व्यन्तर तथा ज्योतिष्क देव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल रहित होते हैं ॥ ५ ॥

विवेचन—भवनपति के देव असुरादि दसप्रकार के हैं वे प्रत्येक पूर्वोक्त दश दश भेद सहित होते हैं उक्त दश भेदों में (१)

जो स्व स्व निकायके देवोंका अधिपति होता है उसे इन्द्र कहते हैं (२) सामानिक जो आयुषादि में इन्द्रके समान हो और सामन्य पिता गुरु उपाध्यायके समान समान्य महत्त्व या महिमावाले हो केवलइन्द्रत्व उनमें नहीं होता वे सामानिक कहलाते हैं (३) जो मंत्री या पुरोहित का काम करते हैं वे त्रायस्त्रिंशक कहे जाते हैं (४) मित्र स्थानीय को परिषद् (५) शरीर की रक्षा के लिये शस्त्रों को धारण करनेवाले आत्मरक्षक (६) सरहदकीरक्षा करनेवाले या कोतवालको लोकपाल (७) सैनिक अथवा सेनापति को अनिक (८) नगरवासी या देशवासी को प्रकीर्ण (९) दास के तुल्य हैं वे अभियोगिक=सेवक (१०) जो शूद्र याने नीचजाति के समान हैं उन्हें किल्विषिक कहते हैं ॥ ४ ॥

आठ प्रकार के व्यन्तर और पांच प्रकार के ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंशक तथा लोकपाल वर्ज के शेष इन्द्रादि आठ ही भेद होते हैं अर्थात् व्यान्तर और ज्योतिष्क निकाय के देवों में त्रायस्त्रिंशक तथा लोकपाल जाति के देवता नहीं होते ॥ ५ ॥

किल्विषिक देवों का स्थान पहला तीसरा और छठा देवलोक हैं तो शेष वैमानिक देवों में दश भेद कैसे पाये जा सकते हैं यह विचारणीय है ।*

इन्द्रों की संख्या ।

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

---

* श्री भगवतीजी सूत्र श० १ उ० २ में किल्विषिक देवों की उत्पात जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट लांतकस्वर्गतक बतलाई है इस सूत्रोक्त चारों निकाय के देवों में किल्विषिक देव होते हैं पर लांतक देवलोक के ऊपर वे नहीं हैं पर निकायापेक्षा चारों निकाय में पाये जाते हैं ।

अर्थ—प्रथम की दो निकाय " भवनपति, व्यान्तर " में दो दो इन्द्र हैं ॥ ७ ॥

विवेचन—भवनपति दस और व्यन्तरों की आठ निकाय के दो दो इन्द्र हैं दक्षिण के और उत्तर के हैं कोष्टकद्वारा बतलाते हैं

स	देवों के नाम	दक्षिणेन्द्र	उत्तरेन्द्र
१	असुरकुमार	चमरेन्द्र	बलेन्द्र
२	नागकुमार	धरणेन्द्र	भूताइन्द
३	सुवर्णकुमार	वेणुदेव	वेणुदाली
४	विद्युतकुमार	हरिकान्त	हरिसिंह
५	अग्निकुमार	अग्निसिंह	अग्निमानव
६	द्वीपकुमार	पूर्णेन्द्र	विशेष्टेन्द्र
७	दिशाकुमार	जलकान्त	जलप्रभा
८	उदधिकुमार	अमृतगति	अमृतवहान
९	वायुकुमार	वेलवइन्द्र	प्रभजनेन्द्र
१०	स्तनितकुमार	घोषेन्द्र	महाघोषेन्द्र
१	पिशाच	कालेन्द्र	महाकालेन्द्र
२	भूत	सुरूपेन्द्र	प्रतिरूपेन्द्र
३	यक्ष	पूर्णभद्र	मणिभद्र
४	राक्षस	भीमेन्द्र	महाभीमेन्द्र
५	किन्नर	किन्नरेन्द्र	महाकिन्नरेन्द्र
६	किंपुरुष	सापुरुषेन्द्र	महापुरुषेन्द्र
७	मोहरग	अतिकायेन्द्र	महाकायेन्द्र
८	गन्धर्व	गतिरती	गतियशेन्द्र

प्रस्तुतसूत्रसे प्रथम की दो निकायों "भवनपति व्यन्तर" में दो दो इन्द्र कहे हैं इससे यह सूचित होता है कि शेष दो निकायों में उक्त संख्याका अभाव है। ज्योतिष्कोंमें चन्द्र और सूर्य दो इन्द्र हैं तथापि वे गिनती में असंख्याते हैं क्योंकि मनुष्यलोक में चन्द्र और सूर्य के २६४ विमान कहे हैं और शेष तिरछे लोकमें असंख्याते विमान हैं उन सर्व के पृथक् २ इन्द्र हैं इसलिये असंख्याते इन्द्र होते हैं। वैमानिक निकाय में प्रत्येक कल्प का १-१ इन्द्र है। जैसे-सौधर्ममें शक्रेन्द्र, ईशानमें ईशानेन्द्र, सनत्कुमारमें सनत्कुमारनामका इन्द्र है इसीप्रकार सबदेवलोकोंमें उसी देवलोक के नाम वाले एकैक इन्द्र है। परन्तु आनतप्राणत इनदोदेवलोकोंका एक ही इन्द्र है उसे प्राणतेन्द्र कहते हैं और अरण, अच्युत इन दो देवलोक में भी एकही इन्द्र है उसे अच्युतेन्द्र कहते हैं एवम् भवनपतियों के बीस इन्द्र हैं। व्यान्तरों १६, ज्योतिषियों के २ वैमानिकों के १० कुल ४८ इन्द्रहुए। अन्य शास्त्रों में ६४* भी कहतेहैं ॥ ६ ॥

प्रथम के दो निकायों की लेश्या।

पीतान्त लेश्याः ॥ ७ ॥

अर्थ—प्रथम के दो निकायवाले देव—तेजो पर्यन्त लेश्यावाले होते हैं अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और तेजो लेश्या वाले हैं ॥ ७ ॥

विवेचन—भवनपति और व्यन्तर जातिके देवोंमें शारी-

---

* दश भवनपतियों के २० इन्द्र सोलह व्यन्तरों के ३२ इन्द्र। ज्योतिषियों के २ इन्द्र। वैमानिकों के १० इन्द्र। एवम् कुल ६४ माने गये है। एवम् चौसट इन्द्र संमिलित हो के भगवान् के जन्माभिषेपादि महोत्सव करन के लिये आते है।

रिक वर्ण रूप द्रव्यलेश्या चार मानी गई है ।

देवों की प्रचारणा ।

कायप्रवीचारा आ एशानात् ॥ ८ ॥

शेषा स्पर्शरूपशब्दमन. प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥ ९ ॥

परेऽप्रवीचारा ॥ १० ॥

अर्थ—भवनपतिसे ईशान पर्यन्तके देव कायप्रवीचारक अर्थात् मनुष्य सदृश शरीरिक सुखभोगने वाले होते हैं ॥ ८ ॥

शेष देवों में दो,दो कल्पवासीदेव अनुक्रम से स्पर्श, रूप, शब्द और सकल्प द्वारा विषयसुखभोगते हैं ॥ ९ ॥

कल्प से परे कल्पातीत देव है वे सर्वप्रकारसे प्रचारणा रहितहैं अर्थात् उन्हें विषयवासना उत्पन्न नहीं होती ॥ १० ॥

विवेचन—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, पहले और दूसरे स्वर्ग के वैमानिक देव ये सब मनुष्यों के समान काय प्रवीचारका हैं अर्थात् सर्वांग शरीर द्वारा मैथुन विषयोंका उपभोग सभोगकरते हुए प्रसन्नता को प्राप्त होते हैं ।

तीसरे स्वर्गसे यावत् बारहवें स्वर्ग पर्यन्तके देव मनुष्यों के समान सर्वांग शरीर स्पर्श द्वारा काम सुखभोगनेवाले नहीं होते, वे अन्य रूपसे विषयसुखका अनुभव करते हैं । जैसे-तीसरे और चौथे स्वर्गवासी देव देवियों के मात्र स्पर्श से ही कामवासनासे तृप्त होकर प्रसन्नचित्त होते हैं । पांचवें और छट्ठे स्वर्गवासी देव, देवियों के सुसज्जितरूपको देखकर विषय जनित सुखसे संतोषित होते हैं । सातवें और आठवें स्वर्ग के देव देवियों के मुखारविन्दसे मनोहर विलास जनित मधुर तलताल युक्त गीत गान और हास्यादि

शब्दों के श्रवण मात्र से प्रीतिको प्राप्त होकर कामवासना के अनुभव आनन्द से संतोषित होते हैं। नौवें, दशवें तथा ग्यारहवें बारहवें इन चार देवलोकोंके देवोंकी कामवासना की तृप्ति देवियों के चिन्तवन मात्र से होजाती है। वे अपने मनके संकल्प मात्रसे ही परमप्रीति को प्राप्त होते हैं। इनको देवियों के स्पर्श अथवा रूप देखनेकी या गीतगानादि सुनने की आवश्यक्ता नहीं रहती। देवियों की उत्पत्ति का स्थान: पहला और दूसरा स्वर्ग ही है। तथापि वे विषयसुख की उत्सुकता के कारण या उन देवताओं को अपनी ओर आदरशील जानकर तीसरे आदि देवलोकों में रहे हुए देवों के पास पहुंच जाती हैं और तीसरे तथा चौथे देवलोक के देवता उन देवियों के हस्तादि स्पर्श मात्र से ही कामवासनासे तृप्त होकर परमानन्द को प्राप्त होते हैं। इसी तरह पांचवे, छट्ठे देवलोकके देव उनदेवियों के सुसज्जित मनोहर रूपको देखकर और सातवे आठवें देवलोक के देवता उनके सुरीले गीत गान या मन को प्रफुलित करनेवाले शब्दों को सुनकर विषयानन्द सुखोंका अनुभव करते हैं। इसके परे अर्थात् ऊपर नौवें आदि स्वर्गों में वे नहीं जा सकतीं, नौ से बारहवें स्वर्ग पर्यन्त के देवता उन देवियों के चिन्तवन मात्र से काम वासना रहित हो जाते हैं। आगे ग्रैवेकादि स्वर्गवासी देव हैं उन्हें कामवासना नहीं होती इसलिये वे उपरोक्त देवियों के स्पर्शादि की अपेक्षा नहीं रखते वे अन्य देवताओं से अधिक संतुष्ट और सुखी होते हैं यह अनुभव सिद्ध है कि जिन्हें किसी भी विषयकी अधिकवासना है वही अधिक दुःखी है उनका चित्त हमेशा चंचल और कलुषित रहता है पहले दूसरे देवलोक की अपेक्षा यावत् बारहवें देवलोक के देव मंद, मंदतर, मंदतम कामवासना वाले होते हैं अर्थात् ऊपर ऊपर के

स्वर्गवासी देवोंको नीचेकी अपेक्षा कामवासना मंद होने से उनके चित्त में सक्लेस की मात्राभी कम होती है काममोग के साधन भी कम होते हैं बारहवें देवलोकसे ऊपर के देव शान्त और सतोष जन्य परमसुख में सदा निमग्न रहते हैं ॥ ८-१० ॥

पूर्वोक्त देवों के भेद प्रभेद

भवनवासिनोऽसुरनाग विद्युत्सुपर्णाग्नि, वातस्तनितोदधि द्वीप दिक् कुमारा' ॥ ११ ॥

व्यन्तरा' किन्नर किम्पुरुषमहोरगगान्धर्व यक्षराक्षसभूत पिशाचाः ॥ १२ ॥

ज्योतिष्का सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्र प्रकीर्ण तारकाश्च॥१३॥

मेरू प्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १४ ॥

तत्कृत कालविभाग ॥ १५ ॥

बहिरवस्थिताः ॥१६॥

वैमानिका' ॥ १७॥

कल्पोपपन्ना. कल्पातीताश्च ॥ १८ ॥

उपर्युपरि ॥ १६ ॥

सोधर्मैशानसनत्कुमार माहेंद्रब्रह्मलोक लान्तकमहाशुक्र सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसुग्रैवेयकपु विजयवैजयन्त जयन्तापराजितेषुसर्वार्थसिद्धेच ॥ २० ॥

अर्थ—असुरकुमार १, नागकुमार २, सुवर्णकुमार ३, विद्युत्कुमार ४, अग्निकुमार ५, वायुकुमार ६, स्तनितकुमार

उदधिकुमार ८, द्वीपकुमार ६ और दिक्कुमार ७ ये भवनवासी निकाय के देव है ॥ ११ ॥

किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच व्यन्तर निकाय के देव हैं ॥ १२ ॥

सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और प्रकिर्ण-तारा-ये ज्योतिष्क निकाय है ॥ १३ ॥

वे (ज्योतिष्क) मनुष्यलोक मे मेरु की प्रदक्षिणा करने वाले नित्यगतिशील है ॥ १४ ॥

चर ज्योतिष्कों द्वारा काल का विभाग होता है ॥ १५ ॥

मनुष्यलोक के बाहिर ज्योतिष्क हैं वे स्थिर रहते हैं ॥१६॥

वैमानिक निकाय के देव हैं ॥ १७ ॥

वे कल्पोत्पन्न और कल्पातीत रूप दो प्रकार के हैं ॥ १८॥

और एक दूसरे के ऊपर ऊपर व्यवस्थित है ॥ १६ ॥

उनके वासस्थान सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, महेन्द्र ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, अरण्य, अच्युत, नौ ग्रैवेक और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित सर्वार्थ सिद्ध ये पांच अनुत्तर विमान कहलाते है इन विमानों में वैमानिक निकाय के देव रहते हैं ॥ २० ॥

विवेचन—चार निकायों में से प्रथम निकाय भवनवासी है। इसलिये यथाक्रम पहले इन्हीं का वर्णन करते है।

दश प्रकार के भवनपति देवों का आवासस्थान महामन्दिर -मेरु पर्वत के नीचे या तिरछा उत्तर दक्षिण दिशा में अनेक कोटा कोटी लक्ष योजनपर्यन्तरहते हैं असुरकुमार बहुधा आवास में और कभीकभी भवनमें निवास करते हे शेष नागकुमारादि का निवास प्रायः भवनोंमें ही होता है वे भवन रत्नप्रभा पृथ्वी पिंड को एक

सहस्रयोजन उर्द्ध, अधो भाग छोड के शेष एकलाखअठहत्तरहजार योजन में आवास हर जगह होते हैं और रत्नप्रभानारकी के नीचे नगरके समान होते हैं उसे भवन कहते हैं। और आवास बहुधा सबजगह पाये जाते हैं और वे मंडप के आकार के होते हैं।

प्रश्न—भवनपतिदेवोंको कुमार किसलिये कहते हैं?

उत्तर—वे कुमारोंके समान दिखनेमें मनोहर तथा सुकुमार मृदु, मधुर जातिवाले और क्रीडाशील होते हैं पूर्वोक्त दश प्रकार के भुवनपतियों के चिह्नादि सम्पत्ति स्वजातिके अनुसार पृथक् २ होती है जैसे (१) असुरकुमारोंके मुकुमें चुडामणिका चिह्न रहता है इसीतरह (२) नागकुमारके नाग (सर्प) (३) विद्युत्कुमारके वज्र (४) सुपर्णकुमारके गरुड़ (५) अग्निकुमार के कलश (६) वायुकुमार के मगर (७) स्तनितकुमार के वर्द्ध मान (८) उदधिकुमार के गज (६) द्वीपकुमार के सिंह और दिक्कुमार के अश्व का चिन्ह होता है। नागकुमारादि के चिन्ह आभरण विशेष में रहते हैं और सब के वस्त्र शस्त्राभूषणादि नाना प्रकार के होते हैं ॥ ११॥

व्यन्तर—द्वितीय निकाय व्यन्तर है। उनके वासस्थान जो भवन और आवास हैं वे उर्द्ध, अधो और तीर्यग अर्थात् लोक में तीनों जगह पाये जाते हैं वे अपनी इच्छा से या दूसरे की प्रेरणा से हरएक जगह आया जाया करते हैं इनमें से कई मनुष्यों की सेवा करने वाले भी हैं तथा विविध प्रकार के पहाड़, वन, गुफा और अंतरोंमें निवास करते हैं इसी कारण वे व्यन्तर कहलाते हैं इनमें जो किन्नर नाम के व्यन्तर हैं वे दश प्रकार के हैं जैसे-किंनर, किंपुरुष, किंपुरुषोत्तम किन्नरोत्तम, हृदयंगम, रूपशाली, अनिन्दित, मनोरम, रतिप्रीय और रतिश्रेष्ठ॥ किंपुरुष नाम के व्यन्तर भी दश प्रकार के होते हैं जैसे-पुरुष, सतपुरुष, महापुरुष, पुरुषवृ

षभ, पुरुषोभय, अतिपुरुष, मरुदेव, मरुत, मरुप्रभा और यक्षस्वान॥ महोरग दश प्रकार के हैं जैसे-भुजग, भोगशाली, महाकाय, अतिकाय, स्कन्धशील, मनोरम, महावेग, महेष्वक्ष, मरुकान्त और भास्वन्त ॥ गन्धर्व-बारह प्रकार के हैं जैसे-हाहा, हूहू, तुंबुरु, नारद ऋषिवादिक, भूतवादिक, कांदव, महाकांदव, रैवत, विश्वावसु, गीतरति और गीतयस॥ यक्ष तेरह प्रकार के हैं जैसे पूर्णभद्र, मणिभद्र, श्वेतभद्र, हरिभद्र, सुमनोभद्र, व्यतिपातिकभद्र, सुभद्र सर्वतोभद्र. मनुष्ययक्ष; वनाधिपति, वनाहर, रूपयक्ष, और यक्षोन्तर॥ राक्षस सात प्रकार के हैं जैसे भीम, महाभीम, विघ्न, विनायक, जलराक्षस, राक्षसराक्षस, और ब्रह्मराक्षस॥ भूत नौ प्रकार के हैं जैसे-सुरूप, प्रतिरूप, अतिरूप, भूतोत्तम, संकदिक, महास्कंदिक, महावेग, प्रतिछन्न, और आकाराग॥ पिशाच पन्द्रह प्रकार के हैं जैसे-कुष्माण्ड, पटक, जोप, आन्हक, काल, महाकाल, चोक्ष अचोक्ष, तालपिशाच, मुखरपिशाच, अधस्तारक, देह, महाविदेह, तूष्णकि, और वनपिशाच॥ उक्त आठप्रकारके व्यन्तरोंके चिन्ह-यथाक्रम है जैसे-अशोक, चम्पक, नाग, तुंवर, वट, खट्वांग, (योगीजनों के पास खपर वाला दंड), सुलस, और कंदव, खटवांग, सिवाय बाकी है चिन्ह वृक्ष जाति के है वे आभूषणादि में रहते हैं।१२।

ज्योतिष्क—तीसरा निकाय ज्योतिष्क देवों का है वे पांच प्रकार के हैं और मेरु की समतल भूमि से ७६० योजन पर्यन्त ऊँचाई का परिमाण है। तिरछा असंख्याता द्वीपसमुद्रपरिमाण है। समतल भूमि से ८०० योजन की ऊँचाई पर सूर्यका विमान है इससे ८० योजन ऊचाई पर चन्द्रका विमानहै और चन्द्रमासे बीसयोजन ग्रह, नक्षत्र तथा तारागणहैं। कितनेहीतारागण अनियतचारी हैं वे किसी समय सूर्य और चन्द्रमा के नीचे और किसी समय ऊपर गति करते हैं। जब नीचे गति करते हैं उस समय

ने सूर्यसे १० योजन पर्यन्त नीचे रहते है चन्द्रमासे चारयोजन ऊचाई मे नक्षत्रोंके विमानहै नक्षत्रोंसे चारयोजन बुधग्रह, बुध से तीनयोजन शुक्र, शुक्र से तीनयोजन गुरु, गुरू से तीनयोजन मगल, मगलसे तीनयोजन शनिश्चर का विमान है ज्योति अर्थात् प्रकाशमान विमानों मे रहने के कारण सूर्यादि ज्योतिष्क कहलाते हैं अथवा प्रकाश रूप होने से वे ज्योतिष्क कहे जाते है उनके मस्तक पर जो मुकुट है उनमें उज्वल देदिप्यमान भास्कर मडल के समान सूर्य के और चन्द्रादि, ताराओं के मडल रूप अपने अपने चिन्ह यथाक्रम से चिन्हित हैं॥

चर—पूर्व अ० ३ सू० १४ में कह आये है कि मानुष्योत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्य लोक है इसमें रहनेवाले ज्योतिष्क नित्यगति शील होकर मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुए सदैव भ्रमणकिया करते है और वे मेर से ११२१ योजन दूर रहते है मनुष्य लोक में १३२ सूर्य और १३२ चन्द्रमा हैं जैसे-जम्बूद्वीप मे २ २, लवणसमुद्र में ४ ४, धातकीखण्ड में १२ १२, कालोदधिसमुद्र में ४२ ४२, पुष्करार्द्ध द्वीप में ७२ सूर्य और ७२ चन्द्रमा है। एकक चन्द्रमा का परिवार २८ नक्षत्र ८८ ग्रह और ६६६७५ कोटाकोटी तारागण हैं वे ज्योतिष्क विमान लोकमर्यादा अथवा प्राकृतिक स्वभावसे सदा स्वयम् फिरा करते है तथापि ऋद्धिविशेषके लिये अभियोग्य (सेवक) नामकर्म उदयहैं जिनको ऐसे नित्यगतिसे प्रीतिरखनेवाले देवभ्रमण कराते है अर्थात् व क्रीडाशीलहोकर पूर्वदिशीमें सिंहाकृति, दक्षिणदिशीमें गजाकृति, पश्चिमदिशीमें वृषभरूप और उत्तरदिशीमें अश्वरूपको धारण करके विमान को उठाकर अतिवेगसे भ्रमणकरते हैं "दौडते हैं'। काल-का व्यवहार मुहूर्त, घडी, अहोरात्र, पक्ष, मासादि अतीत, अनागत, सख्येय, असख्येय, अनतरूप, अनेक प्रकार का है यह केवल मनुष्यलोकसे ही व्यवहार किया जाताहै। मनुष्यलोकके

बाहिर कालका व्यवहार नहीं है क्योंकि वहां ज्योतिष्क देवों की संचारण अर्थात् भ्रमण विशेषगति नहीं है तथापि अपेक्षा से वहां जो काल का व्यवहार माना जाता है वह केवल मनुष्यलोक व्यवहृत काल समझना चाहिये। कालका व्यवहार नियतक्रियाके आधार पर है और वह क्रिया चर ज्योतिष्क देवके प्राकृतिक स्वभाव विशेषसे हुआ करती है इसलिये स्थूल कालविभाग सूर्य आदि ज्योतिष्क देवोंके गतिपरही अवलम्बित है और इसीसे जानाजाता है। समयादि सूक्ष्मकाल विभागसे नहीं जाना जाता वह सबसे जघन्य गति परिणत परमाणु का पलटन स्वभाव विशेष है और इतना सूक्ष्म है कि उसे परमऋषि केवलीके सिवाय अन्य नहीं जानते। नियत स्थान में सूर्य का दर्शन होना और लुप्त होना ही उदयास्त है उस उदय और अस्त के मध्यवर्ती क्रिया को दिन कहते हैं। इसीतरह सूर्य के अस्त से उदयवर्ती मध्य क्रिया रात कहलाती है दिन, रात का तीसवां भाग मुहूर्त है। पन्द्रह अहोरात्र का पक्ष, दो पक्षका एकमास, दोमासकी ऋतु, तीनऋतुकी अयन, दोअयनका वर्ष, पांचवर्षका युग इत्यादि अनेक प्रकार से लौकिक काल विभाग सूर्य की गति क्रिया से कहाजाता है। प्रवर्तमान क्रिया वर्तमान काल है और होचुकी वह अतीतकाल है, जो क्रियाहोनेवाली है वह अनागतकालहै। जो काल गिनतीमें आता है उसे संख्येय, जो गिनती में नहीं आता केवल उपमा द्वारा समझाया जाय वह असंख्यात्। जैसे पल्योपम, सागरोपम इत्यादि और जिसका अन्त नहीं उसे अनन्त कहते हैं ॥ १५ ॥

स्थिरज्योतिष्क—मनुष्यलोक के बाहिर सूर्यादि ज्योतिष्क विमान स्थिर है उनका स्वभाव ही ऐसा है कि वे विचरणा क्रिया नहीं करते उनकी लेश्या और प्रकाशभी एक रूप से स्थित रहता है। अर्थात्-राहू आदि की छाया न पड़ने से उनका स्वाभाविक

रत ही रहता है। उदयास्त नहीं होने से प्रकाश भी लक्ष योजन प्रमान मे एक समान स्थित रूप रहता है ॥ १६ ॥

वैमानिक देव—चतुर्थ निकाय वैमानिक देवों का है यह नाम केवल परिभाषिक है क्योंकि विमान में रहनेवाले ज्योतिष्क आदि अन्य देव भी हैं, परन्तु उन्हें वैमानिक नहीं कहते ॥ १७ ॥

वैमानिक देवो के दो भेद हैं (१) कल्पोत्पन्न (२) कल्पातीत, कल्प, आचार और व्यवहार ये एकार्थवाची शब्द हैं जिन देवों को तीर्थंकरादि के जन्म कल्यानक आदि कार्यों में अवश्य जाना पडता है वे कल्पोत्पन्न कहलाते हैं। अथवा जिनमें स्वामी सेवक आदि न्यूनाधिकपनेका व्यवहार है वे कल्पोत्पन्न कहलाते हैं और जिनको किसी प्रकार का आचार व्यवहार नहीं करना पडता और न स्वामी सेवकादि का भाव है सब सामान्यरूप से रहते हैं उन्हें कल्पातीत कहते हैं ॥ १८ ॥

उनके विमान सब एक स्थान में नहीं किन्तु यथा निर्देश क्रम के अनुसार वे एक दूसरे के ऊपर ऊपर स्थित हैं १९

कल्प के सौधर्म, ऐशानादि बारह भेद हैं। ज्योतिषचक्र से असंख्यात योजन ऊपर सौधर्म कल्प है। वह मेरु से दक्षिण दिशा के आकाश प्रदेशों में अवस्थित है इसके उत्तर दिशा में ऐशान कल्प है सौधर्म कल्प से समश्रेणी असंख्यात योजन ऊपर जाने पर सनत्कुमार कल्प है, ऐशान कल्प के ऊपर सम श्रेणी महेन्द्र कल्प है, इन दोनों के ऊपर मध्यवर्ती ब्रह्मलोक कल्प है, अर्थात् ठीक मेरु शिखाकी समश्रेणी पर है, इसके ऊपर अनुक्रम से लांतक, महाशुक्र तथा सहस्रार ये चारों कल्प एक दूसरे के ऊपर ऊपर हैं, इस से ऊपर सौधर्म और ऐशान कल्प के समान उत्तर दक्षिण दिशा में आनत, प्राणत दो कल्प हैं और इनके

ऊपर समश्रेणी आरण तथा अच्युत कल्प हैं, इन कल्पों के ऊपर अनुक्रम से एक दूसरे के ऊपर नौ विमान हैं वे पुरुषाकृत लोक के ग्रीवा स्थानीय होने से ग्रैवेयक कहलाते हैं। इनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध ये पांच विमान हैं सबसे ऊपर यानि प्रधान होने से अनुत्तर कहलाते हैं। सौधर्म से यावत् अच्युत पर्यन्त के देव कल्पोत्पन्न कहलाते हैं और इनसे ऊपर के सब कल्पातीत हैं वे सब इन्द्र के समान हैं इसलिये अहमेन्द्र कहलाते हैं। किसी भी कारणवश वे मनुष्य लोक में नहीं आते और न अपने स्थानसे ही चलित होते हैं। हलन चलन किया करने वालों को कल्पोत्पन्न कहते हैं॥ १९-२०॥

विषय की न्यूनाधिकता

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियाऽधिविषयतोऽधिकाः　२१

गति शरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः　२२

अर्थ—सौधर्मकल्पोके देवों की अपेक्षासे ऊपर ऊपर के देवोंकी स्थिति, प्रभाव, सुखद्युति, लेश्या विशुद्ध है और इन्द्रिय विषय, अवधि विषय में अधिकाधिक है गति, शरीर, परिग्रह और अभिमानमें वे ऊपर ऊपरके देव हीन हीनतर हैं॥ २१-२२॥

विवेचन—सौधर्मादि नीचे के देवोंकी अपेक्षा ईशानादि ऊपर ऊपरके देव उक्त सात बातोंमें अधिक होते हैं। जैसे:—

(१) स्थिति जिसका सविस्तार वर्णन अ० ४ सू० २३में लिखेंगे।

(२) प्रभाव—निग्रह, अनुग्रह अर्थात् अहित, हितका सामर्थ्य, अणिमा, महिमादि सिद्धि का सामर्थ्य आक्रमणादि करके अन्यदेवोंसे कामकरवाना इत्यादि प्रभाव ऊपर ऊपर के देवोंमें

अधिक अधिकतर होता है तथापि अभिमान और सक्लेश से वे हीन हीनतर होते हैं।

(३-४) सुख और द्युति—ग्राह्य विषयके अनुभवोंको सुख और शरीर वस्त्राभरणादिके तेजको द्युति कहते हैं। ये दोनों विषय ऊपर २ के देवोंमें अधिक२ होता है क्योंकि क्षेत्र स्वभावसे शुभपुद्गलोंकी उत्तरोत्तर प्रकृष्टता है।

(५) लेश्या—इसका स्पष्टिकरण आगे सू० २३में करेंगे। यहां इतनाही कहते हैं कि नीचेकी अपेक्षा ऊपरके देव विशुद्ध विशुद्धतर लेश्यावाले हैं।

(६) इन्द्रिय विषय—दूर से इष्ट विषयको ग्रहण करना यह इन्द्रियों का धर्म है यह उत्तरोत्तर गुणवृद्धि और सक्लेश की न्यूनता होनेसे सौधर्मादि देवोंकी अपेक्षा इशानादि देवोंको इन्द्रिय पाटव उत्तरोत्तर विशुद्ध विशुद्धतर होता है।

(७) अवधिज्ञान विषय—अवधिज्ञान का सामर्थ्य भी उत्तरोत्तरदेवों को विशेष विशेषतर होता है पहले और दूसरे स्वर्ग के देवोंको अध रत्नप्रभा पर्यन्त तथा तिर्छा असंख्याताल्लक्षयोजन और उर्द्ध अपने विमानकी पताका पर्यन्त अवधिज्ञानसे देखने जाननेका सामर्थ्य है, तीसरे और चौथे स्वर्गके देव नीचे शर्करप्रभा, नारकी, उर्द्ध अपने विमान की पताका और तिर्छा असंख्याता द्वीप समुद्र पर्यन्त देख सकते हैं, इसीतरह क्रमश अनुत्तर विमानवासी देव सम्पूर्ण लोकनालीको अवधिज्ञानसे देख सकते हैं। जिन देवों को अवधिज्ञानकी सामान्यता है वे भी नीचेकी अपेक्षा ऊपरके देव उसी विषय को विशुद्ध विशुद्धतर देखते हैं ॥ २२ ॥

अब उन चार विषयोंका वर्णन करते हैं जिसमें नीचेकी अपेक्षा ऊपर के देवोंमें न्यूनता पाई जाती है।

(१) गति—गमनक्रियाकी शक्ति और गमन क्रिया की

प्रवृत्ति ये दोनों बातें उत्तरोत्तर देवों में हीन हीनतर होती है क्यों कि वे अधिक भाग्यशाली और उदासीनतावाले होते हैं। इसीलिये उत्तरोत्तर गमन और रति आदि क्रिया में वे हीन विषयी हैं। जैसे- सनत्कुमारादि देव जिनकी जघन्य स्थिति दो सागरोपमकी होती है वे नीचे सातवीं नरक पृथ्वी और तिरछा असंख्याता हजारों कोड़ा कोड़ी योजन पर्यन्त जानेकी सामर्थ्य रखते हैं इससे ऊपर के विमानवासी देव गति विषय हीन हीनतर होते हुए यावत तीसरे नरक पर्यन्त जा सकते हैं। गति विषयक शक्ति चाहे जितनी अधिक हो परन्तु यद्यपि कोई भी देव तीसरे नरकसे आगे न गया है और न जावेहीगा।

(२) शरीर परिमाण—पहले और दूसरे स्वर्गके देवोंकी ऊँचाई सात हाथ परिणाम है. तीसरे और चौथे स्वर्गमें छै हाथ, पांचवें, छट्ठे स्वर्गमें पांच हाथ, सातवें, आठवें स्वर्गमें चार हाथ. नौवें से बाहरवें स्वर्ग पर्यन्त तीन हाथ, नौग्रैवेकमें दो हाथ, और पांच अनुत्तर विमानवासी देवोंके शरीरकी ऊँचाईका मान एक हाथ का ही है।

(३) परिग्रह—पहले स्वर्गमें बत्तीसलक्ष विमान हैं. दूसरे में अट्ठाईसलक्ष, तीसरे में बारह लक्ष, चौथेमें आठ लक्ष, पांचवें में चार लक्ष, छट्ठेमें पचासहजार, सातवे में चालीस हजार, आठवेंमें छ हजार, नौवे से बाहरवें पर्यन्त सातसौ, अधोवर्ती तीनग्रैवेक में एक सौग्यारह, मध्यवर्ती तीनग्रैवेक में एक सौ सात ऊर्ध्वके तीनग्रैवेक में एकसौ और पांच अनुत्तर विमान में एकैक विमान काही परिग्रह है।

अभिमान—अहम् भावको कहते है। वह स्थान, परिग्रह शक्ति, विषय, विभूतिस्थिति आदि आदि से उत्पन्न होता है। कषाय की मंदता होनेसे उत्तरोत्तर देवोंको अभिमान भी न्यून न्यूनतर होता है।

इनके सम्बन्धमें दूसरी और भी पाच बातें जानने योग्य हैं (१) उश्वास (२) आहार (३) वेदना (४) उपपात (५) अनुभाव।

(१) उश्वास—जैसे उत्तरोत्तर देवों की स्थिति बढती है वसे उनके उश्वास का काल मान भी बढ़ता है यथा दसहजार वर्षके आयुष्यवाले देव सातस्तोक परिमाण कालमें एकउश्वास लेतेहैं। एकपल्योपम आयुष्यवाले प्रत्येक मुहूर्त एकउश्वास लेते हैं, एक सागरोपम आयुष्यवाले एकपक्षमें उश्वास लेते हैं एव जितने सागरोपम का आयुष्य हो उतने ही पक्षमें वे एकवार उश्वास ग्रहण करते हैं।

(२) आहार—इस सम्बन्धमें ऐसा नियम है कि दस हजार वर्ष आयुष्यवाले देव एक एक दिन की आड से आहार करते हैं पल्योपम आयुष्यवाले देव पृथक्त्व दिन (२ से ६ की संख्याको पृथक्त्व माना है) में एक बार, सागरोपम आयुष्यवाले देवोंके लिये यह नियम है कि जितने सागरोपम का आयुष्य हो वे उतने ही हजार वर्षोंमें एकवार आहार ग्रहण करते हैं जैसे एकसागरकी आयुष्यवाला एकहजारवर्ष, दो सागरोपम की आयुष्यवाला दोहजार वर्ष इत्यादि।

(३) वेदना—सामान्य रीति से प्राय वे सातावेदना अर्थात् सुख का ही अनुभव करते हैं, कदाचित दुख उत्पन्नहो तो अन्तरमुहूर्तसे अधिक नहीं रहता। साता वेदनी भी अधिक से अधिक छ मास पर्यन्त एकसी सामान्यरूप रहकर पश्चात् अवश्य न्यूनाधिक रूपसे उसका परिवर्तन होता है।

(४) उपपात—इसका अर्थ उत्पत्तिस्थान की योग्यताहै। अन्य लिंग "जैनेतर लिंग" मिथ्यात्वी बारहवें स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न हो सकता है। स्वलिंग मिथ्यात्वी ग्रैवेक पर्यन्त, सम्यक्दृष्टि पहले स्वर्ग

से यावत् सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। परन्तु चतुर्दश पूर्वी संयती छट्ठे स्वर्ग से नीचे उत्पन्न नहीं होता।

(५) अनुभाव—इसका अर्थ लोकस्थिति, लोकानुभव, लोकस्वभाव, जगद्धर्म अनादि परिणाम संतति है। विमान, सिद्ध-शिलादि निराधारपने आकाश में रहे हुए हैं इसका मुख्य कारण लोक स्थिति है। भगवन् महर्षि अर्हन् के जन्माभिषेकादि प्रसंगोंपर सव देव चाहे वैठे, सोते या खड़े हों अथवा अन्य किसी भी दशामें हों उनके आसन शयन अकस्मात् शीघ्रता से चलायमान होते हैं। तत्पश्चात् अवधिज्ञान के उपयोगसे भगवान् के जन्मादि पांच क-ल्याणकोंका शुभ समय जानकर तथा उनके नामकर्म से उत्पन्न हुई विभूति "ऐश्वर्य" को अवधिज्ञान से देखकर संवेग "भक्ति सहित वैराग्य" उत्पन्न होनेसे सत्धर्म वहुमानसे प्रेरित होकर कितने ही देव उनके समीप जाकर स्तुति, वंदन, पूजन, उपासनादि से अपना आत्मकल्याण करते हैं और कितने ही देव अपने स्थानमें रहे हुए ही सद्धर्मके अनुरागसे विकसित नेत्र हो हाथ जोड़ दण्डवत् प्रणाम नमस्कारादि से तीर्थंकरों की पूजा, अर्चा करते हैं यह लोकानुभाव कार्य है ॥ २१-२२ ॥

वैमानिकों में लेश्या।

पीतपद्म शुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २३ ॥

अर्थ—प्रथम के दो वैमानिक देवोंमें पीत 'तेजो' लेश्या तथा उसके ऊपर तीन विमानों में पद्मलेश्या और शेषमें शुक्ल लेश्याहै ॥ २३ ॥

विवेचन—चतुर्थनिकाय देवोंमें लेश्याकी यह अवस्थाहै कि प्रथमके "सौधर्म, ऐशान" दो कल्पोंमें पीत अर्थात् तेजोलेश्या होतीहै उसके ऊपर तीन "सनत्कुमार, महेन्द्र, ब्रह्म" कल्पोंमें पद्म-

लेश्या और शेष वैमानिकदेवोंमें शुक्ललेश्याहोतीहै सामान्यलेश्या वालेदेवोंमे भी ऊपर ऊपरके वैमानिकदेवोंमे अधिक अधिकतर विशुद्धलेश्याहोतीहैं। यह नियम शारीरिकवर्णरूप द्रव्यलेश्या विषयकहै। क्योंकि अध्यवसायरूप भावलेश्या तो सबदेवोंमें छओं प्रकारकी होती है ॥ २३ ॥

कल्पों की परिगणना।

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २४ ॥

अर्थ—ग्रैवेयकसे पूर्वके वैमानिककल्प कहलातेहैं ॥ २४ ॥

विवेचन—जिसमे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंशादि रूपसे देवोंकी विभागकल्पना की जाय उसे कल्पकहतेहैं। सौधर्मसे आदि लेकर ग्रैवेयकके पूर्व अर्थात् अच्युतपर्यन्तके देव कल्पोत्पन्न कहलाते हैं और ग्रैवेयकसे आदि लेकर उत्तर वर्ती देव कल्पातीतहैं क्यों कि उक्त विभागरूप कल्प उनमें नहीं है।

प्रश्न—भगवान् परमपि अर्हत् के जन्माभिषेकादिमें जो देवजातेहैं वे सब सम्यग्दृष्टि होते हैं ?

उत्तर—नहीं किन्तु वेही सम्यग्दृष्टि है जो सद्धर्म बहुमानपूर्वक अतिप्रसन्नचित्तहोके जन्मादि स्थानों पर जातेहैं और आनन्दसे रोमाञ्चितहोके गदगद स्वरसे भगवान्की स्तवना व प्रति-उपासना करते अथवा धर्मोपदेश सुनतेहैं जिससे कर्मोंकी अनन्त निर्जरा होतीहै मिथ्यादृष्टि देवहै वे केवल चित्तविनोद वा इन्द्रकी अनुकूलतासे परस्परके आनन्दसे अथवा सबदेव ऐसे करते आयेहैं इस लिये हमको भी करना चाहिये, ऐसा समझ प्रसन्नता को प्राप्त होते हुवे जन्माभिषेकादि उत्सवोंमें सम्मिलित होतेहैं और वहा भगवान् की स्तुति करते हुए या उनका उपदेश सुनके कितनेक देव सम्यक्त्वको प्राप्तकरतेहैं और जिनको सम्यक्त्व प्राप्तहै वे कर्मोंकी

यथा स्वरूप निर्जरा करसकते हैं ॥ २४ ॥

लोकान्तिक देवोंका वर्णन ।

ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ॥ २५ ॥

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च[1] ॥ २६ ॥

अर्थ—जिनका ब्रह्मदेवलोक निवासस्थानहै वे लोकान्तिकदेव कहलाते हैं ॥ २५ ॥

उनके सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित अव्याबाध, मारुत और अरिष्ट ये नौ भेद हैं ॥ २६ ॥

विवेचन—लोकान्तिक देव विषयरहित होने से देवर्षि कहलाते हैं। उनमें परस्पर स्वामी सेवकपने का भाव नहीं है। किन्तु सब स्वतंत्र भावसे रहतेहैं और तीर्थंकरों के निष्क्रमण अर्थात् गृहत्याग-दिक्षा समय जब समीप होताहै तब वे उनके पास आकर "बुज्झह, बुज्झह" शब्दद्वारा निवेदन करते हुए अपने आचार का पालन करतेहैं। उनका स्थान ब्रह्मलोक नामक पांचवे स्वर्गके चौतर्फ हैं, अर्थात् चार दिशी विदिशीके सिवाय अन्यस्थान में नहींरहते। वे वहां से च्युत होकर मनुष्यजन्म पाके मोक्षपदप्राप्त करते हैं ॥ २५ ॥

प्रत्येक दिशाविदिशा और मध्यभागमें एकेक जातिका निवासस्थान है। इसहेतुसे इनकी नौ जाति मानी गई है। जैसे—पूर्व, उत्तर अर्थात् ईशान कोणमें सारस्वत. पूर्वदिशीमें आदित्य इसीप्रकार अनुक्रमसे आठ विमान प्रदक्षिणाकृत्य और नौवां अरिक नामक विमान उनके मध्यवर्तिहैं। इनमें रहनेवाले देव लोकान्तिक

---

१ रायचन्द्र जैन शास्त्र माला से छपी हुई पुस्तक में (अरिष्ठाश्च) यह पाठ कोष्टक में दिया है।

कहलातेहैं अर्थात् उनकानिवासस्थान लोकका अन्तिमभाग (किनारा) है। सारस्वतादि विमानोंके नामसे ही उनदेवोंके नाम प्रसिद्ध हैं (दिगाम्बरीय सूत्र और भाष्यकारोंने लोकान्तिकदेवोंके आठही भेद कहे हैं। उसमें मरतका उल्लेखनहींहै परन्तु ठाणागादि सूत्रोंमें नौ भेद कहे हैं। और उत्तमचरित्रमें तो दस भेदका भी उल्लेख है॥ २५-२६॥

अनुत्तर देवोंका विशेषत्व।

निजयादिषु द्विचरमा' ॥ २७ ॥

अर्थ—विजयादि देव केवल दो वार विजयादि वैमानमें देवभव धारण कर सिद्धावस्थाको प्राप्तहोते हैं॥ २७॥

विवेचन—अनुत्तरविमान पांचप्रकारकेहैं जिसमें विजय वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन चार विमानों के देव द्विचरमा अथात् अधिकसे अधिक दो वार विजयादि वेमानमें देवभव धारणकर मोक्षपदप्राप्तकरतेहैं। जैसे अनुत्तर विमानसे च्युत होकर मनुष्यजन्म और इस मनुष्यजन्मसे फिर अनुत्तरविमानमें उत्पन्नहोते हैं। वहांसे पुन मनुष्यजन्म धारण कर मोक्षपद प्राप्त करते हैं, परन्तु सर्वार्थसिद्ध विमानवासीदेव केवल एक ही वार मनुष्यजन्म लेकर उसी भव मोक्षप्राप्तकरतेहैं। इस प्रकारका नियम अन्य किसी प्रकारके देवों के लिये नहीं है, क्योंकि कोई एकवार कोई दो कोई तीन कोई चार कोई कोई इससे भी अधिक वार जन्म धारण करने वाले होते हैं॥ २७॥

तिर्यग्योनि विषय।

औपपातिक मनुष्येभ्यःशेषास्तिर्यगयोनयः ॥ २८ ॥

अर्थ—औपपतिक और मनुष्योंके सिवाय जो शेष रहेहैं

वे तिर्यग् योनिके जीव हैं ॥ २८ ॥

विवेचन—तिर्यंच किसको कहतेहैं ? इस प्रश्नका उत्तर प्रस्तुतसूत्रमें मिलताहै । औपपातिक " देव, नारकी " और मनुष्य को छोड़के शेष सबसंसारी जीव तिर्यंच कहलातेहैं परन्तु तिर्यंच कहनेसे एकेन्द्रियसे यावत् पंचेन्द्रियका बोधहोताहै अर्थात् तिर्यंच एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रियतक सब एक प्रकारके होते हैं देवता, नारकी और मनुष्यों के लिये जैसे नियतस्थानहैं वैसे तिर्यंचोंके लिये नियतस्थान नहीं है । अर्थात् देवता, नारकी मनुष्य, लोकके किसी एक विभागमें पायेजातेहै परन्तु तिर्यंचों के लिये खास नियत स्थाननहीं है वे समस्त लोकमें पाये जाते हैं ।

अधिकार सूत्र ।

स्थितिः ॥ २९ ॥

अर्थ—स्थिति आयुष्य का वर्णन करते हैं ॥ २९ ॥

विवेचन—मनुष्य और तिर्यंचों की जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति आगे कह चुके । अब इस वर्तमान अध्ययन की समाप्ति पर्यन्त देव, नारकी के स्थिति विषयी अधिकार कहते हैं ।

भवनपति निकायकी उत्कृष्ट स्थिति

भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपम मध्यर्धम् ॥ ३० ॥

शेषाणां पादोने ॥ ३१ ॥

असुरेन्द्रयोःसागरोपममधिकंच ॥ ३२ ॥

अर्थ—भवनवासी देवोंमें असुरेन्द्रवर्जके दक्षिणार्ध इन्द्रकी डेढ पल्योपमकी स्थिति है ॥ ३० ॥

शेष इन्द्रोंकी स्थिति पौने दो पल्योपम की है ॥ ३१ ॥

दो असुरेन्द्रों की दक्षिण और उत्तराधिपति की

अनुक्रम से सागरोपम तथा कुछ सागरोपम से भी अधिक स्थिति है ॥ ३२ ॥

विवेचन—यहा भवनपति निकायकी जो स्थिति बताई जाती है वह उत्कृष्ट समझनीचाहिये जघन्य स्थितिका वर्णन सूत्र ४५ मे आवेगा। इनके असुरकुमार, नागकुमारादि दश भेदोंके नाम सूत्र ११ में कहआये हैं। वे दक्षिणाधिपति और उत्तराधिपति रूप दो दो इन्द्र हैं जिनकेनाम सूत्र ६ के विवेचनमें लिखेह इनमें दक्षिणार्धका स्वामी चमरेन्द्रकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम और उत्तरार्धका स्वामी बलेन्द्रकी साधिक एकसागरोपमकी उत्कृष्टस्थितिहै शेष नागकुमारादि नौ प्रकारके भवनपति दक्षिणार्धकेस्वामी धरणेन्द्रादि जो नौ इन्द्रह उनकी उत्कृष्टस्थिति डेढ पल्योपम की है और उत्तरार्ध के भूतानन्दादि नौ इन्द्र है उनकी कुछ न्यून दो पल्योपम की उ० स्थिति है।

वैमानिकों की उत्कृष्ट स्थिति।

सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥ ३३ ॥

सागरोपमे-अधिकेच ॥ ३४ ॥ ॥ ३५ ॥

सप्त सनत्कुमारे ॥ ३६ ॥

विशेषत्रिसप्त दशैकादश त्रयोदश पचदशभिरधिकानि च॥३७॥

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धेच ॥ ३८ ॥

अर्थ—सौधमादिदेव लोक हैं उनकी यथाक्रमसे उत्कृष्ट स्थिति कहेंगे ॥ ३३ ॥

सौधर्मकल्पके देवोंकी परा स्थिति दो सागरोपमकीहै।३४।

ईशानकल्पके देवोंकी साधिक दो सागरोपम ॥ ३५ ॥

सनत्कुमारकल्पक देवोंकी सात सागरोपम ॥ ३६ ॥

यहां पूर्व सूत्रसे सातकी अनुवृत्ती आतीहै इसलिये साधिक सागरोपम, तीनसे अधिक सागरोपम. सातसे अधिक सातसागरोपम, सातसे अधिक दससागरोपम, सातसेअधिक ग्यारहसागरोपम, सातसेअधिक तेरहसागरोपम, सातसेअधिक पन्द्रह सागरोपम, अधिक परास्थिति है महेन्द्र से यावत् अच्युत कल्प वासीदेवोंकी है ॥ ३७ ॥

अरण,। अच्युतके ऊपर नौग्रैवेक, चारअनुत्तर और सर्वार्थसिद्धके देवोंकी परास्थिति एक एक सागरोपम अधिकहै॥३८॥

विवेचन—यहां जो वैमानिकदेवोंकी स्थितिबताई है वह उत्कृष्टस्थितिहै जैसे सौधर्मदेवोंकी दोसागरोपम. ईशानदेवोंकी साधिक दोसागरोपम, सनत्कुमारदेवों की सात सागरोपम, महेन्द्र देवोंकी साधिकसातसागरोपम. ब्रह्मलोकदेवोंकी दशसागरोपम, लोकान्तिकदेवोंकी चौदहसागरोपम महाशुक्रदेवोंकी सत्रहसागरोपम, सहस्रारदेवों की अठारहसा० अणत् उन्नी० सा० प्रणत् वीस० सा० अरण इक्कीस सा० अच्युत बाईस सा० प्रथमत्रीक् ग्रैवेग पचीस सा० द्वितीयत्रिक्ग्रैवेग अठावीस सा० तृतीयत्रिक्ग्रीवैग एकतीस सा० अनुत्तरवैमानवासीदेवोंकी तैंतीससागरोपम की परास्थिति हैं जघन्यस्थिति आगे सूत्रसे बतलाते हैं।

जघन्य स्थिति।

अपरा पल्योपममधिकं च ॥ ३९ ॥

सागरोपम—अधिके च ॥ ४० ॥ ४१ ॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वानंतरा ॥ ४२ ॥

अर्थ—अपरा 'जघन्य' स्थिति पहले स्वर्गकी एक पल्योपम और दूसरेस्वर्ग की साधिक पल्योपम है ॥ ३९ ॥

तीसरे स्वर्गकी दो सागरोपम ॥ ४० ॥
चौथे स्वर्गकी उससे साधिक ॥ ४१ ॥

पूर्व पूर्व स्वर्ग में जो उत्कृष्ट स्थिति है वही पर२ स्वग की जघन्य स्थिति समझना चाहिये ॥ ४२ ॥

विवेचन—सौधर्मस्वर्गके देवोंकी जघन्यस्थिति इस अनुक्रमसे है जैसे=पहिले स्वर्गकी एक पल्योपम, दूसरे की उससे साधिक, तीसरेकी दोसागरोपम, चौथेकी दो सा० सेअधिक, पाचवें की सातसा० छट्ठेकी दस सा० सातवेंकी चौदह सा० आठवेंकी सत्रह सा० नौवें की अठारह सा० दशवेंकी उन्नीस सा० ग्यारहवें की बीस सा० बारहवेंकी इक्कीस सा० नौ ग्रैवेयक में नीचे त्रक की २२ २३ २४ सा० मध्यके त्रक की २५-२६-२७ सा० ऊपरके त्रककी २८-२९-३०सा० चारअनुत्तर विमानकी ३१ सा० सर्वार्थसिद्ध की ३२ सागरोपम की जघ य स्थिति है ॥ ३९—४२ ॥

नारकी की जघन्य स्थिति ।

नारकाणाच द्वितीयादिषु ॥ ४३ ॥
दश वर्षसहस्राणिप्रथमायाम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—द्वितीयादि नरकभूमिमें भी पूर्व पूर्व की जो उत्कृष्ट स्थितिहै वही उत्तर२ की जघन्यस्थिति होती है ॥ ४३ ॥

पहलीनरकभूमिमें जघन्यस्थिति दश हजार वर्षकी है।४४।

विवेचन—जैसे ४२ वें सूत्रमें देवों की जघन्य स्थितिका अनुक्रम बताया है वही अनुक्रम दूसरीसे यावत् सातवींनरक पर्यन्त समझना जैसे १०००० वष १-१० १७-२२ सागरोपम जघन्य स्थिति है ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

भवनपति, व्यन्तरदेवों की ज० स्थिति

भवनेषुच ॥ ४५ ॥
व्यन्तराणांच ॥ ४६ ॥
परा पल्योपमम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—भवनवासी और व्यन्तरदेवों की ज० स्थिति १०००० वर्ष कीहै और व्यन्तरोंकी उ० स्थिति एक पल्योपमकीहै ४५-४६-४७

ज्योतिष्कों की स्थिति।

ज्योतिष्काणामधिकम् ॥ ४८ ॥
ग्रहाणामेकम् ॥ ४९ ॥
नक्षत्राणामर्द्धम् ॥ ५० ॥
तारकाणां चुतर्भागः ॥ ५१ ॥
जघन्यात्वष्टभागः ॥ ५२ ॥
चतुर्भागः शेषाणाम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—ज्योतिष्क अर्थात् सूर्य, चन्द्रकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम साधिक है ॥ ४८ ॥

ग्रहों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपमकी है ॥ ४९ ॥

नक्षत्रोंकी उत्कृष्ट स्थिति अर्द्धपल्योपमकी है ॥ ५० ॥

ताराओं की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का चतुर्थभागहै ॥५१॥

ताराओंकी जघन्य स्थिति पल्योपम का आठवांभागहै ।५२।

तारागण छोड़के शेष ज्योतिष्कों की जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थ भाग है ॥ ५३ ॥

इति तत्त्वार्थ सूत्रस्य चतुर्थोऽध्याय हिन्दीअनुवाद

—: समाप्तम् :—
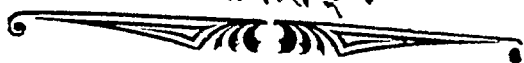
पाँचवाँ अध्याय

दूसरे से यावत् चतुर्थअध्याय पर्यन्त जीवतत्त्वका निरूपण किया अब वर्तमान अध्यायमें अजीवतत्त्वका निरूपण करते हैं।

अजीवके भेद

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये, चार अजीवकाय कहलाते हैं ॥ १ ॥

विवेचन—निरूपण पद्धतिके अनुसार पहले लक्षण और पीछे भेदनिरूपण होना चाहिये तथापि सूत्रकारने नियम उलंघन कर पहले भेद निरूपण किया जिसका कारण यह है कि अजीव लक्षणका ज्ञान जीव लक्षणसे हो सकता है जैसे-अजीव अर्थात् जीव नहीं वही अजीव। उपयोग जीवका लक्षण है जिसमें उपयोग न हो उसे अजीव तत्त्व कहते हैं अर्थात उपयोग अभाव ही अजीव तत्त्वका लक्षण है।

अजीव है यह जीवका विरोधी भावात्मक तत्त्व है परन्तु यह केवल अभावात्मक नहीं है।

धर्मादि चार अजीव तत्त्वों को अस्तिकाय कहा जिसका अभिप्राय यह है कि मात्र एक प्रदेशरूप अथवा एक अव-

यव रूप नहीं है किन्तु प्रचय अर्थात् समूह रूप है धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों प्रदेश प्रचयरूप हैं। और पुद्गल अवयव रूप तथा अवयव प्रचय रूप है ।

अजीवतत्वोंके भेदोंमें कालकी गणना नहीं की जिसका कारण यह है कि इस विषयमें मत भेद है कोई कालको तत्व रूप मानते हैं कोई नहीं भी मानते। जो तत्व रूप मानने वाले हैं वे भी केवल प्रदेशात्मक मानते हैं किन्तु प्रदेश प्रचयरूप नहीं मानते इसलिये कालकी आस्तिकायों के साथ गणना नहीं हो सकती और जो काल को स्वतंत्र तत्व नहीं मानने वाले हैं उनके मतानुसार काल तत्व रूप भेदोंमें हो ही नहीं सकता ।

प्रश्न—क्या उपरोक्त चारों तत्त्व अन्य दर्शनियों को मान्य हैं ?

उत्तर—नहीं, केवल आकाश और पुद्गल इन दो तत्वों को वैशेषिक, न्याय, सांख्यादि अन्य दर्शनीय मानते हैं परन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, इन दो तत्वोंको जैनदर्शन के सिवाय अन्य कोई भी दर्शन वाले नहीं मानते. जैनदर्शन जिसको आकाशास्तिकाय कहते है उसको दूसरे आकाश कहते हैं और पुद्गलास्तिकाय यह संज्ञा भी केवल जैनशास्त्रों में ही है । अन्य दर्शनीय तत्त्व स्थान मे इसका प्रकृति या परमाणु शब्दों से उपयोग करते हैं ॥ १ ॥

मूल द्रव्य कथन

द्रव्याणि जीवाश्च ॥ २ ॥

अर्थ—उक्त धर्मास्तिकायादि चारों अजीव तत्त्व और जीव ये पांचो द्रव्य है ॥ २ ॥

विवेचन—जैनदृष्टि के अनुसार जगत् केवल पर्याय अर्थात् परिवर्तन रूप ही नहीं है किन्तु परिवर्तनशील होते हुए भी अनादि निधन है । जैनमतानुसार जगत्मे मुख्य पाच द्रव्य हैं और उन्हीं के नाम इन दो सूत्रों मे बताये हैं ।

वर्तमान सूत्रसे आगे कितनेक सूत्रों तक द्रव्यके सामान्य तथा विशेष धर्मों का वर्णन करके पुन इनके पारस्परिक साधर्म्य वैधर्म्य भाव को बताया है । साधर्म्य का अर्थ सामान्यधर्म समानता, वधर्म्य का अर्थ विरुद्ध धर्म असमानता

प्रस्तुत सूत्र में जो द्रव्यत्व का विधान है । वह धर्मास्ति-कायादि पाच पदार्थोंका द्रव्यत्वरूपसे साधर्म्य है और उसी में वैधर्म्यतत्र भाव गुण पर्यायापेक्षी है क्योंकि गुण पर्याय हैं वे स्वय द्रव्य नहीं हैं । "गुणानामश्रयो द्रव्यम्" और पर्याय पलटन स्वभावी है ॥ २ ॥

मूल द्रव्य का साधर्म्य वैधर्म्य ।

नित्यावस्थितान्यरूपाणी ॥ ३ ॥

रूपिणः पुद्गला ॥ ४ ॥

आऽऽकाशादिकरूपाणि ॥ ५ ॥

निष्क्रियाणि च ॥ ६ ॥

अर्थ-पूर्वोक्त पाचो द्रव्य नित्य स्थिर और अरूपी हैं॥३॥
पुद्गल रूपी अर्थात् मूर्त्तामान है ॥ ४ ॥
आकाश पर्यन्त तीन द्रव्य एक एक हैं ॥ ५ ॥
और वे "धर्माधर्माकाश" तीनों द्रव्य निष्क्रिय हैं ॥ ६ ॥

विवेचन—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये पांचों द्रव्यनित्य हैं, अर्थात् वे अपने अपने सामान्य विशेषत्व धर्म से कदापि च्युत नहीं होते "तद्भावाव्ययं" नित्यम् अ० ५ सू० ३०" यह वही है ऐसा प्रतिभिज्ञान हेतु रूप भाव को नित्य कहते हैं तथा उक्त पांचों अवस्थित रूप हैं वे अपनी पंचत्व संख्यासे न्यूनाधिक नहीं होते । सावस्था अवस्थित है और धर्म, अधर्म, आकाश तथा जीव ये चारोंद्रव्य अरूपी हैं परन्तु पुद्गल द्रव्य रूपी है । नित्यत्व तथा अवस्थितत्व इन दोनों का पांच द्रव्यों में साधर्म्य है और अरूपीत्व पुद्गल को छोड़ के शेष चार द्रव्यों का साधर्म्य है । धर्मादि चार द्रव्य अरूपी अर्थात् आकार-मूर्त्ति तथा तद् विषयी वर्ण, गंध, रस, स्पर्श रहित होने से समान धर्मा हैं।

प्रश्न—नित्यत्व और अवस्थितत्व के शब्दार्थ में क्या विशेषता है ?

उत्तर—अपने अपने सामान्य विशेष स्वरूप से च्युत न होना ही नित्यत्व है और स्व-स्वरूप में कायम रहते हुए अन्य स्वरूप को प्राप्त न होना अवस्थित् धर्म है । जैसे-जीवतत्त्व अपनेद्रव्यात्मक समान्य रूप को और चेतनात्मक विशेष रूप को कभी नहीं त्यागन करता यह नित्यत्व है और उक्त स्वरूप को छोड़े विना अजीवतत्व के स्वरूप को प्राप्त नहीं करता यह अवस्थितत्व है । सारांश यह है कि अपने स्वरूप को त्यागन करना-और-अन्य स्वरूप को धारण करना ये दोनों अंशधर्म सब द्रव्यों मे सामान्य रूप हैं । तथापि इससे पहला अंश नित्यत्व और दूसरा अंश अवस्थितत्व कहलाता है । द्रव्य के नित्यत्व कथन से जगत् की—

साश्वतता सूचित होती है और अवस्थितत्व कथन से इनका परस्पर मिश्रण नहीं होना अर्थात् असंकरता सूचक है। सब द्रव्य परिवर्तनशील होते हुवे भी स्व स्वरूप में स्थित रहते हैं और एक साथ रहते हुवे भी एक दूसरे के स्वभाव को स्पर्श नहीं करते इसीलिये जगत् अनादिनिधन है और मूल तत्वों की संख्या अपरिवर्तनशील है।

प्रश्न--धर्मास्तिकायादि अजीवतत्व यदि द्रव्य और तत्व हैं तो इसका कोई स्वरूप अवश्य मानना पड़ेगा ? तब वे अरूपी कैसे ?

उत्तर—अरूपीपन से स्वरूप निषेध नहीं होता । धर्मास्तिकायादि सर्व तत्वों का स्वरूप अवश्य है विना स्वरूप के वस्तु सिद्ध नहीं होती जैसे सशिंग या आकाश पुष्पवत् अरूपीत्व कथन से रूप अर्थात् मूर्तिपन का निषेध है । रूप का अर्थ यहा मूर्तित्व है । रूप आकार विशेष अथवा रूप वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श के समुदाय को मूर्ति कहते हैं इस मूर्तित्व का धर्मास्तिकायादि चार तत्वों में अभाव माना है । परन्तु स्वरूप मानने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती और न वह अरूपीत्व का बाधक है।

रूप, मूर्तत्व, मूर्ति ये शब्द समानार्थक हैं। रूप रसादि जो गुण इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाय वे इन्द्रिय ग्राह्य गुण ही मूर्ति हैं और वे रूप रसादि पुद्गल में पाये जाते हैं इसलिये पुद्गल ही रूपी हैं । इसके सिवाय अन्य कोई द्रव्य मूर्तिमान नहीं है क्योंकि वे "धर्माधर्माकाशजीव" इन्द्रिय अग्राह्य हैं । रूपीत्व के कारण ही पुद्गल और धर्मास्तिकायादि चार

तत्वों की असमानता होने से परस्पर वैधर्म्य भाव उत्पन्न होता है। अर्थात् असामानता को ही वैधर्म्य कहते हैं।

यद्यपि परमाणु पुद्गल अति सूक्ष्म होने से अतीन्द्रिय हैं। उसके गुण इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं होते तथापि विशिष्ट परिणाम रूप किसी अवस्था में वे इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। इसी कारण वे अतीन्द्रिय होते हुवे भी रूपी कहलाते हैं और धर्मास्तिकायादि जो चार द्रव्य अरूपी हैं वे इन्द्रिय ग्राह्य किसी अवस्था में हो ही नहीं सकते क्योंकि उनमें वह योग्यता ही नहीं है। योग्यता के भावाभव से ही अतीन्द्रिय परमाणु पुद्गल तथा धर्मास्ति-कायादि को रूपी अरूपी माना है।

उपरोक्त पांच द्रव्यों में तीन द्रव्य "धर्माधर्माकाश" एक एक व्यक्ति रूप हैं अर्थात् एकेक पिंड रूप हैं वे पृथक रूप से दो, तीन आदि नहीं है. और निष्क्रिय अर्थात् क्रिया रहित हैं। एक व्यक्तित्व तथा निष्क्रियत्व ये दोनों धर्मों का उक्त तीन द्रव्यों में साधर्म्य है जीव तथा पुद्गल अनेक व्यक्ति रूप हैं और क्रियाशील हैं। धर्मास्तिकायादि तीनों द्रव्य को निष्क्रिय कहा है सो वे जीव, पुद्गल के समान चल भाव को प्राप्त हो कर प्रदेशान्तर गमन क्रिया नहीं करते परन्तु वे अपने चलन सहायादि गुणों से सक्रिय कहे जा सकते हैं क्योंकि वे गुण अपनी अपनी क्रिया में नित्य प्रवर्तनशील है।

जीव के विषय अन्यदार्शनिकों का जैसा मन्तव्य है वैसा जैनदर्शन नहीं मानते। जैसे-वेदान्तिक आत्म द्रव्य को एक व्यक्ति रूप मानते हैं और सांख्य तथा वैशेषिकादि वेदा-

न्तिक के समान एक द्रव्य मान कर निष्क्रिय नहीं मानते और जेनदर्शन इसको अनेक तथा क्रियाशील मानते हैं।

प्रश्न—जेनदर्शन पर्यायपरिणमन रूप उत्पाद व्यय सब द्रव्योंमें मानते हैं। यह परिणमन क्रियाशील द्रव्यों में हो सकता है, अक्रिय द्रव्यों में कसे मानते हो ?

उत्तर—यहाँ निष्क्रियत्व से गति क्रिया का निषेध है। किन्तु क्रिया मात्रका नहीं अर्थात् निष्क्रिय "धमाधमाकाश" द्रव्य का अर्थ जेनदर्शन मे मात्र गति शून्य द्रव्य माना है और उन धर्मास्तिकायादि गति शून्य द्रव्यों में भी चलन सहायादि गुण अपने २ विषय का उत्पाद, व्यय रूप माना है जेनदर्शन " उत्पादव्ययध्रुवयुक्तमत् " इसको द्रव्य का लक्षण मानते हैं। ॥ ३-६ ॥

प्रदेश सख्या विचार

असख्येया प्रदेशधर्माधर्मयो ॥ ७ ॥

जीवस्य च ॥ ८ ॥

आकाशस्यानन्ता ॥ ९ ॥

सख्येयासख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

नाणो ॥ ११ ॥

अर्थ—धमास्ति० अधर्मास्ति० के असख्यात प्रदेश है ॥७॥
और एक जीव के प्रदेश असख्यात हैं ॥ ८ ॥
आकाश अनन्त प्रदेशी है ॥ ९ ॥
पुद्गल द्रव्य के सख्याते, असख्याते अनन्ते प्रदेश हैं ॥१०॥
अणु "परमाणु' अप्रदेशी हैं। ॥११॥

विवेचन--धर्मादि चार अजीव और पांचवां जीव इन पाँच द्रव्यों को वर्त्तमान अध्याय के प्रथम सूत्र में काय संज्ञक = कायवान वा अस्तिकाय शब्द से सूचित किया है अर्थात् प्रदेश प्रचयरूप माना है इन प्रदेशों की संख्या का क्या नियम है? इसी का यह उत्तर है। परमाणु को छोड़ के सब द्रव्यों के प्रदेश होते हैं परमाणु और प्रदेश की अवगाहना तुल्य है प्रदेश वस्तु "द्रव्य" से व्यतिरेक = बिलकुल भिन्न रूप से कदापि उपलब्ध नहीं होता।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इन दोनों के असंख्यात २ प्रदेश है प्रदेश द्रव्य के सूक्ष्म अंश को कहते हैं जिसके विभाग की कल्पना सर्वज्ञ की बुद्धि से भी नहीं हो सकती ऐसे अविभाज्य सूक्ष्म अंशको निरंश अंश भी कहते हैं। धर्म० अधर्म० ये दोनों एक एक व्यक्ति रूप हैं। इनके प्रदेश "अविभाज्य अंश" असंख्यात २ हैं इससे यह फलित होता है कि उक्त दोनों द्रव्य एक ऐसे अखंड स्कंध रूप द्रव्य हैं कि जिसके असंख्यात अविभाज्य सूक्ष्मअंश केवल बुद्धि से कल्पित किये जाते है। वे वस्तुभूत स्कन्ध से पृथक नहीं होते ॥ ७ ॥

जीव द्रव्य व्यक्तिरूप से अनन्त हैं और प्रत्येक जीव व्यक्ति गत एक अखंड वस्तु धर्मास्तिकाय के समान असंख्यात प्रदेश परिमाणवाला है ॥ ८ ॥

पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध धर्मादि चार द्रव्यों के समान नियत रूप नहीं है। वे कोई संख्यात, कोई असंख्यात कोई अनन्त प्रदेशी हैं और कई अनन्तानन्त प्रदेशी भी है ॥ १० ॥

पुद्गल और अन्य द्रव्योंके प्रदेशोंमें परस्पर यह भिन्नता

है कि पुद्गल के प्रदेश अपने स्कन्ध से जुदे हो सकते हैं परन्तु धर्मादि चार द्रव्य के प्रदेश अपने स्कन्ध से पृथक नहीं हो सकते क्योंकि वे अमूर्त हैं और अखण्डित रहना उनका स्वभाव है। मिलने, बिछुरने की क्रिया केवल पुद्गल स्कन्धों में ही होती है और उनके छोटे बड़े अंशोंको अवयव कहते हैं। अवयव का अर्थ स्कन्ध से पृथक होने वाला अंश है वह धर्मादि चार द्रव्य और परमाणु के नहीं होता।

मूर्त्तिमान एक परमाणु पुद्गलरूप द्रव्य है उसका आदि मध्य और प्रदेश नहीं है। वह अविभाज्य द्रव्य है। उसके अंशकी कल्पना बुद्धि से भी नहीं की जाती। यह पुद्गल का वास्तविक स्वरूप है और द्व्यणुकादि स्कन्धों की उत्पत्ति भी इसीसे है, "कारणमेव सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु," यह परमाणु का लक्षण है। द्व्यणुकादिसे यावत् अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्धों का कारण परमाणु है परन्तु परमाणु का कारण कोई नहीं है। यह द्रव्य व्यक्ति रूपसे निरंश और नित्य रूप है। परन्तु पर्याय रूप से ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि एक परमाणु में भी वर्ण, गन्ध रस, स्पर्शादि अनेक पर्याय पाये जाते हैं इसलिये पर्याय से उसके अंश की भी कल्पना की गई है। वे परमाणु "द्रव्य" के भाव रूप अंश हैं एक व्यक्तिगत द्रव्य परमाणु में वर्णादि भावपरमाणु अनेक माने गये हैं।

प्रश्न—धर्मादि प्रदेश और पुद्गल परमाणु में भिन्नता क्या है?

उत्तर—परिमाण की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है चूंकि परमाणु दोनों का तुल्य है। और वे अविभाज्य अंश हैं तथापि एक आकाश प्रदेश की अवगाह में जैसे अनन्त परमाणु समा सकते हैं ऐसा स्वभाव धर्माधर्माकाश के प्रदेशों का नहीं है परमाणु जैसे

अपने द्वैणुकादि स्कन्ध से पृथक रहता है वैसे प्रदेश अपने स्कन्ध से अलग नहीं होते। यद्यपि तत्परिमित परिमाण की दृष्टि से प्रदेश और परमाणु तुल्य हैं तथापि भिन्न स्वभावी हैं।

प्रश्न—पुद्गल द्रव्य के लिये अनन्त पद की आवृत्ति पूर्व सूत्र से ले सकते हो परन्तु अनन्तानन्त पदकी व्याख्या किस सूत्र के अधार पर है ?

उत्तर- अनन्त पद सामान्य है वह सब प्रकार के अनन्तोंका बोध करा सकता है इसलिये वर्त्तमान अध्याय के ६ वे सूत्र की अनुवृत्ति से उक्त अर्थ किया गया है ॥ ७-११ ॥

द्रव्य की स्थिति का विचार

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥
धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥
एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥
असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥
प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

अर्थ—जो अवगाही अर्थात् रहने वाले द्रव्य हैं वे उनका अवगाह "स्थिति स्थान" लोकाकाश है ॥ १२ ॥

धर्माधर्म की स्थिति "अवगाह स्थान" समग्र लोका-काश है ॥ १३ ॥

पुद्गल द्रव्यों का अवगाह आकाश के एकादि प्रदेशों में विकल्प अर्थात् अनियत रूप से है ॥ १४ ॥

जीवों की स्थिति लोकके असंख्येय भागादि में होती है ॥ १५ ॥

उन "जीवों" के प्रदेश प्रदीप के समान संकोच विस्तार वाले हैं ॥ १६ ॥

विवेचन—ससार में पाच द्रव्य अस्तिकाय रूप है। इनमें आधाराधेय भाव किस प्रकार है? क्या इनके आधार के लिये इन से कोई भिन्न द्रव्य है? अथवा इन पाचों में ही कोई एक द्रव्य आधार रूप है? इसी उत्तर के लिये प्रस्तुत सूत्र है। स्थिति करने वाले द्रव्यों को आधेय कहते हैं और वे जिस में स्थित हों वह आधार है। उक्त पाच द्रव्यों में आकाश आधार रूप है और शेष चार द्रव्य आधेय हैं यह उत्तर केवल व्यवहार दृष्टि से है किन्तु निश्चयदृष्टि से नहीं। निश्चयदृष्टि से सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठित हैं अर्थात अपने अपने स्वरूप मे स्थित हैं कोई किसी में नहीं रहता।

प्रश्न—व्यवहार दृष्टि से धर्मादि चार द्रव्यो का आधार आकाश माना जाता है तो आकाश का आधार क्या है?

उत्तर—आकाश को किसी द्रव्य का आधार नहीं है क्योंकि इससे विस्तीर्ण या इसके बराबर परिमाण वाला कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये व्यवहार तथा निश्चय दृष्टि से आकाश स्वप्रतिष्ठित ही है अन्य धर्मादि द्रव्य इससे न्यून परिमाण वाले हैं आकाश के एक देश तुल्य हैं इस हेतु से आधाराधेय 'अवगाहावगाही' भाव माना गया है। आकाश सबसे बडा द्रव्य है।

आधेयभूत धमादि चारो द्रव्य समग्र आकाश व्यापी नहीं हैं। आकाश के एक परिमित भाग में स्थित हैं जितने भाग में वे स्थित हैं उस आकाश विभाग का नाम लोक है। पाच अस्तिकाय रूप ही लोक है, इसके परे केवल आकाश अनन्त रूप है, उसको अलोकाकाश कहते हैं। अन्य द्रव्यों का अभाव होना अलोक कहलाता है और उक्त कारणों से आधाराधेय भाव भी होता है।

धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय ये दोनों अखण्ड द्रव्य हैं

और सम्पूर्ण लोक में स्थित हैं वास्तविक रूप देखा जाय तो आकाश द्रव्य के दो विभाग की कल्पना बुद्धि, इन्हीं दो द्रव्यों से होती है और लोकालोक की मर्यादा का सम्बन्ध भी इन्ही से है।

पुद्गल द्रव्य का आधार समानतया लोकाकाश ही नीयत है तथापि उन पुद्गल द्रव्यों की भिन्नता "पृथकता" के कारण आधार क्षेत्र के परिणाम में भी न्यूनाधिकता होती है पुद्गल द्रव्य धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय के समान व्यक्तितः एक द्रव्य नहीं है। इसलिये इसके आधार क्षेत्र की भी संभावना एक रूप में नहीं की जासकती पुद्गल द्रव्य विविध प्रकार से अनेक रूप हैं इसलिये क्षेत्र परिणाम भी अनेक हैं जैसे कोई पुद्गल लोकाकाश एक प्रदेशावगाही है, कोई दो प्रदेश कोई तीन यावत् संख्यात, असंख्यात प्रदेश अवगाही भी है। तात्पर्य यह है कि आधार भूत क्षेत्र के प्रदेशों की संख्या आधेय भूत पुद्गल द्रव्य के परमाणुवों की संख्या से न्यून या बराबरी की होसकती है परन्तु आधेय के प्रदेशों से आधार के प्रदेशों की संख्या अधिक नहीं होती. इसलिये एक परमाणु एक आकाश प्रदेश में, द्वेणुक एक या दो प्रदेश में इसी तरह उत्तरोत्तर संख्याता अणुक स्कन्ध एक प्रदेश, दो प्रदेश यावत् संख्याता आकाश, प्रदेश अवगाह के रहता है, परन्तु संख्याता प्रदेशी स्कन्ध के लिये असंख्याता प्रदेशी क्षेत्र की आवश्यकता नहीं रहती-एवम् असंख्याता अणुक स्कन्ध भी एक प्रदेश से यावत् अपने बराबरी के प्रदेशों में स्थित रहता है और अनन्त अणुक तथा अनन्तानन्त अणुक स्कन्ध भी एक प्रदेश से यावत् असंख्याता प्रदेश क्षेत्र में रहता है। इसके लिये अनन्त प्रदेशी क्षेत्र की आवश्यकता नहीं रहती। सबसे बड़ा अचित महा स्कन्ध अनन्तानन्त अणुवों का होता है वह भी लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशावगाही है।

जेन दर्शन में आत्मा का परिमाण आकाश के समान व्यापक नहीं है किन्तु मध्यम परिमाण वाला माना है। वह मध्यम परिमाण प्रदेशों की संख्या दृष्टि से समान अर्थात् तुल्य या सदृश रूप है परन्तु आधार क्षेत्र सबका एक समान नहीं है उसका कारण शरीर नाम कर्म की न्यूनाधिकता पर निर्भर है।

प्रश्न—तबतो जीव द्रव्य का आधार क्षेत्र न्यून से न्यून और अधिक से अधिक कितना मानना चाहिये ?

उत्तर—जिस समय जीव के सूक्ष्म नाम कर्म का उदय होता है उस समय एक आकाश प्रदेश पर अनन्त जीव एक पिंड रूप सूक्ष्म शरीर को धारण करके रहते हैं और बादर और प्रत्येक नाम कर्म के उदय से एक जीव का आधार क्षेत्र लोकाकाश के असंख्याते भाग से यावत् सम्पूर्ण लोकवर्त्ती होता है अर्थात् एक जीव का आधार क्षेत्र कमसे कम अंगुल का असंख्यातवाँ भाग बताया है। उस अंगुल के असंख्यातवें भाग में भी आकाश के असंख्याते प्रदेश होते हैं सम्पूर्ण लोकाकाश के असंख्याते आकाश प्रदेश कहे गये हैं परन्तु उस असंख्यात का परिमाण इतना अधिक है कि असंख्यात भाग में भी असंख्यात प्रदेश रहते हैं उस छोटे से छोटे एक विभाग में भी एक जीव रह सकता है। दो विभाग में भी एक जीव रह सकता है। तीन, चार, पांच यावत् सम्पूर्ण लोकवर्त्ती भी एक जीव होता है सम्पूर्ण लोकाकाशवर्त्ती अवस्था केवली समुद्घात समय की है अन्यथा शरीर के परिमाण की न्यूनाधिकता से आत्मा के प्रदेशों का न्यूनाधिकता मानी गई है। बादर जीवों के शरीर का परिमाण सब का सदृश रूप नहीं होता। उपरोक्त अवगाहना एक जीवापेक्षी है सम्पूर्ण जीव राशि की अपेक्षा से जीवतत्व का आधार क्षेत्र सम्पूर्ण लोकाकाश ही है

प्रश्न—तुल्य प्रदेश वाले जीवों में शरीर की न्यूनाधिकता किस कारण से होती है? एक ही जीव काल भेद से न्यूनाधिक परिमाण वाला होता है इसका क्या कारण है?

उत्तर—कर्मों की विविधता से जीव की विविधता दिखाई देती है। कर्मों का जीव के साथ अनादि सम्बन्ध है और वे सब जीवों के एक समान नहीं होते। तथा न प्रत्येक जीवके ही सदा एक समान रहते हैं। जिस समय कर्मों का जैसा उदय भाव होता है उस समय वैसी ही शरीर की विविधता दिखाई देती है। औदारिकादि शरीर हैं वे भी कर्मों के अनुसार छोटे बड़े होते हैं वस्तुतः जीव अमूर्त्त है परन्तु अनन्तानन्त अणु प्रचय-रूप अनन्त कर्म पुद्गलों के सम्बन्ध से जीव मूर्त्तिमान होजाता है।

प्रश्न—धर्मास्तिकायादि के समान जीव द्रव्य भी अमूर्त्त है, तो धर्मास्तिकायादि के मानने में न्यूनाधिकपना नहीं होता और जीव में होता है इसका क्या कारण है?

उत्तर—वस्तु अनेक स्वभावी है और प्रत्येक पदार्थ के स्वभाव भिन्न भिन्न हुवा करते हैं उनमें से कितनेक स्वभाव कई पदार्थों में एक समान होते हैं जैसे धर्मास्तिकायादि में अमूर्तित्व और कितनेक स्वभावों में परस्पर भिन्नता होती है इसलिये जीव के स्वभाव भेद का ही कारण है कि वह निमित्त पाकर प्रदीप के प्रकाशवत् संकोच विकास को प्राप्त होता है जैसे-प्रदीप खुली जगह में रखदिया जाय तो उसके प्रकाश का प्रसार पूर्णतया होगा और यदि उसीको परिमित स्थान में रक्खा जाय तो स्थान के अनुसार ही उसका प्रकाश प्रसारित होगा वैसे ही जीव भी नाम कर्म के उदयिक भावानुसार औदारिकादि नाना शरीर को धारण करता हुवा तदनुसार न्यूनाधिक परिमाण वाला दिखाई देता है।

प्रश्न—जीव का सकोच स्वभाव है तो वह आकाश के एक, दो तीन आदि सख्यात प्रदेश की अवगाह में क्यों नहीं समाता ? इसीतरह विकास स्वभाव वाला है तो लोक के समान अलोक म व्याप्त क्यों नहीं होता ?

उत्तर—सकोच की मयादा कार्मण शरीर पर है और वह (कामण शरीर) अगुल के असख्यातवें भाग से न्यून नहीं होता इसलियेजीव का सकोच पना भी कार्मण शरीर की सकोचित विकसित अवस्था पर निर्भर है। और विकाश की मर्यादा लोका काश पर्यन्त मानी गई है जिसके दो कारण है पहिला कारण यह है कि एक जीव के प्रदेश और लोकाकाश के प्रदेश तुल्य हैं इसलिये पूर्ण विकशित अवस्था म लोक के प्रत्येक आकाश प्रदेश पर स्व प्रदेशों को स्थापित करता है इस से परे स्थापित करने के लिये प्रदेश ही अधिक नहीं है दूसरा कारण गति कार्य है वह धर्मास्तिकाय के विना हो नहीं सकता। इसीलिये अलोकाकाश में जीव की व्याप्ति नहीं है उपरोक्त दशा ससारी सकमावस्था विषयी है शरीर की अवस्था के अनुसार प्रदीप के प्रकाशवत उनके प्रदेश सकोच और विकास को प्राप्त होते है सिद्धावस्था की अवगाहना अन्तिम शरीर के त्रिभाग से किंचित न्यून मानी गई है अर्थात् वह भी लोक के असख्येय भाग व्यापी है।

प्रश्न—असख्यात प्रदश वाले लोकाकाश में अनन्त मूर्तिमान परमाणुओं से निष्पन्न शरीर धारी अनन्त जीव कैसे समा सकते है ?

उत्तर—सूक्ष्मत्व परिणाम भावी होने से निगोद तथा साधारण अवस्था म औदारिक शरीरी अनन्त जीव एक साथ एक आकाश प्रदेश पर रहते है। पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त मूर्ता-

मान हैं तथापि इनमें सूक्ष्मत्व भाव परिणत होने की शक्ति है। तद्रूप सूक्ष्म भाव प्राप्त होने से एकाकाश प्रदेश पर वे भी समा-जाते हैं और एक दूसरे के व्याघात किये बिना अनन्तानन्त स्कन्ध भी उसी स्थान को प्राप्त करते हैं जैसे-एक दीपक का प्रकाश दूसरे दीपक के प्रकाश में बिना व्याघात समाजाता है।

स्थूल भाव में जब पुद्गल परिणत होता है तब वह व्याघातशील होता है। सूक्ष्मत्व परिणमन दशा में न वह किसी को व्याघात पहुँचाता और न स्वयम् किसी से व्याघात होता है।१२-१६॥

धर्माधर्माकाश का लक्षण

गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

अर्थ—गति और स्थिति में निमित्तक होना अनुक्रम से धर्म अधर्म द्रव्य का उपकार "गुण" है॥ १७ ॥

अवकाश के लिये निमित्त होना, आकाश द्रव्य का कार्य है॥ १८ ॥

विवेचन—धर्मास्ति० अधर्मास्ति० आकाशास्ति० ये तीनों द्रव्य अमूर्त्तक होने से इन्द्रिय अगोचर हैं। अर्थात् इनकी सिद्धि लौकिक प्रत्यक्ष "इन्द्रियों" द्वारा नहीं हो सकती। आगम प्रमाण से अस्तित्व माना जाता है वह आगम प्रमाण युक्तिशः तर्क की कसौटी पर चढ़ा हुवा अस्तित्व को सिद्ध करता है कि संसार में गतिशील और गतिपूर्वक स्थितिशील पदार्थ जीव और पुद्गल दो द्रव्य हैं यह गति, स्थिति दोनों धर्म उक्त दो द्रव्यों का परिणमन तथा कार्य होने से इन्हीं से उत्पन्न होता है अर्थात् गति

स्थिति का उपादान कारण जीव और पुद्गल ही है। तथापि कार्य की उत्पत्ति के लिये निमित्त कारण की अपेक्षा रहती है और वह उपादान कारण से भिन्न होना चाहिये इसलिये जीव और पुद्गल की गति के लिये निमित्त रूप धर्मास्ति० और स्थिति में निमित्त रूप अधर्मास्तिकाय की सिद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रों में धर्मास्तिकाय का लक्षण गतिशील पदार्थों की गति मे निमित होना और अधर्मास्तिकाय का लक्षण स्थिति में नैमेतिक होना यही बतलाया है।

धर्मास्ति० अधर्मास्ति० जीवास्ति० और पुद्गलास्ति० ये चारों द्रव्य किसी न किसी जगह स्थित हैं अर्थात् आधेय होना अवकाश लेना इनका काम है परन्तु अवकाशस्थान देना यह आकाशास्ति० का कार्य है इसलिये अवगाह रूप लक्षण आकाशास्तिकाय का माना गया है।

प्रश्न—सांख्य, न्याय, वैशेषिकादि दर्शन वाले आकाश द्रव्य मानते हैं परन्तु धर्मास्ति० अधर्मास्ति० को वे नहीं मानते तथापि जैन इन्हें किसलिये स्वीकार करते हैं?

उत्तर—दृश्य और अदृश्य रूप जड़ और चैतन्य ये दोनों विश्व के मुख्य अंग माने गये हैं इनमें गति शीलता तो अनुभव सिद्ध ही है इसलिये कोई नियमिक "गतिशील"* तत्व सहायक न होतो वे द्रव्य अपनी गतिशीलता के कारण अनन्ताकाश में किसी भी जगह न रुकते हुए यदि चलते ही रहें तो इस दृश्या

*वर्तमान के वैज्ञानिकों ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि संसार में एक ऐसा शक्तिशाली पदार्थ है जो चलनादि क्रिया में सबको सहायक रूप है जिसे जैन परिभाषा में धर्मास्तिकाय कहते हैं।

द्रव्य विश्व का नियत स्थान "लोकका मान" जो सदा सामान्य रूप से एकसा मानागया है वह नहीं घट सकता अनन्त जीव और अनन्त पुद्गल व्यक्तिः अनन्त परिमाण वाले विस्तृत आकाश क्षेत्र में विना रुकावट संचार करते रहेंगे तो वे ऐसे पृथक् हो-जायेंगे कि उनका फिरसे दुबारा मिलना कठिन होजायगा इसलिये गतिशील द्रव्यों की गति मर्यादा को नियंत्रित करता तत्व जैन दर्शन स्वीकार करते है और उसी तत्व को धर्मास्तिकाय कहते है उपरोक्त गति मर्यादा का नियामक "चलन सहायक" तत्व स्वीकार करने पर उसके प्रतिपक्षी की आवश्यकता रहती है इसीलिये स्थिति मर्यादा के नियामक रूप अधर्मास्तिकाय को तत्व रूप स्वीकार करते है।

जैनेतर पूर्व, पश्चिमादि व्यवहार जो दिग् द्रव्य का कार्य मानते है वह आकाश से पृथक् नहीं है उसकी उत्पत्ति आकाश द्वारा ही होती है, इसलिये जैसे द्रग् द्रव्य को आकाश से पृथक मानना अनावश्यक है वैसे धर्मास्ति० अधर्मास्ति० द्रव्य का कार्य केवल आकाश से सिद्ध नहीं हो सकता यदि आकाश ही को गति, स्थितिका नियामक "प्रेरक" मान लिया जायतो वह अनन्त अखंड द्रव्य है जड़ चैतन्य को सर्वत्र गति, स्थिति करते रोक नहीं सकता और विश्व के नियत संस्थान की अनुपपत्ति हो जायगी इसलिये धर्म० अधर्म० द्रव्य को आकाश द्रव्य से स्वतंत्र मानना न्याय संयुक्त है। जड़ और चैतन्य गति शील हैं तथापि मर्यादित आकाश क्षेत्र मे उनकी गति नियामक विना अपने स्वभाव से मर्यादित नहीं मानी जासकती इसलिये धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय द्रव्य का अस्तित्व युक्तिशः सिद्ध होता है।

आकाश द्रव्य का कार्य अवगाह-दान है अर्थात् जो

अवगाही "धर्माधर्माकाशजीव' द्रव्य है उन पर अवगाह देनेका उपकार आकाशास्तिकाय द्रव्य का है १७-१८॥

पुद्गल का लक्षण ।

शरीरवाङ्मन प्राणापाना पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥
सुखदु खजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

अर्थ—शरीर, वाक्, मन, निश्वास और उश्वास यह जीव को पुद्गलो का सहायक रूप उपकार है ॥ १९ ॥

तथ सुख, दु ख, जीवन और मरण के लिये भी पुद्गल सहायक है ॥ २० ॥

विवेचन—पुद्गल का मूल स्वरूप परमाणु रूप है। यथा—एक रसवर्णगन्धौद्विस्पर्श कार्य लिंगीच । पूरण गलन स्वभाव पुद्गलास्तिकाय स च परमाणु रूप ॥ एक परमाणु मे एक रस, एक वर्णन एक गध, और दो स्पर्श होते है और वह कार्य लिंगी है। द्वेणुकादिस्कन्धो से यावत अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्धों का उपादान कारण यही है और सम्मिलित होना तथा बिखर जाना उसका मुख्य स्वभाव है

द्वेणुकादि स्कन्ध से यावत् अनन्ताणुक स्कन्ध पर्यन्त जीव को अग्राह्य है जो अनन्तानन्त अणुस्कन्ध है वे ग्राह्य अग्राह्य दो प्रकार के है। देखो वर्गणा स्वरूप कर्म प्रकृत्यादि ग्रन्थ से और जो ग्राह्य वर्गणा है वह भी दो प्रकार की है । एक सूक्ष्म और दूसरी बादर सूक्ष्म है वह चोफरशी और बादर अठफरशी इसका वर्णन भगवती सूत्र श० १२ उ० ५ में है।

प्रश्न—आठ और चार स्पर्शों से क्या

उत्तर—आठ स्पर्शों के नाम हैं । यथाः—

फासा गुरु लहु मिउ खर सी उगह सिणिद्ध रुक्खट्ठा ॥

यह पहले कर्म ग्रन्थ की ४१ वीं गाथा का उत्तरार्द्ध है । इसमें आठों स्पर्श के नाम बताये हैं । भारी, हलका, मृदु, खर, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष । उक्त आठ स्पर्शवाले स्कन्ध इन्द्रिय गोचर हैं, कर्मवर्गणादि सूक्ष्म स्कन्धों के चार स्वरूप होते हैं यथाः—

अन्तिम चउकास दुगंधपंच वन्नरस कम्म खंधदल ।
सव जिअणंत गुण रस अणुजुत मणंत पयेसं ॥ ७८ ॥

यह पंचम ग्रन्थ की ७८ वीं गाथा है पूर्वोक्त आठ स्पर्शों में से अन्त के चार "शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, स्पर्श, दो गंध, पाँच वर्ण पांच रस वाले अनन्त प्रदेशी स्कन्ध सब जीवों से अनन्त गुणे रसवाले अणुवों संयुक्त अनन्तानन्त प्रदेश वाले होते हैं । एक परमाणु में दो स्पर्श (उक्त चार स्पर्शों के प्रतिपक्षी शीत, स्निग्ध या उष्ण, रूक्ष) एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस एवं पांच बोल पाये जाते है ।

पौद्गलिक अनेक कार्यों में से कतिपय कार्य जीव को सहायक रूप हैं उनमे से शरीरादि कितनेक नाम सूत्रकारने बताये हैं वे संसारी जीवों पर अनुग्रह विग्रह अर्थात् हिताहित के करने वाले हैं ।

शरीर—औदारिकादि शरीर पौद्गलिक हैं । इनमें कई इन्द्रिय गोचर और कई अतीन्द्रिय हैं । और संसारी जीवों से नित्य सम्बन्ध रखने वाले हैं । जो मरके गत्यान्तर होने के समय भी पृथक नहीं होते । उस समय जो साथ रहता है वह कार्मण

शरीर है, इन्द्रिय अगोचर है तथापि औदारिकादि शरीरों का उत्पादक और उनके द्वारा सुख दु खादि विपाकोंको देनेवाला है।

भाषा—दो प्रकार की होती है (१) द्रव्य भाषा (२) भाव भाषा जो वीर्यान्तराय तथा मतिज्ञानावरण, श्रुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम से वा आंगोपांग नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई शक्ति विशिष्ट को भाव भाषा कहते हैं वह पुद्गल सापेक्ष होने से पोद्गलिक हैं। वे भाषा वर्गणा के स्कन्ध आत्म-शक्ति द्वारा प्रेरित होके वचन रूप में परिणत हों उसको द्रव्य भाषा कहते हैं।

मन—लब्धि तथा उपयोग भाव मन है वह उदयिक भाव प्रवर्तित पुद्गलावलम्बित होने से पोद्गलिक है ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम और अंगोपांग नाम कर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्ध हैं वे गुण दोष विवेचन तथा स्मरणादि अनेक कार्य अभिमुख आत्मा के सामर्थ्य उत्तेज रूप होकर अनुग्रह निग्रह अर्थात् हिताहित करने वाले हों उसे द्रव्य मन कहते हैं। केवली को ज्ञानवर्ण तथा वीर्यान्तराय का क्षयोपशम नहीं है तथापि उदयिक भाव प्रवर्तित नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों को ग्रहण कर उससे केवल गुण दोष विवेचन कार्य करते हैं। इसी तरह आत्मा के उदर द्वारा निकला हुआ निश्वास वायु प्राण कहलाता है—और प्रवेश करता हुआ उच्वास वायु अपान कहलाता है। दोनों पोद्गलिक और जीवप्रद होने से आत्मा को अनुग्रह निग्रह कारी हैं।

भाषा, मन प्राण और अपान ये सब व्याघात, तथा अभिभव अर्थात् उत्पत्ति और विनाश वाले हैं इसलिये शरीर के समान पोद्गलिक हैं जीव का प्रीति "रति" रूप परिणाम ही सुख है। उसका अन्तरंग कारण साता वेदनी कर्म का उदय है और

बाह्य कारण द्रव्य, क्षेत्र आदि से उत्पन्न होता है। इससे विपरीत अनिष्ट भाव दुःख है परन्तु बाह्य कारण इसका भी द्रव्य क्षेत्रादि ही है।

आयुष्य कर्म के उदय से देहधारी जीवों का श्वासोश्वास ही जीवन है। उसके उच्छेद को मरण कहते हैं। पूर्वोक्त सुख-दुःखादि पर्याय जीवों में उत्पन्न होते हैं। परन्तु इनकी उत्पत्ति पुद्गल द्वारा होती है। इसलिये जीवों पर पुद्गल का उपकार माना गया है॥ १९-२०॥

कार्य द्वारा जीव का लक्षण।

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—परस्पर कार्य में उपग्रह निमित्त होना जीव का उपकार है॥ २१॥

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में जीवों के पारस्परिक उपकार का वर्णन है। एक जीव अन्य जीवों के लिये उपदेश द्वारा या हिताहित द्वारा उपकार करता है जैसे—मालिक पैसादि देके नौकर पर उपकार करता है। नौकर हिताहित काम कर के मालिक पर उपकार करता है। इसी तरह गुरु सत्कर्मों के उपदेश द्वारा शिष्यादि जनता पर उपकार करता है और वे अनुकूल, प्रतिकूल सामग्री द्वारा उनपर उपकार करते हैं।

काल लक्षण।

वर्त्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य॥ २२ ॥

अर्थ-वर्तना, परिणाम, क्रिया, और परत्वापरत्व "पहला पिछला" यह काल का उपकार है॥ २२॥

विवेचन—नयचक्रादि अन्य ग्रन्थों म काल को उपचार मात्र से द्रव्य माना है वास्तव मे यह पचास्ति के अनतर भूत पर्याय रूप है । यथा—पचास्तिकाया तर भूत पर्याय रूप तेवास्य, ॥ तत्र काल उपचारतर द्रव्य नतु वस्तु वृत्या ॥ तथापि यहाँ काल को स्वतन्त्रद्रव्य मानकर उसका उपकार बताते हैं जसे अपने २ पर्याय की उत्पत्ति में स्वमेव प्रवतमान, धमादि द्रव्यों को प्रेरणा निमित्त हो उनको वतना कहते हैं । (वर्तना) (परिणाम) स्वजाति का बिना परित्याग किये द्रव्य का अपरिस्पद रूप (अचल) पर्याय जो पूर्वावस्था की निवृत्ति और उत्तरावस्था की उत्पत्ति रूप है उसको परिणाम कहते है । उक्त परिणाम जीव में ज्ञानादि तथा क्रोधादि रूप है पुद्गल म नील, पीत वर्णादि और शेष धर्मास्ति कायादि द्रव्यों म अगरूलघुगुण की हानि वृद्धि रूप है। पुन इसके सादि अनादि भेदों का विवरण (अ० ५ सू० ४० मे) करेंगे । (३) गति रूप क्रिया यह काल का ही उपकार है (१) प्रयोगसा "प्रय लजन्य" (२) विश्वासा 'स्वाभाविक परिपाक जन्य" (३) मिश्रसा "उभयजन्य" । (४) परत्व अपरत्व, अर्थात् ज्येष्ठत्व कनिष्ठत्व अ यवा परत्व, अपरत्व तीन प्रकार का है प्रशसाकृत, क्षत्रकृत और कालकृत य था-प्रशसाकृत धर्म पर है और अधर्म अपर है, ज्ञान पर है अज्ञान अपर है इत्यादि । क्षेत्रकृत-एक देश स्थित दो पदार्थों के विषय जो दूर है वह पर और निकट है वह अपर। कालकृत-दस वर्षों की अपेक्षा बीस वषवाला पर है और बीसवष की अपक्षा-दस वर्ष वाला अपर है । उक्त वतनादिकाय यथा सभव धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का ही है । तथापि काल सब में निमित्त रूप कारण होने से उपकार रूप माना है ॥ २२ ॥

पुद्गल के असाधारण पर्याय ।

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला ॥ २३ ॥

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च २४

अर्थ-पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले होते हैं ॥२३॥

और वे शब्द, बंध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत वाले भी हैं ॥ २४ ॥

विवेचन—बौद्ध दर्शनवाले पुद्गल को जीव अर्थ में व्यवहार करते हैं । वैशेषिकादि दर्शनवाले पृथ्व्यादि मूर्तीमान द्रव्यों में समान रूप से चतुरगुण, "स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण" नहीं मानते किन्तु पृथ्वि चतुर गुण, जल गंध रहित तीन गुण, तेजस गन्ध, रस रहित द्विगुण और वायु को मात्र एक स्पर्श गुण वाला ही मानते हैं, मन को स्पर्शादि चतुर गुण रहित मानते हैं, इसलिये अन्य दार्शनिकों से भिन्नता प्रगट करनी प्रस्तुत सूत्र का उद्देश है, वर्तमान सूत्र से यह सूचित होता है कि जीव और पुद्गल दोनों पदार्थ भिन्न स्वरूपी हैं, किन्तु पुद्गल शब्द का व्यवहार जीव तत्व में नहीं होता पृथ्वि, जल, तेज़, वायु सब पुद्गलत्व रूप से समान हैं अर्थात् ये स्पर्शादि चतुर गुण युक्त है और मन को भी जैनदर्शन वाले पौद्गलिक तथा स्पर्शादि चतुर गुण युक्त मानते हैं । वे पुद्गल स्कन्ध आठ स्पर्श वाले नहीं हैं किन्तु चार स्पर्शवाले सूक्ष्म इन्द्रिय अगोचर होते हैं ।

स्पर्श आठ (१) गुरु (२) लघु (३) मृदु (४) खर (५) शीत (६) उष्ण (७) स्निग्ध (८) रूक्ष । रस पांच (१) तिक्त (२) कटु (३) कसैला (४) आमिल (खट्टा) (५) मधुर । गन्ध दो (१) सुगन्ध (२) दुर्गन्ध । वर्ण पांच (१) कृष्ण (२) नील (३) लोहित (लाल) (४) पीत (पीला) (५) श्वेत उक्त स्पर्शादि २० बोल इन्द्रिय गोचर बादर पुद्गल स्कंधों में पाये जाते हैं और जो सूक्ष्म इन्द्रिय अगोचर हैं उनमें पूर्व के चार स्पर्श "गुरु, लघु, मृदु, खर" नहीं होते । शेष १६ बोल पाये जाते है और जो एक अणु रूप " परमाणु "

पुद्गल है उसमें अन्त के चार स्पर्शों में से दो प्रति पक्षी छोड़ के शेष कोई भी दो स्पर्श एक रस, एक गन्ध और एक वर्ण होताहै।

उपरोक्त स्पर्शादि २० भेद कहे हैं। प्रत्येक तारतम्यत्व भाव से सख्याते, असख्याते और अनन्त है। जैसे मृदु स्पर्शवाले जितने स्कन्ध (वस्तु) हैं वे सब सदृश रूप नहीं है किन्तु उनकी मृदुता में तारतम्य भाव है। मृदुत्व गुण समान रूप होते हुए भी उनकी तारतम्यता पर दृष्टिपात करने से अनेक भेद होते हैं इत्यादि २० भेदों के अनेक प्रभेद होते हैं ॥ २३ ॥

वैशेषिक, नैयायिकादि दर्शन वाले जैसे शब्द को गुण रूप मानते हैं वैसा जैन दर्शन का मन्तव्य नहीं है। जैन दर्शन वाले शब्द को भाषावर्गणा के पुद्गलों का एक परिणाम विशिष्ट मानते हैं वे निमित्त भेद से अनेक प्रकार हैं आत्म-प्रयत्न से उत्पन्न होने वाले शब्द को प्रयोगज कहते हैं और जो स्वत (विना प्रयत्न के) शब्द हैं, उसे विस्रसा कहते हैं। जैसे-बादलों की गर्जारव।

प्रयोगज शब्द के छ भेद हैं (१) भाषा—मनुष्यादि की व्यक्त और पशु आदिकी अव्यक्त रूप अनेक प्रकार की है।

(२) तत्—मुरज, मृदंग पटह आदि से
(३) वितत—वीणादि तान तार वाले वाजिंत्रों से
(४) सुषिर—बासुरी, शखादि
(५) घन—झालर घटादि
(६) घर्ष—सघष अर्थात् रगड़ से उत्पन्न होने वाले शब्द।

॥ बन्ध तीन प्रकार के होते हैं ॥

(१) परस्पर आश्लेष रूप से होनेवाले बन्ध को प्रयोगज कहते हैं जैसे पुरुषादि प्रयत्न से।

(२) स्वतः सिद्ध या परिपाकजन्य बन्ध को विश्रसा कहते हैं और नाना स्निग्ध और रूक्ष पुद्गल परस्पर स्पष्ट होने से बन्ध होता है। उसे मिश्र बन्ध कहते हैं । इसका आगे इसी अध्यायके ३२ वें सूत्र में विवेचन करेंगे।

सूक्ष्म दो प्रकार से है एक अन्त्य और दूसरा आपेक्षिक जो परमाणु रूप है वह अन्त्य सूक्ष्म है और द्व्यणुकादि स्कन्ध हैं वे सापेक्ष सूक्ष्म हैं। जैसे—आंवले से बेर सूक्ष्म है और आम की अपेक्षा आंवला सूक्ष्म है।

स्थूल भी दो प्रकार के हैं. (१) अन्त्यम (२) आपेक्षिक अचित्य महास्कन्ध जो सर्व लोक व्यापी होता है. वह अन्त्यम स्थूल है और आपेक्षिक जैसे—बेर से आवला और आवले से आम स्थूल है इत्यादि। आपेक्षिक वचन को ही स्याद्वाद कहते हैं एक ही वस्तु में स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व दो विरोधी पर्यायों का अस्तित्व ही स्याद्वाद कहलाता है।

संस्थान (अवयव रचना विशेष) अनेक प्रकार के हैं। तथापि उनके दो भेद बताये हैं (१) इत्थंत्व (२) अनित्थंत्व। जिस आकार की किसी अन्य आकार के साथ तुलना की जाय उसे इत्थंत्व कहते हैं और जिसकी तुलना किसी के साथ नहीं हो सकती उसे अनित्थंत्व कहते हैं। जैसे—मेघादि का संस्थान याने रचना विशेष अनित्य रूप होने से. किसी एक प्रकार से निरूपण नहीं कर सकते वह अनित्थंत्व रूप है और फल, फूल, वस्त्र, पत्रादि वस्तुयें इत्थंत्व रूप हैं इनका आकार गोल, त्रि, चतुष्कोणादि तुलनात्मक अनेक प्रकार है।

भेद—एकत्वरूप स्थित पुद्गलों के विश्लेष "विभाग" को

भेद कहते हैं। वह पांच प्रकार का है (१) औत्कारिक-काष्ठादिको आरादि से चीरना (२) चौर्णिक—वस्तु को चूर्ण करके महीन करना जैसे दाल, आटा आदि (३) खण्ड-टुकड़े करना (४) प्रतर जैसे-अवरख, भोजपत्रादि से परत निकाले जाते हैं (५) अनुत्तट वल्कल विशेष जैसे आम्रादि की छाल।

तम—अंधकार को कहते हैं जो प्रकाश का विरोधी भाव है।

छाया—(प्रकाश पर आवरण) जैसे-मेघाच्छादित सूर्य अथवा मनुष्यादि की छाया और दर्पणादि स्वच्छ पदार्थों में जो मुखादि का प्रतिबिंब पड़ता है वह प्रतिबिंब रूप छाया है।

आतप—सूर्यादि से होने वाले उष्ण प्रकाश को आतप और चन्द्रादि से होने वाले शीतल प्रकाश को उद्योत कहते हैं ये सब पौद्गल स्वभावी अथवा पुद्गल पर्याय रूप होने से पौद्गलिक हैं।

प्रश्न—जबकि सूत्र ३ और २४ बम बताये हुए स्पर्शादि तथा शब्दादि दोनों पुद्गल ही के पर्याय हैं तो इनके लिये पृथक सूत्र करने की क्या आवश्यकता है? एक ही सूत्र से कार्य चल सकता है?

उत्तर—स्पर्श, रसादि "सूत्र २३ के' पर्याय परमाणु से यावत् स्कन्ध पर्यन्त सब में पाये जाते हैं और सूत्रोक्त २४ के शब्दादि पर्याय हैं वे केवल स्कन्धों में ही पाये जाते हैं। परमाणु में रहे हुए स्पर्शादि के साथ उनका सम्बंध नहीं है और शब्द, बन्ध आदि पर्याय अनेक निमित्त भूत होने से स्कन्धों में ही पाये जाते हैं सूक्ष्मत्व पर्याय परमाणु तथा स्कन्ध दोनों में है तथापि इसके प्रतिपक्षी स्थूलत्व पर्याय की सहचारिता होने से स्पर्शादि

के साथ परिगणना न करके शब्दादि में सम्मिलित किया है । पूर्वोक्त दोनों सूत्रों में निमित्त भेद ही कारण भूत है और इसलिये ये "२३-२४" सूत्र पृथक किये गये हैं ॥ २३-२४ ॥

पुद्गल के मुख्य भेद ।

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

अर्थ--पुद्गल के अणु, और स्कन्ध दो भेद हैं ॥२५॥

विवेचन--व्यक्तिरूप से पुद्गल अनन्त हैं और उनकी विविधता भी अपरिमित है तथापि पूर्वोक्त सूत्र २३-२४ में पुद्गल परिणाम की उत्पत्ति के लिये भिन्न भिन्न कारण बताये गये हैं। उनकी उपयोगिता के लिये संक्षेप से वर्त्तमान सूत्र द्वारा पुद्गल के दो विभाग किये हैं। एक अणु अर्थात् परमाणु और दूसरा स्कन्ध। उक्त दो विभागों में सम्पूर्ण पुद्गल राशी का समावेश हो जाता है।

अन्य कारिकाओं द्वारा परमाणु का लक्षण ।

कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु
एक रस गन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्य लिङ्गश्च ॥इति॥

जो पुद्गलद्रव्य कारण रूप है परन्तु कार्य रूप नहीं हो सकता उसको अन्त्य द्रव्य कहते हैं वह परमाणु रूप है। उसके लिये अन्य कारणों की आवश्यकता नहीं रहती द्वणुकादि स्कन्धों का मूल कारण भी वही है. और नित्य तथा सूक्ष्म रूप हो उसीको परमाणु कहते हैं. एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण, दो स्पर्श और कार्य लिंगी हैं अर्थात् कार्य से जाना जाता है. परमाणु द्रव्य का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं होता. वह आगम तथा अनुमान साध्य

है उसका अनुमान कार्य हेतु से माना जाता है। जितने पोद्गलिक कार्य दृष्टि गोचर होते हैं वे सब सकारण हैं। उनका आदि कारण परमाणु है वे परमाणु अनादि नित्य परिणमन स्वभावी हैं। अर्थात् अनेक परमाणु सम्मिलित होकर परिणमन भाव होने से स्कन्ध रूप में परिवर्त्तित होते हैं। स्कन्धों का मूल कारण परमाणु है, परन्तु परमाणु का कारण कोई अन्य द्रव्य नहीं है। जितने स्कन्ध हैं वे सब परमाणु ही के समुदाय रूप हैं। वे स्वय कारण और द्रव्य की अपेक्षा से कार्य रूप हैं, और कार्य की अपेक्षा से कारण रूप हैं। जैसे--द्विप्रदेशी आदि स्कन्ध कार्य हैं और परमाणु उसका कारण है। तथा च, चतुष्कादि प्रदेशी स्कन्धों के लिये द्विप्रदेशी आदि स्कन्ध हैं वे भी कारण हो सकते हैं। इसका आगे के सूत्र से वर्णन करते हैं ॥ २५ ॥

स्कन्ध और अणुकी उत्पत्ति का कारण।

सघातभेदेभ्य उत्पद्यते ॥ २६ ॥

भेदादणु. ॥ २७ ॥

अर्थ—सघात से, भेद से तथा सघात भेद से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं ॥ २६ ॥

भेद से ही अर्थात् वस्तु के पडसे ही अणु की उत्पत्ति है ॥ २७ ॥

विवेचन—स्कन्ध अथात् अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है (१) पहला जो स्कन्ध एकत्व रूप परिणति से उत्पन्न हो उसको सघात कहते हैं जैसे-द्विपरमाणु सम्मिलित होके स्कन्धपने को प्राप्त होते हैं, एव तीन, चार, यावत् सख्यात,

असंख्यात. अनन्त और अनन्तानन्त अणु सम्मिलित होके स्कन्ध रूप में परिणत होते हैं। वह सन्घातजन्य स्कध है (२) जो स्कन्ध किसी एक वस्तु के खंड रूप हो उसको भेद कहते हैं। जैसे-कोई बड़ी वस्तु टूट जाने से उसके छोटे छोटे टुकड़े हो जाते हैं वे भेद स्कन्ध कहलाते है (३) उपरोक्त भेद और संघात दोनो से उत्पन्न होनेवाला स्कंध है जैसे-किसी वस्तु के टूटे हुए टुकड़े के साथ अन्य द्रव्य सम्मिलित होके उसी समय नवीन स्कन्ध बनता है वह भेद संघतजन्य स्कन्ध कहलाता है उपरोक्त स्कन्ध द्विप्रदेशी से यावत् अनन्तानन्त प्रदेशी पर्यन्त होते है वेही (१) संघात (२) भेद और (३) संघात भेद कहलाते हैं।

परमाणु के लिये जो उपरोक्त सूत्र "भेदादणुः" कहा है वह विश कलित अवस्था अर्थात् स्कन्ध के अवयव मे समुदाय रूप से रहे हुए या उससे निकलकर अलग हुए परमाणु अवस्था विषयी हैं। विशकलित अवस्थास्कन्ध भेद से ही उत्पन्न होती है। इसी अभिप्राय से "भेदादणुः" यह सूत्र कहा है । परन्तु विशुद्ध परमाणु की अपेक्षा नहीं है पर्याय भेद अवस्था जन्य है। वास्तव में परमाणु अन्य किसी द्रव्य का कार्य नहीं है. और न अन्य द्रव्य के संघात का संभव है किन्तु वह स्वाभाविक स्वतंत्र अनादि नित्य द्रव्य है ॥ २७ ॥

स्कन्ध चक्षु ग्राह्याग्राह्य विषय ।

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः ॥ २८ ॥

अर्थ-भेद और संघात दोनों से चाक्षुष स्कंध बनते हैं॥२८॥

विवेचन-वर्त्तमान सूत्र से यह सिद्ध करते हैं कि अचाक्षुष स्कन्ध है. वह निमित्त पाकर चाक्षु ग्राह्य बनजाते हैं।

पुद्गल विविध परिणामी है तथापि यहाँ मुख्यतयादि दो भेद प्रतिपाद्य रूप होने से उसका प्रतिपादन करते हैं (१) अचाक्षुप अर्थात् चक्षु इन्द्रिय अग्राह्य (२) चक्षु इन्द्रिय ग्राह्य प्रथमावस्था पुद्गल स्कन्ध अचाक्षुप ग्राह्य है परन्तु वह निमित्त वशात् सूक्ष्मत्व परिणाम को परित्याग कर बादर (स्थूल) परिणाम विशिष्टत्व से चक्षु ग्राही बन जाता है इसके लिए भेद और संघात दो सापेक्षी है। जब स्कन्ध सूक्ष्मत्व परिणाम को परित्याग करके बादर परिणाम विषयी होता है उस समय कितनेक नवीन परमाणु स्कन्ध में अवश्य सम्मिलित होते है और पूर्ववर्ति कितने ही अणु उससे पृथक भी होते हैं सूक्ष्म परिणाम की निवृत्ति और बादर परिणाम की उत्पत्ति केवल संघात अर्थात् अणुओं के संमिलित मात्र से या भेद अर्थात् खंड मात्र से नहीं है किन्तु जब तक स्कन्ध सूक्ष्म भाववर्त्ति है उसमें कितने ही अधिक अणु सम्मिलित क्यों न हो वह चक्षु ग्राह्य नहीं होसकता स्कन्ध जब सूक्ष्मत्व भाव को छोड़ के बादर (स्थूल) स्वभाववाला होता है उस समय चाहे वह अधिकाधिक अणुओं से न्यून अणुवाला भी होतो चक्षुग्राह्य होता है। बादरत्व परिणाम के बिना स्कन्ध चक्षु ग्राह्य नहीं हो सकता इसलिये चाक्षुप स्कंध को नियम पूर्वक संघात और भेदकी ही आवश्यकता रहती है।

भेद शब्द के दो अर्थ हैं (१) स्कन्ध के टुकड़े अर्थात् खंड होके अणुओं का पृथक होना (२) पूर्व परिणाम की निवृत्ति और उत्तर परिणाम की उत्पत्ति। परन्तु अचाक्षुप स्कन्ध से चाक्षुप स्कन्ध बनने के लिये उपरोक्त दोनों भेदों (परिणाम भेद संघात) की आवश्यकता रहती है।

वर्त्तमान सूत्र में चाक्षुप शब्द का विधान रूप है अर्थात्

चक्षुग्राह्य स्कन्धों का ही बोधक है तथापि यहां उसको सर्वेन्द्रिय लाक्षणिक माना है और अनेन्द्रिय पुद्गल स्कन्ध परिणामों की विविध विचित्रता के कारण. भेद, संघात निमित्त पाकर इन्द्रियक बनजाते हैं तथा वेही स्थूल से सूक्ष्म और विशेष इन्द्रिय ग्राह्य से एक इन्द्रिय ग्राही बनजाते है. जैसे-नमक हींग आदि पदार्थों का स्पर्श. रस, घ्राण और नेत्र इन चारों इन्द्रियों द्वारा ज्ञान हो सकता है अर्थात् वे चतुष्केन्द्रिय ग्राही हैं तथापि उनको यदि पानी में घोल दी जाय तो वही वस्तु केवल घ्राण और रसेन्द्रिय ग्राही बन जायगी।

प्रश्न—चाक्षुष स्कन्ध बनने के लिये दो कारण बताये परन्तु अचाक्षुष के लिये भेद विधान क्यों नहीं?

उत्तर—वर्त्तमान अध्याय के २६ वें सूत्र में सामान्य रूप से स्कन्ध मात्रकी उत्पत्ति के लिये तीन हेतु बताये गये हैं। यहां केवल विशेष स्कन्ध की उत्पत्ति अर्थात् आचक्षुष स्कन्ध से चाक्षुष स्कन्ध बनने के हेतु बताये गये हैं. सामान्य विधान अर्थात् सूत्र २६ के कथनानुसार आचक्षुष स्कंध बनने के लिये (संघात, भेद और संघात भेद) तीन कारण हैं।

प्रश्न—वर्त्तमान अध्याय के सूत्र १-२ में धर्मादि द्रव्यों का कथन है परन्तु वे किस प्रकार से जाने जाते हैं?

उत्तर—वे सत् लक्षण से जाने जाते हैं इसलिये अब सत् लक्षण की व्याख्या करते है ॥ २८ ॥

सत् लक्षण ।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ २९ ॥

अर्थ—उत्पाद (उत्पत्ति) व्यय (नाश) ध्रौव्य (स्थिरता)

युक्त अर्थात् वस्तु का तदात्मकत्व भाव सत् कहलाता है ॥२६॥

विवेचन—सत् स्वरूप के विषय वेदान्तादि दर्शन वालों की मान्यता भिन्न २ प्रकार की है । जैसे—वेदान्त औपनिषद, शंकर मतावलम्बी सम्पूर्ण सत् पदार्थ (ब्रह्म) को ही केवल ध्रुव (नित्य) मानते हैं परन्तु एकान्त सर्वथा ध्रुव मानने से और ध्रौव्य रूप एक स्वभाव होने से आत्मा की अवस्थाओं का भेद अयुक्त होगा और जब आत्माकी सदाकाल एक ही अवस्था रही तो संसार और मोक्ष के भेद का भी अभाव होगा और जो मोक्ष के लिये यम (अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) नियम (तप, संतोष, स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान) आदि अनेक प्रयत्न किये जाते हैं वे निष्फल हो जावेंगे यदि संसाराऽवस्था और मोक्षा वस्था के भेद को केवल कल्पना मात्र मानते हो तो आत्मा का संसारी स्वभाव न होने से उस के उपलब्धी अर्थात् प्राप्ति के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा और यदि आत्माका मनुष्य त्व, देवत्वादि संसारी पर्याय मानते हैं, तो एकान्त ध्रौव्य का अभाव होगया इत्यादि । बौद्ध दर्शन वाले सत् पदार्थ को निरन्वय (विनाससंतति) क्षणिक मानते हैं । अर्थात् मात्र उत्पाद व्ययशील ही मानते हैं ।। सांख्य मतवाले चैतन्य तत्त्व रूप सत् को केवल ध्रुव (कूटस्थानित्य) मानते हैं । न्यैयायिक, वशेषिक मतावलम्बी अनेक सत् पदार्थोंमें से परमाणु, काल, आत्मादि कइ सत् पदार्थों को ध्रौव्य (कूटस्थनित्य) मानते हैं और घट' वस्त्रादि पदार्थों को केवल अनित्य (उत्पाद व्ययशील) ही मानते हैं परन्तु जैनदर्शन का सत् स्वरूप विषयी मन्तव्य भिन्न ही है शास्त्रकार उसीकी प्रस्तुत सूत्र से व्याख्या करते हैं कि सत् वस्तु है वह केवल

कूटस्थ नित्य नहीं है और न निरन्वय विनाशी ही है. तथा एक भाग कूटस्थनित्य और एक भाग परिणामी नित्य अथवा कोई भाग केवल नित्य और कोई भाग अनित्य भी नहीं हो सकता। जैनदर्शन का मन्तव्य है कि प्रत्येक वस्तु जड़ हो या चैतन्य, मूर्त्त हो वा अमूर्त, सूक्ष्म हो वा बादर सभी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य त्रयदि रूप है।

प्रत्येक वस्तु अनन्त पर्यायात्म है तथापि उनमें से नित्य और अनित्य दो पर्याय मुख्यता रूप सब में पाये जाते हैं. ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि जिसमें उक्त दोनों पर्याय नहीं अर्थात् प्रत्येक वस्तु का एक अंश ऐसा है जो तीनों काल में शाश्वत रूप से अवस्थित है और दूसरा अंश अशाश्वत रूप है. जो शाश्वत है वह ध्रौव्यात्मक (स्थिर) है, और अस्थिर अंश से वस्तु उत्पाद, व्ययात्मक है। जैसे—घट पर्याय व्यय, कपाल पर्याय का उत्पाद यह वस्तु का अनित्य स्वभाव है और मृत्तका रूपसे वस्तु ध्रुव है। प्रत्येक वस्तु में उत्पाद, व्यय सम काल होता है जैसे—किसी ने कहा कि तराजू की डंडी जिस समय एक ओर नीची होती है उसी समय दूसरी ओर ऊंची होती है परन्तु एक अंश पर दृष्टि-पात होने से वस्तु केवल ध्रौव्य या अध्रौव्य ही जान पड़ती है. वास्तव में उपदान कारण के विना केवल एक ध्रौव्यरूप वस्तु में उत्पाद नहीं होता. इसी तरह सदा अध्रुव्य से भी उत्पाद का अभाव ही है. इसलिये वस्तु को उत्पाद, व्यय, ध्रुव शील माने विना उसका पर्याय बोध नहीं कर सकते वही सत् का लक्षण है. अन्यथा असत् रूप है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उपरोक्त सूत्र से माना हुआ सत् नित्य है वा अनित्य है। इस के उत्तर के लिये ही यह सूत्र है।

तद्भावाव्ययं नित्यम्   ॥ ३० ॥

अर्थ—जो अपने स्वभाव (सत्) से च्युत नहीं वह नित्य है ॥ ३० ॥

विवेचन—पूर्व सूत्र में कह आये हैं कि वस्तु उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है अर्थात् स्थिर और अस्थिर उभय रूप है। परन्तु यहाँ शका उत्पन्न होती है कि जो वस्तु स्थिर है वह अस्थिर कैसे ? और अस्थिर है वह स्थिर कैसे ? कारण एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी भाव कैसे रह सकता है। जैसे-शीत और उष्ण विरोधी भाव एक वस्तु में एक समय हो ही नहीं सकता इस विरोधी भाव का परिहार करना इस सूत्र का उद्देश है। इसलिये जैनदर्शन सम्मत नित्यत्व स्वरूप को प्रदर्शित करते हुवे विरोधी भाव निवारण करते हैं।

अन्य दार्शनिकों के समान यदि जैनदर्शन भी वस्तु के स्वरूप को अपरिवर्तनशील अर्थात् किसी प्रकार के परिवर्तन किये बिना सदा एक रूप जिसमें अनित्य का सम्भव ही नहीं ऐसी कूटस्थ नित्यता नहीं मानते जिससे वस्तु मे स्थिरत्व, अस्थिरत्व विरोधी भाव उत्पन्न हों और न जैनदर्शन वस्तु को एकान्त क्षणिक ही मानते हैं। यदि वस्तु को प्रत्येक क्षण में उत्पन्न और नष्ट होने वाली मानकर उसमें स्थिराधार न माने तो उक्त दोष प्राप्त हो सकता है अर्थात् अनित्य परिणाम में नित्यता का सम्भव नहीं होता परन्तु जैनदर्शन का यह मन्तव्य नहीं है। वे किसी भी वस्तु में एकान्त कूटस्थ नित्य या मात्र परिणामीत्व भाव न मान कर परिणामीनित्य (परिवर्तनशील नित्य) मानते हैं । इसलिये जितने तत्व हैं वे अपने अपने जाति में स्थिर रहते हुए भी

निमित्त पाकर परिवर्तन रूप उत्पाद, व्यय को प्राप्त हुआ करते हैं। अतः स्वरूपानुयायी पने ध्रुव है और परिणामिक भाव की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय भी उसमें घटित होता है। सांख्यदर्शन को केवल प्रकृति (जड़ वस्तु) को ही परिणामीनित्य मान्य है परन्तु जैन-दर्शन का यह सिद्धान्त जड़ चैतन्य दोनों के लिये एक सा है अर्थात् जैन सिद्धांतों में जड़ चैतन्य दोनो को परिणामी नित्य माना है।

सर्वव्यापी परिणामी नित्यत्ववाद स्वीकार करने के लिये मुख्य साधन प्रमाणानुभाव है। अति सूक्ष्मता पूर्वक प्रत्येक की ओर दृष्टिपात करने से यह अनुभव होता है कि ऐसा कोई तत्व नहीं जो एकान्त अपरिणामी (स्थिर) स्वभाव वाला ही हो या केवल परिणामी अर्थात् अस्थिर स्वभावी ही हो। यदि वस्तु को केवल क्षणिक ही मानते हैं तो प्रत्येक क्षण में वह नवीन नवीन उत्पन्न होगा और नष्ट भी होगा क्षणिक परंपरा के कारण उसका स्थायित्वाधाराभाव होगा और स्थायित्व के आधार का अभाव हो जाने से सजातीयता नष्ट हो जायगी अर्थात् वस्तु स्वजातीय धर्म से च्युत हो के विजातीय हो जायगी। यह वस्तु वही है इस प्रत्यभिज्ञान के लिये स्थिरत्व गुण की आवश्यक्ता है इसी तरह दृष्टा=आत्मा में भी स्थिरत्व गुण की आवश्यकता रहेगी यदि जड़ और चैतन्य तत्व में स्थिरत्व गुण का अभाव हो जाय तो वे विकार भाव को प्राप्त हो जावेंगे। और यदि उन (जड़ चैतन्य) को एकान्त अपरिणामी (स्थिर) वाला ही मानते हैं तो इन दोनों तत्वों के मिश्रण से प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होने वाली विविधता दिखाई देती है। उसका अभाव हो जायगा. इसलिये परिणामी-नित्यवाद मानना ही युक्ति संगत है॥

पूर्वोक्त सूत्र ३० की दूसरी व्याख्या ।

सत् अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता इसलिये वह नित्य है ॥ ३० ॥

विवेचन—उत्पाद, व्यय ध्रुवात्मक रहना यही वस्तु का स्वरूप है उसी को सत् कहते हैं। यह सत् स्वरूप नित्य अर्थात् तीनों काल में ह सदृश रूप से अवस्थित है ऐसो कोइ वस्तु नहीं है जिसमे उत्पाद, व्यय, ध्रुवाधार न हो। उक्त तीनों अंश वस्तु में सदा रहते हैं। अर्थात् उत्पादादि तीनों अंश से वस्तु कदापि पृथक् नहीं हो सकती यह सत् का नित्यत्व स्वरूप है ।

अपनी जाति से च्युत न होना ही वस्तु का ध्रुवत्व है और प्रत्येक समय भिन्न भिन्न परिणाम रूप से उत्पन्न होना और नष्ट होना उत्पाद, व्यय है । सब पदार्थों पर उत्पाद व्यय, ध्रुव का चक्र सदा प्रवाहित रहता है कोइ भी अंश ऐसा नहीं है जो इस चक्र से मुक्त हो सके। पूर्व सूत्र २७ में सत्य के अस्तित्व का कथन है वह मात्रद्रव्य का अ यथी=उत्पाद, व्यय क्रम और स्थायी अंश को ग्रहण करके कहा है । वत्तमान सूत्र में उस के नित्यत्व का कथन है । वह उत्पाद, व्यय, ध्रुव तीनों अंश का अविच्छिन्नत्व स्वभाव ग्रहण करके कहा है । उक्त दोनों सूत्रों में यह विशेषता है ॥ ३० ॥

अनेकान्त समर्थन ।

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३१ ॥

अर्थ—पदार्थों की सिद्धि मुख्यता और गौणता से होती है ॥ ३१ ॥

विवेचन—प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है और उसमें परस्पर विरुद्धभावी. धर्म भी रहे हुए हैं । उन विरुद्धभावी धर्मों का एक ही वस्तु में सप्रमाण समन्वय कराना और विद्यमान अनेक धर्मों में से किसी समय एक और किसी समय दूसरे का प्रतिपादन कैसे हो इसका अवबोध करना इस सूत्र का उद्देश है।

आत्मा सत् है। इस प्रतीति वा कथन से जिस सत्यता (सत्) का भास होता है वह सर्व प्रकार से घटित नहीं है किन्तु वह स्वस्वरूपसे ही सत् है। यदि ऐसा नहो तो आत्मा चेतनादि स्वस्वरूप के समान घटादि पर रूप में भी सत्यता सिद्ध होनी चाहिये और घट मे भी चैतन्यत्व भाव होगा । इससे विशिष्ट स्वरूप सिद्ध नहीं होता। विशिष्ट स्वरूप का मतलब यह है. कि जो स्वस्वरूप से सत् है वह पररूप में नहीं अर्थात् सत् नहीं इस तरह आत्मादि प्रत्येक वस्तु में जो विरोध भावी धर्म रहा हुआ है वह सापेक्ष अर्थात् अपेक्षा सहित है. इसी तरह वस्तु में नित्य, अनित्य धर्म भी रहा हुआ है । जो वस्तु सामान्य दृष्टि (द्रव्य) से नित्य है वही वस्तु विशेष दृष्टि (पर्याय) से अनित्य सिद्ध होती है और दूसरे एकत्व, अनेकत्वादि अनेक धर्मों का समन्वय आत्मादि सब वस्तुओं में अबाधित रूप से है। इसीलिये सब पदार्थ अनेक धर्मात्मिक माने गये हैं।

द्वितीयव्याख्या ।

प्रत्येक वस्तु का व्यवहार अनेक प्रकार से होता है और उस की सिद्धि मुख्यता, गौणता अर्थात् प्रधान अप्रधान भाव से होती है॥ ३१ ॥

विवेचन—अपेक्षा भेद से सिद्ध होने वाले अनेक धर्मों में से वस्तु का व्यवहार किसी एक धर्म द्वारा होता है वह अप्रमाणिक अथवा बाधित नहीं कहलाता क्योंकि वस्तु के विद्यमान समस्त धर्म एकसाथ विवक्षित नहीं होते अर्थात् उनका व्यवहार अथवा कथन एक साथ नहीं होता। प्रयोजन के अनुसार उसकी विवक्षा होती है। जिस धर्म की विवक्षा की जाय वह मुख्य=प्रधान रूप है और शेष धर्म गौण=अप्रधान रूप होते हैं। जैसे=आत्मा में अपेक्षा भेद से नित्य और अनित्य दोनों धर्म रहे हुए हैं। वह द्रव्य दृष्टि अपेक्षा से नित्य है। क्योंकि कर्म का कर्ता है वही फल का भोक्ता है। कर्म और तत् जन्य फल का समन्वय नित्यत्व धर्म से ही होता है उस समय पर्याय दृष्टि अनित्यत्व विवक्षित नहीं होने के कारण गौण रूप है। कर्तृत्व काल की अपेक्षा भोक्तृत्व काल में आत्मा की अवस्था बदल जाती है इसलिये कर्म और फल के समय का अवस्था भेद बताना हो तब पर्याय दृष्टि से अनित्यत्व प्रतिपादन करते समय पर्याय दृष्टि की मुख्यता और द्रव्य दृष्टि नित्यत्व की गौणता रहेगी इस प्रकार विवक्षा अविवक्षा के कारण किसी समय आत्मा को नित्य और किसी समय अनित्य भी कह सकते हैं और जब दोनों धर्म (नित्य, अनित्य) एक साथ कहने की इच्छा हो उस समय दोनों धर्म को युगपत् (एकसाथ) प्रतिपादन करने के लिये वाच्य शब्द न होने के कारण आत्मा को अवक्तव्य कहते हैं। उपरोक्त (नित्य, अनित्य, अवक्तव्य) तीन प्रकार की वाक्य रचनाओं के मिश्रण से अन्य चार वाक्य रचना और बनती हैं, जैसे नित्य१, अनित्य२, नित्यानित्य३, अवक्तव्य४, नित्यअवक्तव्य५, अनित्यअवक्तव्य६, और नित्यानित्य अवक्तव्य७ इसी सप्त वाक्य रचना को सप्त भंगी कहते हैं यथा-(१) स्यात् नित्य

यहाँ स्यात् शब्द कहने का तात्पर्य यह है कि नित्य धर्म सापेक्ष है और उसी को सूचित करने के लिये स्यात् शब्द का प्रयोग किया गयाहै इससे शेष धर्मों का उच्छेद नहीं होता इसी तरह (२) स्यात् अनित्य. (३) स्यात् अवक्तव्य, (४) स्यात् नित्यानित्य, (५) स्यात् नित्य अवक्तव्य, (६) स्यात् अनित्य अवक्तव्य, (७) स्यात् नित्यानित्य अवक्तव्य. इन में प्रथम के तीन सकला देशी कहलाते हैं। उस में भी आदि के दो वाक्य मुख्य हैं। उन्हीं (नित्य, अनित्य) दो धर्मों को ग्रहण करके भिन्न दृष्टि से शेष विकल्प उठाये गये हैं उन्हें विकला देशी कहते हैं। इसी तरह अस्ति नास्ति, एकत्व अनेकत्व. भेद अभेद. इत्यादि युगपत् धर्मों से प्रत्येक वस्तु में सप्त भंगी घटाई जा सकती है। प्रत्येक वस्तुमें सामान्य विशेष धर्म स्वीकार करना ही स्याद्वाद दर्शन है। इसी को अनेकान्तवाद भी कहते हैं। इसी से एक वस्तु अनेक धर्मात्मक और अनेक व्यवहार विषयी मानी जाती है ॥ ३१ ॥

पौद्गलिक बन्ध हेतु ।

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३२ ॥

अर्थ—स्निग्ध और रूक्ष हेतु से बन्ध होता है ॥३२॥

विवेचन–पुद्गलस्कंध की उत्पत्ती के लिये इसी अध्याय के छवीसवें (२६) सूत्र मे 'संघात भेदेभ्य उत्पद्यन्ते' कह आये हैं। पुनः उसी का स्पष्टिकरण करते हैं कि वह केवल अवयवभूत परमाणु आदि के पारस्परिक संयोगमात्र से उत्पन्न नहीं होता किन्तु अन्य गुण की भी आवश्यक्ता रहती है। प्रस्तुत सूत्र का उद्देश यह है कि अवयव के पारस्परिक संयोग के सिवाय स्निग्धत्व, रूक्षत्व गुण के विना बन्ध नहीं हो सकता, पुद्गल का एकत्व

परिणाम जो न ध है वह टपरोक्त गुण से होता हैं अथात् हेणु-कादि स्कन्धों का एकत्व परिणाम रूप नन्ध स्निग्ध, रूक्षत्व गुण से ही होता है।

स्निग्ध, रूक्ष अवयवों का श्लेप दो प्रकार से होता है। एक सजातीय के साथ अ र्थात् स्निग्धका स्निग्ध के साथ या रूक्ष का रूक्ष के साथ और दूसरा विजातीय के साथ अर्थात् स्निग्ध का रूक्ष के साथ और रूक्ष का स्निग्ध के साथ। श्लेप का अर्थ है सधी, सयोग या मेल। उनका नन्ध कैसे गुण वाले अवयवों से होता है और किस से नहीं होता है इसका विविधान आगे के सूत्र से करते ह ॥ ३२ ॥

नजघन्यगुणानाम् ॥ ३३ ॥
गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३४ ॥
द्व्यधिकादिगुणानातु ॥ ३५ ॥

अर्थ—जघन्य गुण वाले स्निग्ध और रूक्ष अवयवों का परस्पर नन्ध नहीं होता ॥ ३३ ॥

गुण की सामान्यता होने पर सदृश पुद्गलो के अवयवों का अर्थात् रूक्षका-रूक्षके साथ और स्निग्ध का स्निग्धके साथ न ध नहीं होता ॥ ३४ ॥

दो आदि से अधिक गुण वाले अवयवों का सजातीय तथा विजातीय से नन्ध होता है ॥ ३५ ॥

विवेचन—प्रस्तुत सत्र में प्रथम सुत्र ३३ न त लिये गहै तदनुसार यदि परमाणुओं में स्निग्धत्व, रूक्षत्व अश जघन्य हो एसी अवस्था मे उनका परस्पर नन्ध नहीं होता। इस लिये

धार्थक सूत्र से यह फलित होता है कि जिन परमाणुओं का स्निग्ध और रूक्षत्व अंश मध्यम और उत्कृष्ट संख्या वाला हो उन का परस्पर बंध होता है। परन्तु आगे सूत्र वे ३४ वे में इसका भी अपवाद है. कि समान अंश वाले अर्थात् जिन सदृश अवयवों का स्निग्धत्व, रूक्षत्व गुण सामान हो उनका भी परस्पर बंध नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि असमान गुण वाले सदृश अवयवों का बंध होता है। परन्तु इस फलितार्थ में भी मर्यादा रही हुई है जिसको सूत्र में (३५) से प्रगट करते हैं. कि यदि असमान अंशवाले सदृश अवयवों में भी जिन अवयवों का स्निग्धत्व, रूक्षत्व गुणांश, दो अंश, तीन अंश, चार अंशादि अधिक हो तो उनका परस्पर बंध हो सकता है। अन्यथा दूसरे की अपेक्षा जिसका गुण एक ही अंश अधिक है उनका परस्पर बंध नहीं होता।

प्रस्तुत तीनों सूत्रों में श्वेताम्बरीय, दिगाम्बरीय परम्परा के अनुसार पाठ भेद तो नहीं है परन्तु अर्थ भेद होता है। उनमें मुख्य तीन बाते ध्यान मे रखने योग्य हैं। (१) जघन्य गुण परमाणु एक संख्या वाला हो उसका बंध हो सकता है या नहीं ? (२) पैंतीसवे सूत्र के आदि शब्द से तीन आदि की संख्या लेनी या नही ? (३) पैंतीसवे सूत्र से बंध विधान केवल सदृश सदृश अवयवों का मानना या नहीं ?

(१) भाष्यवृत्त्यानुसार जघन्य गुण वाले परमाणुओं का बंध निषेध है और एक परमाणु जघन्य गुण वाला हो और दुसरा जघन्य गुणवाला नहीं तो भाष्यवृत्ति के अनुसार बंध हो सकता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि दिगाम्बरी व्याख्या के अनुसार जघन्य गुण युक्त दो परमाणुओं का पारस्परिक बंध के

समान एक जघन्य गुण परमाणु का दूसरा अजघन्य गुण परमाणु के साथ बंध नहीं होता।

(२) भाष्यवृत्ति के अनुसार पैंतीसवें सूत्र के आदिपद से एक अवयव से दूसरे अवयव का स्निग्ध, रूक्षत्व अंश तीन, चार यावत् संख्याता, असंख्याता, अनंता भी अधिक होतो बंध हो सकता है। मात्र एक ही अंश अधिक होने से बंध निषेध है। परंतु दिगम्बरीय आम्नाय की सब व्याख्याओं में मात्र दो अंश अधिक हो उसीका परस्पर बंध माना है। एक अंश के समान तीन, चार से यावत् संख्याता, असंख्याता, अनंता अंश अधिक वाले अवयवों का भी बंध निषेध माना है।

(३) पैंतीसवें सूत्र की भाष्यवृत्ति से दो, तीन आदि अंश अधिक होने पर जो बंध विधान बताया है। वह सदृश अवयवों के लिये है परंतु दिगम्बरीय व्याख्याओं में वह विधान सदृश, असदृश दोनों के लिये है। इस अर्थभेद के कारण दोनों परंपराओं में बंधविषयक जो विधि निषेध फलितार्थ होता है उसको कोष्ठ द्वारा बताते हैं।

	सर्वार्थसिद्धि आदि से		भाष्यवृत्ति से	
	सदृश	असदृश	सदृश	असदृश
१ जघन्य × जघन्य	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
२ ,, × एकाधिक	नहीं	नहीं	नहीं	है
३ ,, × दो अधिक	नहीं	नहीं	है	है
४ ,, + तीन आदि अधिक	नहीं	नहीं	है	है
५ जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	नहीं	नहीं	है
६ ,, × एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं	नहीं	है
७ ,, × दो अधिक जघन्येतर	है	है	है	है
८ ,, × तीन आदि जघन्येतर	नहीं	नहीं	है	है

स्निग्धत्व और रूक्षत्व दोनों स्पर्श अपनी अपनी जाति की अपेक्षा एक एक रूप हैं। तथापि परिणाम की तारतम्यता के कारण वे अनेक प्रकार के हैं। जघन्य स्निग्धता और जघन्य रूक्षत्व तथा उत्कृष्ट स्निग्धत्व और उत्कृष्ट रूक्षत्व के बीच अनंत अंशों का तारतम्यत्व भाव रहा हुआ है। जैसे—गाय, बकरी, भेड़ और ऊँटनी के दूध में स्निग्धत्व का न्यूनाधिक पना रहता है। स्निग्धत्व भाव सब मे है परंतु वह न्यूनाधिक रूप से है। सब से न्यून अविभाज्यरूप अंश को जघन्य कहते हैं। स्निग्धत्व और रूक्षत्व के परिणामों का अविभाज्य अंश जघन्य कहलाता है और शेष जघन्येतर कहलाते हैं इसमे मध्यम और उत्कृष्ट संख्या का समावेश है। जघन्य से एक अंश अधिक और उत्कृष्ट से एक अंश न्यून मध्यम संख्या कहलाती है। जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट अनन्त गुणाधिक है इसलिये स्निग्धत्व और रूक्षत्व परिणाम के तारतम्यत्व के अनन्त भेद होते हैं।

पूर्वोक्त परमाणु और स्कन्धों के जो स्पर्श, रसादि गुण हैं वे क्या व्यवस्थित रूप से रहते हैं, या अव्यवस्थित रूप से. ? उत्तर—वे परिणामी होने से अव्यवस्थित रहते हैं तथापि वध्यमान अवस्था में किसी गुण के साथ कैसी अवस्था में परिणमन होते है उसको आगे के सूत्र से बताते हैं ॥ ३३-३५ ॥

परिणाम स्वरूप ।

बन्धेसमाधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३६ ॥

अर्थ—बन्ध के समय समगुण का समगुण के साथ और हीनगुण अधिक गुण के साथ परिणमन करने वाला होता है ॥ ३६ ॥

विवेचन--ब ध के विधि निषेध का स्वरूप पूव सूत्र में कह आये हैं। वहा सदृश और असदृश परमाणुओं का परस्पर बन्ध होता है। उनमें कौन से गुण के परमाणु किस गुण में परिणत होते हैं, उसका प्रस्तुत सूत्र द्वारा विवेचन करते है।

समाश स्थल में सदृश का ब ध तो निषेध ही है अर्थात् समसख्यावाले गुणाश के साथ सदृश परमाणु (स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ) ब ध निषेध कर आये हैं और विसदृश अर्थात् रूक्ष का स्निग्ध के साथ स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्ध होता है । जैसे --दो अश स्निग्ध, दो अश रूक्ष अथवा तीन अश स्निग्ध, तीन अश रूक्ष। किसी एक समवाले को किसी भी समान गुणवाला अपने में परिणत करलेता है। अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के अनुसार किसी समय स्निग्ध रूक्षपने और रूक्ष स्निग्धपने बदल जाता है । परन्तु अधिकाश स्थल में हीनाश अधिक अश में सम्मिलित होता है । जैसे --पचाश स्निग्धत्व तीन अश स्निग्धत्व को अपने स्वरूप में परिणत करता है। इसी तरह पाच अश स्निग्धत्व तीन अश रूक्षको भी स्वरूपमे बदल लेता है, अर्थात् रूक्षत्व स्निग्धत्व रूप में बदल जाता है, और जिस समय रूक्षत्व गुण की अधिकता होती है उस समय स्निग्धत्व रूक्षत्व स्वरूप बनजाता है। तात्पर्य यह है कि हीन गुण पने में परिणत होता है ॥ ३६ ॥

पूर्व प्रकरण (अ० ५ सूत्र २ में) धर्मादि चार और जीव द्रव्य का कथन कर आये है उनकी सिद्धि क्या केवल उद्देशमात्र (नाम सकीर्तन) से ही है ? नहीं नहीं लक्षण से भी सिद्ध है यथा ;-

द्रव्य का लक्षण ।

गुणपर्यायवद् द्रव्यम ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिसमें गुण और पर्याय हो वह द्रव्य है ॥ ३७ ॥

विवेचन—द्रव्य का उल्लेख पूर्व कई सूत्रों से कर आये हैं। अब इस सूत्र से उसका लक्षण बतलाते हैं।

जिसमें गुण और पर्याय हो उसको द्रव्य कहते हैं प्रत्येक द्रव्य अपने अपने परिणामी स्वभाव के कारण मे निमत्त प्रकार भिन्न भिन्न रूप को प्राप्त करता है. अर्थात् विविध परिणाम प्राप्त करने की जो शक्ति है उसी को गुण कहते हैं और गुणजन्य परिणाम को पर्याय कहते हैं. गुण कारण है और पर्याय कार्य है। प्रत्येक द्रव्य में शक्ति रूप से अनन्त गुण रहे हुए हैं। गुण का स्वरूप इसी अध्याय के सूत्र ४० वें में बताया जायगा। वस्तुः वह द्रव्य के आश्रय भूत अविभाज्य रूप है। प्रत्येक गुण के भिन्न समय सम्प्राप्य त्रैकालिक पर्याय अनन्त हैं। द्रव्य और उसकी अंश रूप शक्ति उत्पन्न और नष्ट नहीं होती इसलिये नित्य अर्थात् अनादि अनन्त है। परन्तु पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न और विनिष्ट होने के कारण व्यक्तिशः अनित्य अर्थात् सादि सान्त है और प्रवाह की अपेक्षा से वह भी अनादि अनन्त (नित्य) है। किसी कारणभूत एकशक्ति द्वारा द्रव्य में होने वाले त्रैकालिक पर्यायप्रवाह सजातीय कहलाते हैं। एवं द्रव्य मे अनन्त शक्ति है। तज्जन्य पर्याय भी अनन्त हैं। वे एक द्रव्य में प्रतिसमय भिन्न भिन्न शक्ति से उत्पन्न होने वाले विजातीय पर्यायपेक्षा दृष्टि एक साथ प्रवाह रूप से अनन्त हैं। परन्तु एक समय में एक शक्तिजन्य सजातीय पर्याय एक ही होता है, अनेक नहीं हो सकते. ।

आत्मा और पुद्गल ये दो द्रव्य ऐसे हैं कि वे अपनी शक्ति द्वारा अनेक रूप में परिणत हुआ करते हैं। आत्मा चेतनादि अनन्त गुण और ज्ञान दर्शनादि विविध उपयोगों वाला है। पुद्गल मे रूपादि अनन्त गुण और नील पीतादि अनन्त पर्याय रहेहुए हैं। आत्मा चतन्यादि शक्ति द्वारा उपयोग रूप में और पुद्गल रूप शक्ति द्वारा अनेक आकार और नीलपीतादि रूप में परिणत हुआ करता है। आत्मद्रव्य की चेतना शक्ति आत्मद्रव्य से और उसकी अन्य शक्तियों से पृथक नहीं हो सकती। इसी तरह रूपत्वादि शक्ति पुद्गल द्रव्य से और तद गत् अन्य शक्तियों से पृथक नहीं हो सकती। ज्ञान दर्शनादि भिन्न भिन्न समयवर्त्ती विविध उपयोगों का त्रकालिक प्रवाह का कारण एक चेतना शक्ति है। इस चेतनाशक्ति के द्वारा पर्याय प्रवाह से उपयोग० कार्य होता है इसी तरह पुद्गल द्रव्य में रूपत्व शक्ति कारण भूत और नीलपीतादि विविध वर्ण पर्याय प्रवाह उस शक्ति का कार्य है। आत्म द्रव्य में उपयोगात्मक पर्याय प्रवाह के समान सुख दु ख वेदनात्मक पर्याय प्रवाह, प्रयात्मक पर्याय प्रवाह आदि अनत पयाय प्रवाह एक साथ प्रवाहित हुआ करते हैं। उस काय भूत पर्याय प्रवाहों की कारणभूत शक्ति पृथक पृथक मानने से अनन्त शक्ति सिद्ध होती है। इसी तरह पुद्गल द्रव्य में भी रूपी पयाय प्रवाह के समान गध, रस स्पर्शादि अनन्त पयाय प्रवाह सदा प्रवाहित रहती है। इन प्रत्येक प्रवाहों की कारण भूत शक्ति पृथक २ मानने से पुद्गल में भी रूप शक्ति के समान गध रस स्पर्शादि अनन्त शक्तिया सिद्ध होती हैं। आत्मा चेतना, आन द वीर्यादि शक्तियों स्वरूप की भिन्न विविध (अनेक) पर्यायें प्रति समय प्रवाहित रहती हैं, परन्तु एक चेतना शक्ति या एक आन द शक्ति

की उपयोग अथवा वेदना पर्याय एक समय अनेक प्रवाहित नहीं रहती। क्योंकि एक समय में प्रत्येक शक्ति की एकही पर्याय व्यक्त (प्रगट) हुआ करती है । इसी तरह पुद्गल में भी नील, पीतादि अनेक पर्यायों में एकैक शक्ति की एकैक पर्याय एक समय रहा करती है। जिस तरह आत्मा और पुद्गल नित्य हैं उसी तरह चेतना और रूपादि शक्तियां भी नित्य हैं परन्तु चेतनाजन्य उपयोग पर्याय और रूप शक्ति जन्य नील पीतादि पर्याय नित्य नहीं हैं किन्तु उत्पाद, व्ययशील होने से वक्तिशः अनित्य है तथापि प्रवाह की अपेक्षा से वह नित्य है।

आत्मा अनन्त गुणों के समुदाय का एक अखंड द्रव्य है। परन्तु छद्मस्त (साधारण बुद्धि वाले) की कल्पना में इसके चेतन, आनन्द, चारित्र, वीर्यादि परिमित गुण ही ग्राह्य हैं। समस्त गुणों का अववोध छद्मस्त को नहीं होता। इसी तरह पुद्गल के भी रूप, रस, गंध, स्पर्शादि परिमित गुण ही अववोधित होते हैं। आत्मा तथा पुद्गल के समस्त पर्यायों का प्रवाह विशिष्ट ज्ञान (केवल ज्ञान) के सिवाय नहीं जाना जासकता । जिन २ पर्याय प्रवाहों को साधारण बुद्धि वाले जान सकते हैं उनके कारण भूत गुणों का व्यवहार होता है। जैसेः—चैतन्य, आनन्द, चारित्र और वीर्यादि आत्मा के गुण कल्पना, विचार और वचन द्वारा प्रगट किये जा सकते हैं। इसी तरह पुद्गल द्रव्य के भी रूप आदि गुण प्रगटरूप हैं शेष अकल्पनीय गुण हैं वे केवली गम्य हैं।

अनन्त गुण, अनन्त पर्याय के समुदाय को द्रव्य माना है। यह कथन भेद सापेक्ष है । अभेद दृष्टि से पर्याय है वह गुण स्वरूप है। गुण द्रव्य स्वरूप है अर्थात् गुण पर्यायात्मक ही द्रव्य है। द्रव्य में गुण दो प्रकार के होते हैं एक साधारण (सामान्य)

दूसरा असाधारण (विशेष)। साधारण जो गुण है वह सब द्रव्यों में सामान्य रूप होता है। जैसे—अस्तित्व, द्रव्यत्व, अगरु लघुत्वादि और जो विशेष गुण हैं वे किसी द्रव्य में होते हैं और किसी में नहीं भी होते। जैसे—चैतन्यत्व, रूपत्वादि-असाधारण गुण और तज्जन्य पर्याय के कारण ही प्रत्येक द्रव्य की पृथकता है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय द्रव्य के भी गुण, पर्याय की व्याख्या पूर्ववत् जीव, पुद्गल के समान करलेनी। विशेषता यही है कि पुद्गल द्रव्य रूपी है और शेष अरूपी है और पुद्गल द्रव्य गुरू लघुगुण वाला है और शेष द्रव्यों का अगरुलघु गुण है॥ ३७॥

काल का स्वरूप ।

कालश्चेत्येके ॥ ३८ ॥　सोऽनन्तसमयः ॥ ३९ ॥

अर्थ—कोइ आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं ॥३८॥

और वह अनन्त समय वाला है ॥ ३९ ॥

विवेचन—पहले इसी अध्याय सूत्र २२ में काल के वर्तनादि पर्यायों का वर्णन कर आये हैं परन्तु वहां द्रव्यत्व विधान नहीं है। द्रव्यत्व विधान विषयी उपरोक्त सूत्र है और उसके विवेचन में (धर्माधर्माकाशजीव पुद्गल) पांच पदार्थों के द्रव्यत्व विषय सब की एक मान्यता होने से एकही सूत्र से उनकी व्याख्या की गई है। और काल के द्रव्यत्व विषय मत भेद होने से सूत्रकार यथा अनुक्रम पृथक सूत्र से उसकी व्याख्या करते हैं।

सूत्रकार का कथन है कि कई आचार्य काल को द्रव्यत्व रूप मानते इसका तात्पर्य यह होता है कि वस्तुतः अर्थात् वास्तविक रूप से केवल स्वतंत्र द्रव्य रूप सर्व सम्मत नहीं है।

सूत्रकार ने काल को पृथक द्रव्य मानने वाले आचार्यों के मतका निराकरण नहीं किया, किन्तु वर्णन रूप से कथन करते

हुए आगे सूत्र से कहते हैं कि वह अनन्त पर्याय वाला है। वर्तनादि पर्यायों का स्वरूप हम पहले समझा आये हैं। (अ० ५ सूत्र २२) वर्तना काल का समय रूप पर्याय तो एक ही है । तथापि अतीत, अनागत समय पर्याय अनन्त है । इसी लिये काल को अनन्त पर्याय वाला कहा है ॥ ३८-३९ ॥

गुण स्वरूप ।

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४० ॥

अर्थ—जो द्रव्य के आश्रय में रहे और स्वयम् निर्गुण हों वे गुण हैं ॥ ४० ॥

विवेचन—द्रव्य के लक्षण गुण का कथन (अ० ५ सू० ३७) है इसलिये अब गुण का स्वरूप बताते हैं ।

यद्यपि पर्याय भी द्रव्य के आश्रित ही हैं और निर्गुणभी हैं तथापि वह उत्पाद विनाशशील होने से सदा अवस्थित रूप नहीं है. और गुण सदा अवस्थ रूप से रहता है। यही गुण और पर्याय में अन्तर भेद है ।

द्रव्य की सदा वर्तमान शक्ति जो पर्याय की उत्पादक रूप है। उसी को गुण कहते हैं । गुण से अन्य गुण मानने पर अनावस्था दोष उपस्थित होता है। इसलिये द्रव्यनिष्ट अर्थात् द्रव्य में रही हुई शक्ति रूप गुण को निर्गुण माना है। आत्मा के चैतन्य, सम्यक्त्व. चारित्र, आनन्द, वीर्यादि और पुद्गल के रूप, रस, गंध, स्पर्शादि अन्त गुण हैं ॥ ४० ॥

परिणाम का स्वरूप ।

तद्भावः परिणामः ॥ ४१ ॥

अर्थ—उत्पाद व्यय सहित स्वस्वरूप में स्थित रहना परिणाम है ॥ ४१ ॥

विवेचन—वर्त्तमान अध्याय के सूत्र २२-३६ आदि से परिणाम शब्द कह आये हैं उसका वास्तविक क्या अर्थहै उसको शास्त्रकार समझाते है ।

बौद्ध दर्शन वाले वस्तु मात्र को क्षण स्थायी (निरन्वय विनाशी) मानते हैं । इनके मन्तव्यानुसार परिणाम का अर्थ उत्पन्न होके सर्वथा नष्ट होना है। नाश के पश्चात् उस वस्तु का कोई भी तत्त्व अवस्थित रूप नहीं रहता ।

नयायिकादि दर्शनवाले गुण और द्रव्य को एकान्त भेद रूप से मानते हैं। इनके मतानुसार परिणाम का फलितार्थ सर्वथा अविकृत (विकार भाव को नहीं होने वाले) द्रव्य में गुण का उत्पाद, व्यय होना है । उक्त दोनों पक्ष और जैन मन्तव्यानुसार परिणाम स्वरूप के सम्बन्ध में क्या विशेषता है उसको प्रस्तुत सूत्र द्वारा बताते हैं ।

कोई भी द्रव्य या गुण ऐसा नहीं है जो सर्वथा अविकृत रह सके । विकृत अर्थात् अन्य अवस्था को प्राप्त करता हुआ कोई भी द्रव्य या गुण अपनी मूल जाति (स्वभाव) का परित्याग नहीं करता । निमित्त पाकर भिन्न अवस्था को प्राप्त हो यही द्रव्य और गुण का परिणाम है ।

आत्मा मनुष्यत्व या पशु, पक्षी आदि किसी भी अवस्था में हो परन्तु वह अपने आत्मत्व (चैतन्यत्व) का परित्याग नहीं करता । इसी तरह उसके गुण, पर्याय में भी चेतनत्व भाव रहता है । ज्ञानरूप साकार उपयोग हो अथवा दर्शन रूप निराकार उपयोग हो । घट विषयक ज्ञान हो या पटविषयक ज्ञान हो परन्तु इन सब उपयोग पर्यायों में चेतनत्व कायम रहता है । उसका परिवर्तन कदापि नहीं होता । वह अपरिवर्तनशील है । एवं पुद्गल द्रव्य भी द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि किसी भी अवस्था में हो और भिन्नअवस्था में वर्ण, गन्ध, रसादि पर्याय भी परिवर्तन हुआ करते हैं परन्तु वह अपने जडत्व, मूर्तित्व स्वभाव का परित्याग नहीं करता । इसी तरह प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्यत्व गुणत्व से च्युत नहीं होते हुए पर्याय परिवर्तनशील अवस्था को परिणाम कहते हैं ॥ ४१ ॥

परिणाम के भेद ।

अनादिरादि माँश्च ॥ ४२ ॥ रूपीष्वादिमान् ॥ ४३ ॥
योगोपयोगोर्जीवेषु ॥ ४४ ॥

अर्थ—परिणाम के दो भेद हैं । अनादि, और आदिमान ॥ ४२ ॥

रूपी द्रव्य आदिमान परिणाम वाले होते हैं ॥ ४३ ॥

जीवों में योग और उपयोग आदिमान हैं ॥ ४४ ॥

विवेचन—जिस काल की पूर्वकोटी न जानी जाय उसको अनादि, और जिसकी पूर्वकोटी जानी जाय उस को आदिमान काल कहते हैं । परिणामी स्वभाव के दो भेद हैं । एक अनादि परिणामी स्वभाव, दूसरा आदिमान परिणामी स्वभाव । जिसमें अरूपी द्रव्य (धर्माधर्माकाश जीव) अनादि परिणाम वाले होते हैं. परन्तु जीवों में उक्त दोनों भेद पाये जाते हैं ।

रूपी पुद्गल द्रव्य आदिमान (सादि) परिणामवाले होते हैं उनके अनेक भेद हैं. जैसे—स्पर्श परिणाम, रस परिणाम, गन्ध परिणाम इत्यादि ॥ ४३ ॥

प्रस्तुत सूत्र ४३ से यह सूचित होताहै कि रूपी द्रव्य के सिवाय जो अरूपी द्रव्य हैं उन सबमें अनादि परिणाम होते हैं । परन्तु आगे सूत्र ४४ में उसका निराकरण करते हैं कि जीव यद्यपि अरूपी है तथापि उसके योग, उपयोग हैं. वे आदिमान (सादि) परिणाम वाले है और शेष स्वभाव अनादि परिणाम हैं जिसमें उपयोग का स्वरूप प्रथम (अ०२ सूत्र १७ मे कह चुके हैं. योग का स्वरूप अगले अध्याय ६ सूत्र १ से कहेंगे ॥ ४४ ॥

———:o:———

इति तत्त्वार्थ सूत्र के पांचवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त.

अध्याय छट्ठा

जीव, अजीवका निरूपण कर चुके। अब क्रमशः आश्रव द्वार का निरूपण करते हुए सत्रारम्भ करते हैं।

कायवाङ्मनः कर्मयोगः स आस्रवः ॥ १ ॥ २ ॥

अर्थ— काय वचन और मनकी क्रियाको योग कहते हैं और कर्म बन्ध के कारण से वे (योग) आश्रव संज्ञक हैं ॥ १-२ ॥

विवेचन—वीर्यान्तरायके क्षयोपशम वा क्षयसे अथवा पुद्गलोंके आलम्बन से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द अर्थात् स्वनाविशेष योग कहलाता है। आलम्बन भेदसे उसके मुख्य तीन भेद हैं। (१) काययोग (२) वचन योग (३) मनयोग। औदारिकादि वर्गणा योग्य पुद्गलोंके आलम्बनसे प्रवर्तमान होनेवाले योगोंको काययोग कहतेहैं, मतिज्ञानावर्ण, अक्षरश्रुतावर्णादि कर्मोंके क्षयोपशमसे आन्तरिक (भाव) वाग्लब्ध उत्पन्नहोतेही वचनवर्गणाके आलम्बनसे भाषा परिणामका ओर अभिमुख आत्मके प्रदेशोंका परिस्पन्द=प्रकम्प होता है उसे वचनयोग कहते हैं, नोइन्द्रिय जन्य मतिज्ञानावर्णों के क्षयोपशम रूप आन्तरिक लब्धि प्राप्तहोतेही मनवर्गणा के आलम्बनसे मनपरिणामकी ओर आत्माका जो प्रदेश प्रकम्पहोता है उसे मनयोग कहते हैं।

उक्त तीनों योग आश्रव कहलाते हैं। योगोंको आश्रव कहनेका कारण यह है कि इनके द्वारा कर्मबन्ध होता है। जैसे—

जलाशयमें पानीका आगमन नाली वा किसी श्रोत द्वारा होताहै इसी तरह कर्मोंका आगमन योग नैमेत्तिक होने से इनको आश्रव कहते हैं ॥ १–२ ॥

योगों के भेद और कार्य ।

शुभः पुण्यस्य ॥ ३ ॥ अशुभः पापस्य ॥ ४ ॥

अर्थ—शुभ योग पुण्य बन्धक हेतु है ॥३॥ अशुभ योग पाप बन्धक हेतु है ॥ ४ ॥

विवेचन—उक्त (काय, वचन, मन) तीनों योग शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके होते हैं। योगोंके शुभत्व, और अशुभत्वका आधार भावनाकी शुभाशुभता पर निर्भर है। अर्थात् शुभोद्देशकी प्रवृत्ति शुभयोग और अशुभोद्देश की प्रवृत्ति अशुभयोगहै किन्तु कर्मबन्धकी शुभाशुभता पर योगकी शुभाशुभतावलम्बित नहीं है क्योंकि आठवें आदि गुणस्थानोंमें है शुभयोग प्रवृतमान होते हुए भी अशुभज्ञानावरणीयादि कर्मबन्ध होताहै । इसके लिये दूसरे और चौथे हिन्दी कर्मग्रन्थमें गुणस्थानकपर बन्ध विचारणीय है।

हिंसा, चोरी, अब्रह्मादि कायिकव्यापार अशुभकाययोगहैं, और दया, दान, ब्रह्मचर्यादि शुभकाययोग हैं। सत्य किन्तु सावद्यभाषण, मिथ्याभाषण, कठोरभाषणादि अशुभवचनयोगहैं, सत्य निर्वद्यभाषण, मृदु तथा सभ्यादिभाषण शुभवचनयोगहैं । दूसरा के अहित तथा वन्धका चिन्तवनादि कर्म अशुभमनयोगहै. हित तथा उन्नतिके विचारों को शुभमनयोग कहते हैं ।

शुभयोगका कार्य, पुण्यप्रकृत्तिका वन्ध और अशुभयोगका कार्य पापप्रकृतिकावन्ध, जो अनुक्रम से ४२ और ८२ प्रकारका

है जिसका सविस्तार वर्णन चौथे कर्म ग्रथमें है तथा आगे अध्याय ८ सुत्र ३६ में कहेंगे।

प्रस्तुत सूत्रका विधान सापेक्ष समझना चाहिये, कारण सक्लेस (कषाय) की मंदताके समय योग शुभ है और उसकी तीव्रतामें योगअशुभ कहलाते हैं। जैसे —अशुभयोगके समय भी प्रथमादि गुणस्थानों में ज्ञानावरणयादि पाप तथा पुण्य प्रकृतियों का यथा सम्भव बन्ध होता है। उसी तरह छट्ठे आदि गुणस्थानों में शुभयोगके समय भी पुण्य, पाप दोनों प्रकृतियोंका यथा सभव बन्ध है।

प्रश्न—तबतो पुण्य बंधका शुभयोग और पापबंधका अशुभ योग जो कारण बतायाहै वह असगत है ?

उत्तर-प्रस्तुत विधानमें मुख्यता अनुभाग (रस) बंधकी अपेक्षा समझनी चाहिये। शुभयोगकी तीव्रताके समय पुण्यप्रकृतिके अनुभागकी मात्रा अधिक होती है और पापके रसकी मात्रा न्यून होतीहै। इसी तरह अशुभयोगकी तीव्रताके समय पाप प्रकृतिके रसकी मात्रा अधिक और पुण्यप्रकृतिके रसकी मात्रा न्यून होतीहै परन्तु दोनों प्रकृतियों का बंध प्रतिसमय हुआही करता है। सूत्रकारने अधिकांश ग्रहण करके सूत्र विधान किया है। हीन मात्राकी विवक्षा नहीं की। न्याय शास्त्रमें भी कहा है-" प्रधान्येनव्यपदेशा भवन्ति" और लोकिकमें भी बाहुल्यताके व्यवहारका नियम प्रसिद्ध ही है ॥ ३-४ ॥

स्वामी तथा फल भेद ।

सकषायाकषाययोः सपरायिकेर्यापथयोः ॥ ५ ॥

अर्थ—कषायसहित और कषाय रहित आत्माका योग

यथाक्रम सांपरायिक और ईर्यापथकी क्रियाहेतुसे, कर्मबंध (आस्रव) होता है ॥ ५ ॥

विवेचन—जिन में क्रोध, लोभादि कषायोंका उदय हो वह सकषाय और जिनमें उक्त क्रोधादि न हो उनको अकषाय जीव कहते हैं। प्रथम गुणस्थानक से यावत् दशवें गुणस्थानक पर्यन्त जीव न्यूनाधिक प्रमाणोंसे सकषायी होते हैं और शेष ग्यारहवें गुणस्थानकसे चौदहवें गुणस्थानक पर्यन्त अकषायी होते हैं।

आत्माको पराजयकरनेवाले कर्म सांपरायिककर्मकहलाते हैं। जैसेः—चिकासके कारण शरीर या भींतपर रज चिपक जाती है, उसी तरह योगद्वारा आकृष्टकर्म, कषायोदयके कारण आत्माके साथ सम्बन्धितहोके स्थितहोते हैं, उसीको साम्परायिक-कर्म कहते हैं, और बिना चिकनाहटवाले भींतपर लगीहुई रज हिलाने से तुरंत गिरजातीहै। इसी तरह कषायके अभावसे केवल योगाकृष्टकर्म आत्मासे तुरन्त अलगहोजाते हैं। उसको ईर्यापथ-कर्म कहतेहैं। इसकी स्थिति केवल दो समयकी मानीगईहै।

सकषायीआत्मा कायिकादि तीनप्रकारके योगोंसे शुभाशुभकर्म बान्धते हैं, उसकी न्यूनाधिक स्थितिका आधार कषायकी तीव्रता, मन्दता पर निर्भर है और यथासंभव शुभाशुभ विपाकका कारणभी होताहै. जो कषायमुक्तात्मा तीनोंप्रकारके योगोंसे कर्मबांधतेहैं, वे कषाय अभाव के कारण विपाक जन्य नहींहोते और उसका बंध काल दो समयसे अधिक नहीं होता। इसको ईर्यापथिक कहनेका कारण यहहै कि केवल ईर्या=गमनादि योग-प्रवृत्तिद्वारा ही कर्मबन्धहोताहै। यद्यपि सबजगह तीनोंप्रकारके योगोंकी सामान्यताहै, तथापि कषायजन्य न होने से उपार्जित कर्मों का स्थिति बंध नहीं होता, अर्थात् गमनागमन योगप्रवृत्ति

कर्म को ईर्यापथिककर्म कहतेहैं स्थिति और रस बंधका कारण कषाय है और यही संसार की जड़ है ॥ ५ ॥

संपरायिक आश्रव के भेद ।

अव्रतकषायेन्द्रियक्रियः पञ्चचतुः पञ्चपञ्च-
विंशति संख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रथम (संपरायिक) आश्रवके चार भेद हैं अव्रत, कषाय, इन्द्रिय और क्रिया इनके उत्तर भेदों की संख्या अनुक्रमसे पांच, चार पांच, पच्चीस है ॥ ६ ॥

विवेचन-पांचवें सूत्र पाठके अनुक्रमसे प्रथम सम्परायिक आश्रवके भेद प्रभेदोंका वर्तमान सूत्रसे वर्णन करते हैं । उस सम्परायिक कर्म आश्रव के मुख्य चार भेद और उत्तर उनचालीस (३९) भेद हैं और तीन योगों को पूर्व सूत्र १ में कह आएहैं एवं ४२ भेद आश्रवकेहैं यथा—

(१) हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये पांच अव्रत हैं इनका वर्णन अध्याय ५ सूत्र ८ से १२ पर्यन्त है।

(२) क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायहैं इन का विशेष स्वरूप अ० ८ सूत्र १० में लिखा है।

(३) स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र पांच इन्द्रियोंका अधिकार अध्याय २ सूत्र २० में कहआये हैं। वर्तमान सूत्र में इन्द्रियोंका अर्थ राग, द्वेष युक्त प्रवृत्तिहै केवल बिना राग द्वेष के आकार मात्रसे ही कर्मबंधनहींहोता । अस्तु राग, द्वेषकी प्रवृत्ति ही कर्मबंधका कारण है।

(४) पच्चीस क्रियाओं के नाम और लक्षण ।

(१) सम्यक्त्वक्रिया—देव गुरु धर्मकी श्रद्धा पूर्वक पूजा,

भक्ति आदिकरके सम्यक्त्व पोपण. (२) मिथ्यात्व क्रिया=मिथ्यात्वमोहनी प्रवर्द्धक सरागता (३) प्रयोग क्रियाः-शरीरादि द्वारा उत्थानादि सकपाय प्रवृत्ति, (४) समादानक्रियाः--त्यागी होके भववृत्तिकी ओर प्रवर्तमान होना, (५) इर्यापथिक क्रियाः जिस-क्रियासे दो ही समयकी स्थितिका कर्मबन्धहोता है. (६) कायकी क्रिया.-दुष्टभावसहित, प्रयत्नशीलहोना. (७) अधिकरण क्रियाः-हिंसाकारीसाधनोंको ग्रहणकरना. (८) प्रदोषक्रियाः-क्रोधके आवेशसे होनेवाली क्रिया (९) परितापनक्रियाः-प्राणियोंको संताप-देना, (१०) प्राणातीपातक्रिया -प्राणियोंके प्राणों (पांच इन्द्रियः मन, वचन, कायबल. श्वासोश्वास, आयुप ये दशप्राण हैं) को हनन करना, (११) दर्शनक्रियाः-रागवश होके रूपादि देखने की प्रवृत्ति. (१२) स्पर्शनक्रिया.-प्रमादवश होके स्पर्शनकरनेयोग्य वस्तुके स्पर्शनका अनुभवकरना, (१३) प्रत्ययक्रिया—नवीन शस्त्रादि बनाना, (१४) समन्तानुपातन क्रिया पुरुष. स्त्री. पशु आदिके आवागमनादि स्थान पर मलमूत्रादि परित्याग करना. (१५) अनाभोग क्रिया.-विना देखे प्रमार्जन किये स्थान पर शरीर वा किसी वस्तुको स्थापित करना । (१६) स्वहस्तक्रियाः-दूसरे के करने योग्य क्रियाको स्वयम् करना. (१७) निसर्गक्रियाः-पापप्रवृत्तिके लिये अनुमति देना, (१८) विदारणक्रियाः-दूसरेकेकियेहुए पाप को प्रकाशित करना, (१९) आनयन अथवा आज्ञाव्यापादक्रिया=स्वयम् पालनकरनेकी शक्ति न होनेसे शास्त्रोक्त आज्ञा के विपरीत प्ररूपन करना, (२०) अनवकांक्षाक्रिया-धूर्तता वा आलस्यसे शास्त्रोक्त विधिका अनादर करना। (२१) आरभक्रिया-आरंभ समारंभ में रत होना (२२) परिग्रहक्रिया-जो परिग्रहकी वृद्धिके हेतुकीजाय (२३) मायाक्रिया-ठगी करना. (२४) मिथ्या-

दर्शनक्रिया-मिथ्यात्व परिसेवन, (२५) अप्रत्याख्यानक्रिया-पापव्यापारसे अनिवृत्त होना।

उपरोक्त पच्चीस क्रियाओंमें ईर्यापथकी क्रिया है वह साम्परायिक आश्रवनहींहै। यहा सब क्रियायें कषाय प्रेरित होनेके कारण सम्परायिकाश्रव कही। वास्तवमें ईर्यापथकी क्रिया कषाय प्रेरित नहींहै क्योंकि वह अकषायी अवस्थाहै परन्तु यहा कषाय प्रेरित कहा वह ग्यारहवें गुणस्थानकसे पतितहोनेके अन्तसमयकी अपेक्षा हैं वस्तुत सब क्रियायें साम्परायिक सापेक्ष समझनीचाहिये उक्त सम्परायिक क्रियाओंके बन्धका कारण मुख्यतासे रागद्वेष (कषाय) ही है तथापि कषायसे पृथक् अव्रतादि बन्ध कारणरूपसूत्रमें बतायेहैं, उनमें कतिपय प्रवृत्तियां मुख्यतापने व्यवहारमें दिखाइदेती हैं उन (प्रवृत्तियों को सम्वरा भिलाषी यथाशक्ति समझकर रोकनेकी चेष्टा करे इसीहेतुसे उपरोक्त (३९) भेद किये गयेहैं ॥ ६ ॥

बन्ध-कारण समान होते हुवे भी कर्म बन्ध में विशेषता—

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभाव वीर्याधिकरण विशेष भ्यस्तद्विशेष ॥७॥

अर्थ—तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरणभेद विशेषसे "तत्" उपरोक्त उन्चालीसभेद सहित सम्परायिकाश्रव के कर्म बंधमें विशेषता होतीहै ॥ ७ ॥

विवेचन—प्राणातिपात, इन्द्रियव्यापार, और सम्यक्त्व क्रियादि उपरोक्त सूत्र ६ बंधकारण समान होते हुए भी तज्जन्य कर्मबंधमें किन किन कारणों से विशेषता होतीहै उसीको वर्तमान सूत्र द्वारा बतलाते हैं।

बाह्यबन्धकारण समान होते हुए भी परिणामोंकी तीव्रता, मन्दताके कारण कर्मबंधमें भिन्नताहोतीहै जैसे—किसी एक वस्तु

को तीव्रतथा मन्दाशक्ति पूर्वक देखनेवालेका विषय तीव्र और मन्द होताहै वैसे ही परिणामोंकी तीव्रतासे तीव्र, और मन्दतासे मन्द बन्ध होताहै। पुनः इरादेपूर्वक जो क्रिया की जाय उसको ज्ञात भाव कहतेहैं। कोई भी क्रिया चाहे ज्ञात भावसे हो या अज्ञात भावसे हो कर्मबन्ध अवश्य होताहै और उसमें बाह्यव्यापार हिंसादि प्रवृत्ति समान रूप होतेहुए भी तत्जन्य कर्मबन्धमें न्यूनाधिक्तता होतीहै अर्थात् अज्ञात भावसे ज्ञातभाववालेका कर्म बंध उत्कृष्ट होता है. जैसेः-कोई व्यक्ति हरिनको हरिनसमझकर बाणसे मारताहै और दूसरा निर्जीव पदार्थपर निशाना मारते हुए भूलसे हरिनको लग जाय, इन दोनोंमें भूलसे मारनेवालेके कर्मबंध से जान बूझकर मारने वालेका कर्मबंध उत्कृष्ट होता है।

वीर्यशक्ति विशेष भी कर्मबंधकी विचित्रताका कारणहै, बलवानकी अपेक्षा निर्बलका शुभाशुभ कर्मबंध सदैव मन्दहोताहै। जैसे—दान, सेवादि शुभकार्य अथवा हिंसाचोरी आदि अशुभकाम बलवान पुरुष जिस उत्साह के साथकरडालताहै उतना ही काम निर्बलपुरुष बड़ी कठिनाई से क्षीणमन होके करताहै. इसलिये बलवानकी अपेक्षा निर्बल का कर्मबन्ध न्यून होता है।

'जीव, अजीव' अधिकरण भेदसे भी कर्मबन्धमें विशेषता होतीहै इसका स्वरूप आगे के सूत्र से कहते हैं। उपरोक्त कारणोंमे भी कषायिक परिणामोंकी विशेषतापर कर्मबंधकी विशेषता निर्धारितहै. इसीके तारतम्यत्वसे कर्मबन्धमें न्यूनाधिकता होतीहै ॥ ७ ॥

अधिकरण के भेद ।

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ८ ॥

आद्य सरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतका-
रितानुमतकषाय विशेषै स्त्रिस्त्रिस्त्रि श्चतुश्चैकशः ॥ ९ ॥
निर्वर्तना निक्षेप सयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदा परम् ॥ १० ॥

अर्थ—अधिकरण जीव आर अजाव रूप है ॥ ८ ॥

प्रथम जीव रूप अधिकरण सरम, समारम, आरम योग (मन, वचन काय,) कृत, कारित, अनुमत और कपाय (क्रोध, मान, माया, लोभ,) भेद से क्रमश तीन तीन, तीन और चार प्रकार के हैं। ॥ ९॥

'पर' अर्थात् अजीवाधिकरण क निर्वर्तना, निक्षेप, सयोग और निसर्ग रूप भेद अनुक्रम से दो चार, दो और तीन प्रकार के हैं॥१०॥

विवेचन—जिसके आधार से कार्य होता है उसको अधिकरण कहते हैं जितने शुभाशुभ काय हैं वे जीवाजीव उभय पक्ष द्वा । सिद्ध होते हैं केवल अकेले जीव अथवा अजीव से सिद्ध नहीं होते, इसलिये कर्मबन्ध का साधन जीव, अजीव दोनों अधिकरण शस्त्र रूप हैं और वे द्रव्य तथा भाव रूप दो, दो प्रकार के हैं व्यक्तिगत जीव और वस्तु रूप अजीव-पुद्गल स्कन्ध को द्रव्य अधिकरण कहते हैं और जीवगत कपायादि परिणाम तथा वस्तुगत अर्थात् तलवार की तीक्ष्णता रूप शक्ति आदि को भाव अधिकरण कहते हैं।

जीव अधिकरण के उपरोक्त सूत्रार्थ में क्रमश तीन, तीन, तीन, और चार भेद बताये हैं उनके परस्पर विकल्प उठानेसे एक सौ आठ भाग (अवस्था विशेष) होते हैं ससारी जीव शुभ अथवा अशुभ किसी एक प्रवृत्ति में प्रवर्तमान होता है उस समय उक्त एक सौ आठ अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था में अवश्य होता है इसलिये वे अवस्थायें भावाधिकरण हैं।

प्रमादि जीव हिंसादि कार्यके प्रयत्नका आवेश (चिंतन)

करे उसको सरंभ कहते हैं, तथा उस कार्यके लिये साधन संग्रह करना समारंभ कहलाताहै और कार्यमें प्रवर्तमान होनेको आरंभ कहतेहैं अर्थात् कार्य को संकल्पात्मक सूक्ष्मावस्थासे पूर्ण प्रगट होनेतक तीनअवस्थायें मानीहैं उन्हीं को सारंभ, समारंभ, आरंभ कहतेहैं। और वे योगोंद्वारा होतीहै योग तीन प्रकार केहैं, मनयोग वचनयोग, कायायोग। कृत का अर्थ स्वयम् करना, कारित का अर्थ दूसरेसे कराना अनुमतकाअर्थ किसीकार्यमें सहमत होना और क्रोधादि चार कषाय प्रसिद्ध ही हैं।

संसारी जीव दान, व हिंसादि शुभाशुभ कार्य करते हैं, उस समय क्रोध अथवा मानादि चार कषायोंमे से किसी एक कषाय प्रेरित अवश्य होतेहैं पश्चात् चिन्तवनादि सारंभ, समारंभ, आरंभ को मन, वचन कायासे स्वयम् करताहै वा कराताहै अथवा किये हुए कार्यमें सहमतहोताहै, इसी के १०८ विकल्प होतेहैं ॥ ६ ॥

परमाणु आदि मूर्तिमान वस्तु द्रव्यअजीव अधिकरणहैं और जीवकी शुभाशुभ प्रवृत्तिमे उपयोगित मूर्तिद्रव्य जिस अवस्था मे वर्तमानहो उसे भाव अजीव अधिकरण कहतेहैं. प्रस्तुत सूत्र में (निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग, निसर्ग) जो अजीव अधिकरण के मुख्य चार भेद बतांये हैं वे भाव अजीव अधिकरण के समझने चाहिये।

(१) निर्वर्तना रचना विशेष को कहते हैं इसके मूल गुण निर्वर्तना और उत्तरगुण निर्वर्तना रूप दो भेदहैं, मूल गुण निर्वर्तना अधिकरण पांच प्रकारके हैं, पुद्गल द्रव्यकी औदारिकादि शरीररूप रचना और जीवकी शुभाशुभ प्रवृत्तियोमें अन्तरंगसाधनपने उप-योगी होनेवाले मन, वचन, तथा प्राण और अपान । उत्तर गुण निर्वर्तनाधिकरण काष्ठ, पुस्तक, चित्रकर्मादि जो रचना बहिरंग साधनपने जीवकी शुभाशुभ प्रवृत्तिमें उपयोगी होतीहै ।

(२) निक्षेप स्थापित करना, इसके मुख्य चार भेद हैं (१) अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण अर्थात् विना अन्वेषण किये (विनादेखे) किसी वस्तु को कहीं स्थापित करना। (२) दु प्रमार्जित निक्षेपाधिकरण अर्थात् देख करके भी वस्तु वास्तविक रूपसे विना प्रमार्जन किये इधर उधर रखदेना। (३) सहसा निक्षेपाधिकरण-अर्थात् देखी और प्रमार्जन की हुई वस्तुको शीघ्रता पूर्वक किसी स्थानमें रखना। (४) अनाभोग निक्षेपाधिकरण अर्थात् विना उपयोग किसी वस्तु को कहीं रखना इत्यादि।

(३) संयोग एकत्रित करना इसके मुख्य दो भेद हैं (१) भक्तपान संयोगाधिकरण अर्थात् अन्न, जलादि भोजन सामग्री का संयोग (२) उपकरण संयोगाधिकरण अर्थात् भोजन से भिन्न सामग्री वस्त्राभूषणादिका संयोग करना इत्यादि (४) निसर्गाधिकरण प्रवर्तमानहोना, इसके मुख्य तीन भेद हैं, शरीर, वचन और मन की प्रवर्तना इसको अनुक्रमसे कायनिसर्ग, वचननिसर्ग और मननिसर्ग कहतेहैं।

उपरोक्त इसी अध्याय के पांचवे सूत्रमें सकषायिक योगसे साम्परायिकाश्रव और अकषायिकयोगसे ईर्यापथिकाश्रव कहाहै इसलिये साम्परायिक आश्रवहै वह आठकर्मोंकाहै इसके मूल प्रकृत्ति तथा उत्तर प्रकृतिका सविस्तार वर्णन अध्याय आठवेंमें कहेंगे--यहां केवल इतना ही समझातेहैं कि किन साम्परायिक आश्रवोंसे कौन २ सा कर्म बन्धहोताहै, बन्धहेतुओंकी भिन्नतासे कर्मोंकी भिन्नता होतीहै, इसलिये उनके २ बन्धहेतुओंका वर्णन आगे के सूत्र से करतेहैं ॥ १० ॥

साम्परायिक आश्रव कर्म के भिन्न २ बन्धहेतु

तत्प्रदोषनिन्हव मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ।

ज्ञान दर्शना वरणयोः ॥११॥ दुःखशोक तापाक्रन्दन वध परिदेव नान्यात्मपरो भय स्थान्य सद्वेद्यस्य ॥१२॥ भूत व्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौच्यमिति सद्वेद्यस्य ॥१३॥ केवली श्रुतसंघ धर्म देवा वर्णवादोदर्शन मोहस्य ॥१४॥ कषायोदयात्ती व्रात्म परिणाम श्चारित्र मोहस्य ॥१५॥ बह्वारम्भ परिग्रह त्वंच नरकायुषः ॥१६॥ मायाः तैर्यग्योनस्य ॥१७॥ अल्पारंभ परिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवंच मनुषस्य ॥१८॥ निःशीलव्रतत्वं च सर्वोषाम ॥१९॥ सराग संयम संयमा संयमा काम निर्जरा बाल तपांसिदेवस्य ॥२०॥ योग वक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२१॥ विपरीतं शुभस्य ॥२२॥ दर्शन विशुद्धि विनय सम्पन्नता शील व्रतेष्व नतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोग संवेगौ शक्ति तस्त्यागत पसी सङ्घ साधु समाधिर्वै यावृत्य करण मर्हदाचार्य बहुश्रुत प्रवचन भक्ति. रावश्यकापरिहाणि मार्ग प्रभावना प्रवचन वत्सलत्वमिति तीथकृत्त्वस्य ॥२३॥ परात्मनिंदा प्रशंसे सदसद गुणाच्छादनोद्भाव-नेच निचैर्गोत्रस्य ॥२४॥ तद्वि पर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेको चोत्तरस्य॥२५॥विघ्न करण मन्तरायस्य॥२६॥

अर्थ—तत्प्रदोप, निन्हव, मत्सर, अन्तराय, आशातना और उपघात आश्रव ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मके बन्धहेतुहै॥११॥

दुःख व शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवना स्व अथवा पर के आत्मा में या उभय आत्मा में रहे हो या उत्पन्न किये जाय तो वे असद्वेना कर्म के आश्रव होते हैं ॥ १२ ॥

भूत—अनुकम्पा (सब प्राणियों पर दया), वृत्तियों पर अनुकम्पा, दान सराग संयमादि तथा योग शान्ति और शौच सातावेदनीय कर्मबन्ध हेतु आश्रव है ॥ १३ ॥

केवली श्रुत, संघ, धर्म और देव के अवर्णवाद करना दर्शनमोहनीय कर्म के बन्धहेतु आश्रव हैं ॥ १४ ॥

कषायोदयी तीव्र आत्मपरिणाम चारित्रमोहनीय कर्म के बन्धहेतु आश्रव है ॥ १५ ॥

अति आरम्भ और अति परिग्रह नरकायुष्यकर्म का बन्धहेतु है ॥ १६ ॥

माया—तिर्यंच योनि के आयुष्य का बन्धहेतु आश्रव है ॥

अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह मृदुता, ऋजुता, मनुष्यायु के बन्धहेतु आश्रव हैं ॥ १८ ॥

निःशील और व्रतरहित होना सब आयुष्यो का बन्धहेतु है ॥ १९ ॥

सराग संयम संयमासंयम अकामनिर्जरा और बालतप देवायुष्य के आश्रव होते हैं ॥ २० ॥

योगों की वक्रता और विसंवाद अशुभनाम कर्मका बन्धहेतु है ॥ २१ ॥

और इससे विपरीतता शुभ नाम कर्म का हेतु है ॥ २२ ॥

दर्शन विशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील तथा व्रत में सर्वथा अप्रमादता, निरन्तरज्ञानोपयोग, संसार से वैराग्य, भाव शक्तिकेअनुसार त्याग, और तप, संघ, साधुसमागम, वैयावृत्य सेवाशुश्रुषा, अरिहन्त, आचार्य, बहुश्रुत, तथा प्रवचन की भक्ति

समायिकादि आवश्यक क्रियाओं. अपरिहार, मोक्षमार्ग की प्रभावना-महत्वता. और प्रवचन वात्सल्यता ये सब गुण तीर्थंकर नामकर्म के हेतुआश्रव हैं ॥ २३ ॥

परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणों का आच्छादन, नीचगोत्र कर्म का बन्धहेतु है ॥ २४ ॥ और इस से विपरीतता ऊँच गौत्र का बन्धहेतु है ॥ २५ ॥

दानादिमें विघ्न न करना अन्तरायकर्म के बन्धहेतु का आश्रव होता है ॥ २६ ॥

विवेचन—ग्यारहवें सूत्र से यावत् इस सम्पूर्ण अध्याय पर्यन्तके सबसूत्रों में कर्मप्रकृत्ति के बन्धहेतुओंका क्रमशः वर्णन यद्यपि समस्त कर्मप्रकृतियों का बन्धहेतु सामान्यतः योग और कषाय है तथापि कषायजन्य अनेक प्रकारकी प्रवृत्तियों में से कौनसी प्रवृत्ति किस कर्मकाबन्धहेतु होता है. उसीको बताना प्रस्तुत सूत्रों का उद्देश है ॥

ज्ञानावर्णीय दर्शनावार्णीय कर्म के बन्धहेतु

(१) ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों प्रति द्वेष करना इस को तात्प्रदोष कहते हैं, (२) निन्हव-कलुषित भाव से ज्ञान की अवज्ञाकरनी या ज्ञानादि को छिपाना, (३) मत्सर्य्यज्ञान की योग्यता पूर्वक ग्रहण करने वाले पर कलुषित वृति (४) अन्तराय ज्ञानको पढ़नेवाले प्रति विघ्न करना या उस के साधनों का विच्छेद करना (५) आसादन-ज्ञान प्रकाशित करते हुवे को रोकना, (६) उपघात-प्रशस्त ज्ञानमें दोष लगाना, ये ज्ञानावर्णीय कर्म के आश्रव है ऐसे ही इन्हीं कारणोंसे दर्शनावर्णीय कर्मका भी बन्धुहेतु होता है।

असाता-वेदनीय कर्म के बन्धुहेतु।

(१) दुःख-बाह्य तथा आंतरिक पीडा रूप परिणाम (२) शोक

अनुग्रहित हटाने की वृत्ति से रहित होने पर विकलितावस्था (३) ताप-पश्चात्ताप, (४) आक्रन्दन-शोकादिसे व्यक्तरूप रोदन (५) वध-प्राणोंका वियोग करना, (६) परिदेवना- वियोगीके गुणोंका स्मरण करके करुणाजनक रुदन-उपरोक्त दुःखादि छ तथा अन्य ताडन, तर्जनादि अनेकप्रकारके निमित्त स्व तथा परमे उत्पन्न करने से असाता वेदनीय कर्म बन्धहोता है।

प्रश्न—दुःखादि कारणोंको स्व तथा परमें उत्पन्न करनेसे यदि असातावेदनी ही कर्मबन्धहोता है तो लोच तथा उपवासादि तपश्चर्या और आसन आतापनादिसे आत्माको दुःखित करना भी असाता वेदनी कर्म का बन्धक होगा तबतो व्रत नियम अनुष्ठानादि करना पाप को बन्धहेतु होना है।

उत्तर—क्रोधादि के आवेश से उत्पन्न होने वाले दुःखादि निमित्त आश्रवरूप होते हैं, अन्यथा सामान्य तया सबप्रकासे बाध्यरूप नहीं है यथार्थ त्यागी और तपस्वियोंके लिये वे आश्रव रूप नहीं होते और न असाता वेदनी के ही बन्धक होतेहैं इसके मुख्य दो कारण हैं पहिला कारण तो यह है कि उत्कृष्ट त्यागवृत्ति वाले कितने ही कठिन से कठिन नियम, अनुष्ठानादि करे परन्तु वे सद्वृत्ति और सद्बुद्धि के कारण कठिन दुःखादि संयोग प्राप्त होने पर भी क्रोध, सन्तापादि कषायों को प्राप्त नहीं होते और बिना कषाय के आश्रव हो नहीं सकता दूसरा कारण यह है कि वास्तविक त्यागवृत्ति वालों की चित्तवृत्ति सदा प्रसन्न चित्त रहती है और कठोर व्रत नियम पालने में भी प्रसन्नताही रहती है दुःख शोकादिका प्रसंग कभी उपस्थित नहीं होता कदाचित् कोई किसी प्रसंगवशात् दुःखी भी हो जायतो इसका मतलब यह नहीं है कि सब उनमें ही दुःखी होते हों। मतपालन करने में जिनको

मानसिक गति है उसको दुःख रूप नहीं है किन्तु सुखरूप है जैसे-कोई दयालु वैद्य या डाक्टर किसी रोगी के शरीरको चीर फाड करता है और दुःख अनुभव होता है उसके लिये वे निमित्त रूप हैं तथापि करुणा जनक सद्वृत्ति के कारण वे पापके भागी नहीं होते. इसी तरह सांसारिक दुःख दूर करने के उपायोंको प्रसन्नतापूर्वक अंगीकार करता हुवा त्यागी भी सद्वृत्ति के कारण पाप बन्धक नहीं होता।

सातावेदनीयकर्म के बन्धहेतु ।

(१) भूत अनुकम्पा-सर्व प्राणियों पर दया व कृपा दृष्टि (२) वृत्यनुकम्पा-अल्पांश वृतधारी गृहस्थ और सर्वांश वृतधारी त्यागी दोनों पर विशेष दया. (३) दान-अपनी वस्तु किसी को नम्रता से अर्पण करना, (४) सराग संयमादि योग अर्थात् सराग संयम जो संसार से विरक्त भाव तृष्णा हटाने में तत्पर होके संयम स्वीकार करने पर भी जबतक मनके रागादि संस्कार क्षीण नहीं होते उसको सराग संयम कहते हैं. देशमात्र (थोडा) संयम स्वीकारनेको संयमासंयम कहते हैं. स्वेच्छा से नहीं परन्तु स्वाभाविक या परतंत्रपने से भुक्तमान कर्म अथवा त्याग वृत्तिको अकामनिर्जरा कहते हैं. बिना ज्ञानके अग्निप्रवेश, जलपतन, अनसनादि तपको बालतप कहते हैं. (५) क्षान्ति-धर्मदृष्टिसे क्रोधादि दोषोंका दमन. (६) शोच इत्यादि इनके तरफ लक्ष देना है वह सातावेदनीय कर्मका बन्ध हेतु है. अर्थात् पूर्वोक्त कारणों से सातावेदनीय कर्मका बन्धहोता है।

दर्शन मोहनीय कर्म के बन्धहेतु

(१) केवली-परमर्षि का अवर्णवाद अर्थात् असत्य दोषारोपण करना, (२) श्रुत-धर्म शास्त्रोंको द्वेषबुद्धिसे असंगत कहे

उनके अवर्णवाद कहना, (३) मघ-साधु, साध्वि, श्रावक इस चतुर्विध सघ पर मिथ्या दोषारोप करके अवर्णवाद बोलना, (४) धर्म-अहिंसादि स्याद्वादमयी परमोत्कृष्ट धर्मका बिना जाने समझे अवर्णवाद बोलना (५) भवनपत्यादि देवों का अवर्णवाद (निन्दा) करना यह सब दर्शन मोहनीय कर्म के बन्ध हेतु है।

चारित्र मोहनीय कर्म के बन्ध हेतु

(१) स्वतथा पर में कषाय उत्पन्न करने की चेष्टा करनी अथवा कषाय के वश होके तुच्छ प्रवृत्ति करनी यह कषाय मोहनीय के बन्ध का कारण है, (२) सत्यधर्म अथवा गरीब या दीन मनुष्य का उपहास करना इत्यादि हास्यवृत्ति से हास्य मोहनीय कर्म बन्ध होता है, विविध क्रिडादि में तत्पर रहना रतिमोहनीय कर्मका बन्ध हेतु है, (४) दूसरों को कष्ट पहुंचाना किसीके आराममें बाधा डालनी इत्यादि अरति मोहनीय कर्मका बन्ध हेतुहै (५) पोते शोकातुर रहना या शोकवृत्ति को उत्तेजित करना शोक मोहनीय कर्म के बन्ध का कारण है, (६) स्व तथा पर में भय उपार्जित करना भय मोहनीय कर्मका बन्धहेतुहै (७) हितकर क्रिया और हितकर आचरण जुगुप्सा मोहनीय कर्मबन्ध हेतु होता है (८०१०) ठगी या परदोष दर्शन के स्वभाव से स्त्रीवेद और स्त्रीजाति योग्य या पुरुष जाति योग्य अथवा नपुंसक जाति योग्य संस्कारों के अभ्यास से स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद का यथा क्रम बन्ध होता है, ये सब चारित्र मोहनीय कर्मके बन्ध हेतु आश्रय हैं।

आयुष्यकर्म के बन्धहेतु

नरकायुष्य—(१) प्राणियों को दुख हो ऐसी कषाय पूर्वक प्रवृत्ति आदि से महारंभ करना (२) धन कुटुम्बादि पर ममत्व

भाव रख महापरिग्रहों को बढाने की तीव्रइच्छा करना (३) पंचेंद्रियकी घात करना (४) मांस भक्षी इत्यादि कारण नरकायुष्य बन्धके हेतु हैं।

तिर्यचायुष्य—(१) माया—छल कपटादिक भावों से पर को ठगना (२) गूढमाया—माया में माया (३) कूडतोलमाप (४) असत्य लेखादि का लिखना यह तीर्यंचायुष्य बन्धके हेतु हैं।

मनुष्यायुष्य—(१) स्वभावसे ही भद्रिक=सरल (२) मृदुता नम्रता गुणीजनों का विनयभाव करना (२) दीन दुःखियों पर दयाभाव लाना [४] दूसरों की सम्पतिदेख मत्सरता न लाना तथा अल्पारंभ अल्पपरिग्रह अर्थात् अपनी इच्छाओं को रोकना ये मनुष्यायुष्यबंध के हेतु हैं।

अपने शील और व्रत से च्युत होना निःशील व्रत कहलाता है और वह सब [नरक. तिर्यंच. मनुष्य] आयुषों का बन्ध हेतु है उपरोक्त सूत्र १६-१७-१८ मे उक्तायुषों के जूदे जूदे बन्ध हेतु बताये हैं. तथापि प्रस्तुत सूत्र से तीनों आयुषों का सामान्य बन्ध हेतु बताया गया है. [१] अहिंसा. सत्यादि पांच नियम हैं वे व्रत कहलाते हैं. [२] उनकी पुष्टि के लिये तीन गुण व्रत. चार शिक्षाव्रत और क्रोध लोभादि का त्याग शील कहलाता है इस से विपरीत होना ही निः शील व्रत है और इन बन्ध हेतुओं की तीनों आयुषों में सामान्यता पाई जाती है।

देवायुष्य—[१] अहिंसा. असत्यादि महत् दोषों के विरमण अर्थात् त्याग को संयम कहते हैं. संयम. विरती. व्रत ये सब एकार्थ वाची शब्द हैं. इनका वर्णन अध्याय ७ सूत्र १ से किया जायगा उसके होते हुवे भी कषाय के अंशका जबतक सम्पूर्ण रूपसे अभाव न हो उसको सराग संयम कहतेहैं (२) अहिंसादि व्रतों को यत्किंचित् रूपसे पालन करनेको संयमासंयम कहते है. संयमा

संयम देशविरति, अणुव्रत ये एकार्थ वाची शब्द हैं अतएव देश तथा सर्वव्रतका स्वरूप आगे अध्याय ७ सूत्र २ से कहेंगे, [३] स्वाभाविकता या पराधीनता के कारण भोगवृत्ति से निवृत्त होना या कर्मों के भोग को अकामनिर्जरा कहते हैं [४] बाल तप अर्थात अविवेक या मूढ भाव से जो तपश्चर्या की जाय जैसे अग्नि या जल में प्रवेशकरना या पर्वतपर से गिरना और मिथ्या तपने से की हुई क्रियाओं को बाल तप कहते हैं इत्यादि आश्रव हैं वे देवायुष्य बन्ध हेतु के कारण हैं ।

शुभ तथा अशुभ नाम कर्म के बन्ध हेतु ।

(१) योगवक्रता=मन, वचन, कायकी कुटिलता (२) विसंवाद-अन्यथा प्रवर्तन करना ये अशुभ नाम कर्म के बन्ध हेतु है ।

प्रश्न—उपरोक्त दोनों कारणों में क्या अन्तर है ?

उत्तर—योग वक्रता है वह स्व विषयी है अथात् अपने मन वचन कायकी वक्रतापने प्रवृत्ति करनी और विसंवाद परविषयी है अर्थात दूसरे को उलटे मार्ग प्रेरित करना ।

उपरोक्त कारणों की विपरीतता अर्थात् मन, वचन, कायकी सरलता और यथार्थ प्रवर्तन शुभ नाम कर्मके बन्ध हेतु हैं ।

तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध हेतु ।

(१) दर्शन विशुद्धि-वीतराग के तत्वों पर दृढ रुचि (२) विनयसंपन्न-ज्ञानादि मोक्ष मार्ग और उनके साधनोंका बहुमान (३) शील व्रतादि-अपने नियमोंको निरतिचार (दोषरहित) पने सेवन करना (४) अभिक्ष्ण ज्ञानोपयोग-सदा ज्ञानोपयोग में

रहना (५) संवेग-सांसारिक सुखसे उदासीनभाव (६-७) शक्तितः त्याग, तपस्या यथा शक्ति सुपात्रदान, अभयदान, ज्ञानदानित्यादि त्याग और तपश्चर्या (८-६) चतुर्विधसंघ तथा साधुओंकी समाधि और वैयावृत्य (सेवाशुश्रूषा), (१०-११-१२-१३) अरिहन्त, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन धर्मशास्त्रकी भक्ति (अनुराग). [१४] सामायिकादि छ आवश्यक अपरिहाणि-त्याग का अभाव अर्थात् नित्य सेवन करना [१५] मार्ग प्रभावना-सम्यक् ज्ञानादि मोक्षमार्गके अनुष्ठान, उपदेशादिसे प्रभावना-महिमा प्रकट करनी. [१६] प्रवचन वात्सल्यधर्मके साध्य, साधकोंपर अनुग्रह [उपकार] निष्काम स्नेह रखना इत्यादि कारण तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित करने के बन्ध हेतु है।

नीच गोत्र तथा ऊँच गोत्र कर्म के बन्ध हेतु।

[१] परनिन्दा-दूसरे की निन्दा. [२] आत्मप्रशंसा-अपनी बड़ाई [३] सद्गुणों को आच्छादित करना [ढकना] [४] असद् गुणों को प्रगट करना इत्यादि नीच गोत्र [नीच कुल] के बन्ध हेतु है।

उपरोक्त नीच गोत्र से विपर्य्यय अर्थात् स्व. परनिन्दा, परगुणी जनों की प्रशंसा तथा असद्गुणों का गोपन और सद्गुणोंको प्रकाशित करना. निर्वृत्ति-सब से नम्र भाव. अनुत्सक-ज्ञान. संपत्ति के होते हुवे भी किसीसे गर्वअहंकार न करना ये ऊच्च कुलमें उत्पन्न होने के कारण है।

अन्तराय कर्म के बन्ध हेतु।

किसी के भोग, उपभोगादि वस्तुओं में या दानादि देते हुवे को रोकना अथवा उसमें विघ्न करना अन्तराय कर्म का बन्ध हेतु है।

प्रत्येक मूल कर्म के सपरायिक आस्रव सूत्र ११-से-२६ पर्यन्त पृथक् रूप से कहेगये हैं वे उपलक्षण मात्र हैं अर्थात् सामान्याव बोधकारने के लिये हैं इस के सिवाय अन्य और भी बहुत से आस्रव हैं जिनके नाम यहा नहीं लिखे गये है उनको अपनी बुद्धि द्वारा समझ लेना चाहिये जैसे-आलस्य, प्रमाद, मिथ्योपदेशादि, ज्ञानावरणीय, दर्शना वर्णीय के तथा वध, बधन, ताडतादि अशुभ प्रयोग असातावेदनीय इत्यादि प्रत्येक कर्म के और भी अनेक आस्रव हैं।

प्रश्न—उपरोक्त सूत्रों से प्रत्येक मूल प्रकृति के आस्रव जो पृथक् रूप से कहे गये हैं उन ज्ञान प्रदोषादि आस्रव में मात्र अपने २ ज्ञानावरणीयादि कर्मों का वन्ध होता है कि एक ज्ञान प्रदोष आस्रव से ज्ञानावरणीय कर्म के उपरान्त वह समस्त कर्म बन्धक है? यदि एक कर्म प्रकृति के आस्रव समस्त कर्म प्रकृति के बन्धक हैं ऐसा कहोगे तो पृथक् रूप से आस्रवों का निरुपण करना व्यर्थ है? क्योंकि वह समस्त कर्म प्रकृतियों का बन्धक है और यदि ज्ञाना प्रदोषादि आस्रव अपनी ही प्रकृति के बन्धक है ऐसा कहोगे तो शास्त्रोक्त नियम से विरोध होता है? सब शास्त्रों का मन्तव्य है कि आयुष्य को छोड़ के सात प्रकृतियों का वन्ध प्रति समय हुवा करता है इस नियम के अनुसार ज्ञानावरणीय कर्म बान्धता हुवा शेष छ कर्मों का बन्धक है (आयुष कर्म का बन्ध जीवन भर में एक ही बार होता है और वह एक समयवर्ति है) ऐसा मानते हैं, तो एक समय में एक कर्म प्रकृति का आस्रव एक ही कर्म का बन्धक हो यह शास्त्रीय नियम से बाधित है यहा प्रकृति अनुसार आस्रव करने का क्या हेतु है? और किस उद्देश पर ये विभाग किये गये हैं?

उत्तर—कर्म बन्ध चार प्रकार से होता है (प्रकृति, स्थिति, रस, प्रदेश) इसका सविस्तार वर्णन देखने वालों को कर्मपयडी या कर्मग्रन्थ पहिला पांचवा देखना चाहिये यहां केवल रस बन्ध को उद्देश के ही उक्त विभाग किये गये हैं एक प्रकृति के आस्रव सेवन करते समय अन्य प्रकृतियों का जो बन्ध होता है वह बहुधा प्रदेश बन्ध की अपेक्षा से समझना चाहिये अर्थात् शास्त्रोक्त सात, आठ कर्म का बन्ध जो प्रति समय माना है उसमें प्रायः प्रदेश बन्ध की मुख्यता ही सापेक्षित है और ऐसा मानने से शास्त्रीय नियम को भी बाधा नहीं आती प्रस्तुत आस्रव विभाग और शास्त्रोक्त नियम अबाधित रूप से रह सकते हैं परन्तु यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि अनुभाग अर्थात् रसबन्धा भी आस्रव विभाग का जो समर्थन है उसमें अनुभाग (रस) बन्ध की मुख्यता और शेष प्रकृति, स्थिति, प्रदेश बन्ध की गौणता है और अन्य प्रकृतियों के अनुभाग बन्ध की गौणता रहती है अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म के प्रदोषादि आस्रव सेवन करते समय ज्ञानावरणीय कर्म के अनुभाग (रस) बन्ध की मुख्यता और शेष सात कर्म के रस बन्ध की गौणता रहती है परन्तु यह न समझ लेना चाहिये कि एक समय एक प्रकृति के रस बन्ध होते समय अन्य प्रकृतियों का रस बन्ध नहीं होता उसी समय कषाय द्वारा उन प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध भी संभवित है प्रस्तुत आस्रव विभाग में अनुभाग बन्ध की ही मुख्यता सापेक्ष है।

इति तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त

सप्तम अध्याय।

पूर्व अध्याय ६ठा सूत्र १३ में व्रतिअनुकम्पा और दान ये दो गुण, सातावेदनीयकर्मबन्ध के आश्रव बताये गये हैं अब जैन धर्म में व्रतकी क्या महत्त्वता है और इसको ग्रहण करने वाले कौन हैं तथा दान और व्रत का विशेषरूप से निरूपण इस अध्याय में किया जायगा।

व्रत स्वरूप

हिन्सानृतस्तेया ब्रह्म परिग्रह भ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥

अर्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन्य और परिग्रह से निवृत होने को व्रत कहते हैं ॥१॥

विवेचन—हिंसा, असत्यादि दोषों का विशेषरूप से वर्णन आगे सूत्र ८ से १२ पर्यन्त करेंगे उस निर्दोष त्याग वृत्ति को ही व्रत कहते हैं।

सब व्रतों में अहिंसा ही प्रधान व्रत है इसलिये उसका स्थान भी पहिला है और अन्यव्रत उसकी रक्षा के लिये हैं जैसे-पाक (खेत) की रक्षा के लिये बाड की जरूरत रहती है इसी तरह अहिंसा की रक्षा के लिये वे अत्यावश्यकीय हैं।

निवृत्ति और प्रवृत्ति रूप दो पक्ष से व्रत की परिपूर्णता होती है जैसे-सत्कार्यों में प्रवृत्तमान होने के लिये इसके पहिले ही उस विरोधी असत्कार्यों से स्वयमेव निवृति भाव को प्राप्त होता है और जब असत्कार्यों की निवृत्ति होती है तब सत्कार्यों की प्रवृत्ति

स्वयमेव हो जाती है परन्तु यहां स्पष्ट रीति से दोषों की निवृत्ति को ही व्रत माना है तथापि उसमें सत प्रवृत्ति का अंश आ जाता है व्रत अर्थात् इससे मात्र निष्क्रियता न समझ लेनी चाहिये।

प्रश्न—रात्रि भोजन विरमण भी प्रसिद्ध रूप से व्रत के समान माना जाता है उसको सूत्रकार ने क्यों नहीं कहा?

उत्तर—रात्रि भोजन विरमण भी पृथक् रूप से व्रत के समान बहुत काल से प्रसिद्ध है। तथापि वास्तविक रूप से वह मूलव्रत नहीं है केवल मूलव्रत निष्पन्न एक आवश्यक व्रत है। ऐसी कल्पनाएं अनेक हो सकती हैं। प्रस्तुत सूत्रकारका ध्येय केवल मूलव्रत निरूपण विषयी है। इसीलिये अवान्तरव्रत मूलव्रतोंमें व्यापक रूप है।

प्रश्न—अंधेरे में दृष्टिगोचर न होने से और दीपक के लिये विविधारंभ प्रवृति होनेसे रात्रीभोजनको हिंसाका अंग मानकर उसके विरमणको अहिंसा व्रत का अंग माना है परन्तु जिसमें उपरोक्त कारणों का प्रसंग ही प्राप्त नहीं जैसे-ठंडा देश या विजलीके दीपकका प्रकाश इत्यादि सहायकहो तो रात्रि और दिवसके भोजनमें क्या न्यूनाधिक पना है?

उत्तर—उष्णप्रधान देश और प्राचीन काल के दीपक के प्रकाश से स्पष्ट रूपसे दिखती हुई हिंसाकी दृष्टिसे ही दिवस भोजनसे रात्री भोजनको विशेष हिंसा प्रद माना है। यह सर्वमान्यहै तथापि किसी अवस्थामें यदि दिन के समान रात्रिभोजनमें भी हिंसा का प्रसंग नहीं दिखता परन्तु समुच्चय दृष्टिसे अथवा खासकरके त्याग जीवनकी दृष्टिसे रात्रिभोजनके बनिस्बत दिनको भोजनकरना विशेष प्रशस्तहै तथा इसमें और भी कई कारण है जैसेः—

(१) आरोग्य दृष्टि से विजली, चन्द्रमादि का प्रकाश कितना

ही स्वच्छ क्यों नहो तथापि सूर्य के प्रकाश के समान सर्वत्र आरो ग्यप्रद नहीं हो सक्ता इसीलिये आरोग्य दृष्टिसे सूर्य के प्रकाश का ही उपयोग विशेषरूपसे स्वीकार करना चाहिये।

(२) त्याग धर्म का पाया सन्तोष पर है, और त्याग जीवनवाले जब दिनकी सब प्रवृत्तिया से निवृत्त होतेहै, उस समय सतोषके साथ भोजन प्रवृत्ति से शान्त होना चाहिये इससे जठराग्नि प्रबल रहती है। नींद अच्छी तरहसे आती है। और ब्रह्मचर्य पालनेवाले को यह नियम अति आवश्यकीय है इससे इन्द्रियों उत्तेजित नहीं होती तथा आरोग्य वर्धक है। त्यागजीवी महत् पुरुषोंके जीवन के इतिहाससे भी यही प्रगट होता है और वे दिनके भोजनको ही पसन्द करतेहैं ॥ १ ॥

व्रत के भेद

देश सर्वतोऽणु महती ॥ २ ॥

अर्थ—अल्पांश विरतिको अणुव्रत कहते है और सर्वांश विर तिको महाव्रत कहते हैं ॥ २ ॥

विवेचन—दोषों से निवृत्त होना त्यागवुद्धिवालों का ध्येय है, तथापि सबकी त्यागवृत्ति एकसी नहीं होती यह उनके विकाशक्रम की स्वाधीनता पर निर्भर है। सूत्रकार का उद्देश हिंसादि प्रवृत्ति यों से न्यूनाधिक रूप में भी निवृत्ति होनेवालों को विरती मान के उनके दो विभाग किये है।

(१) उपरोक्त हिंसा असत्यादि पाच दोषों (पापों) को मन, वचन, काय से सर्वथा न करना, न कराना, न करने को अनुमति देना इसको महाव्रत कहते हैं।

(२) उक्त पापों से किसी एक अंश मात्र निवृत होना देश विरति को अणुव्रत कहते हैं।

व्रतों की भावनायें।

तत्स्थैर्यार्थ भावनाः पंच पंच ॥ ३ ॥

अर्थ—उन व्रतों की स्थिरता के लिये प्रत्येक व्रतकी पांच पांच भावनायें है।

विवेचन—उक्त हिंसादि पांच व्रतों की स्थिरता (दृढता) के लिये प्रत्येक व्रत की पांच पांच भावनायें होती हैं. जैसे रोगी को औषधके सिवाय पथ्य भी अति आवश्यकीय है वैसे ही विरती को भावनायें अनुकरणीय हैं व्रत की अनुकूलता के लिये स्थूल दृष्टि से जो मुख्य २ प्रवृत्तियां वताई हैं वे ही भावना के नाम से प्रसिद्ध हैं उनमें प्रयत्नशील होने से विरती की सुशीलता और व्रत यथेष्ट परिणामी होते हे जैसे—

(१) इर्या समिति (२) मनोगुप्ति (३) एषणा सुमति (४) आदाननिक्षेपणा सुमति, (५) आलोकित पान भोज ये पांच भावनायें अहिंसाव्रत की हैं।

(१) अनुवीचिभाषण=अनिंद्य भाषण (२) क्रोधप्रत्याख्यान (३) लोभ प्रत्याख्यान (४) निर्भयता, (५) हास्य का अभाव ये सत्यव्रत की भावनायें हैं।

(१) अनुवीचि-अवग्रह याचना (अविद्य पदार्थ ग्रहण याचन) (२) अभिक्षण-वारंवार. अवग्रह याचना (३) अवग्रहावधारण, नियमपूर्वक ग्रहण (४) समान धर्मी, अवग्रह याचन, (५) अनुज्ञा-

यित-आज्ञादिये हुए पदार्थों का पान भोजन ये अचौर्य व्रत की भावनायें हैं।

(१) स्त्री, पशु, नपुसक से या सपर्कित आसन, शयन का विवर्जन, (२) राग युक्त स्त्रीकथा, वजन, (३) स्त्रियों की मनोज्ञ इन्द्रिया (अगोपाग) के दर्शनका निषेध, (४) पूर्व कृत भोग विलासादि के स्मरण का निषध, (५) अति पुष्टिकारक या कामोत्पादक भोजन निषेध ये पाच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनायें हैं।

मनोज्ञ, अमनोज्ञ (१) स्पर्श, (२) रस (३) गध (४) वर्ण (५) शब्द विषे समभाव रखना अर्थात् हर्ष, विषाद न करना यह अकिंचन-अपरिग्रह व्रत की भावनायें हैं।

प्रत्येक भावना का विशेष रूप से वर्णन।

पहिले व्रत की भावनायें। स्व, परको क्लेश या कष्ट न हो ऐसी यत्नापूर्वक गमन करना इर्यासमिति मनको अशुभध्यान से रोकके शुभध्यानमें लगाना, मनोगुप्ति। वस्तुका गवेषण, ग्रहण औरउपयोग सावचेतीके साथ उपयोग सहित करना एषणा समिति वस्तु को उठाते और रखते समय यत्नापूर्वक अवलोकन, प्रमार्जनादि करना—आदन निक्षेपण समिति। अन्नपानादि भोजनसामग्री को यत्नापूर्वक अवलोकन करके भोगोपभोग करना-अलोकित पान भोजन।

दूसरे व्रत की भावनायें। विचार पूर्वक बोलना-अनुवीचिभाषण। शेष क्रोध, लोभ, भय हास्य का अनुक्रम से त्याग करना

तीसरे व्रत की भावनायें। (१) जरूरत के माफिक कोई भी वस्तु उपयोग सहित मगाकरलेना अनुवीचि अवग्रह-याचना या मकान पाट पाटलादि प्रत्येक वस्तुके स्वामी यदि पृथक २ हो तो

सबसे यथोचित् याचना करके वस्तु ग्रहण करनी। (२) की हुई वापस वस्तु यदि रोगादि वा अन्य किसी कारण विशेषसे जरूरत होतो वारंवार मांगकर लेनी परन्तु यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि उसके स्वामी (मालिक) को किसी भी प्रकार का क्लेश नो उत्पन्न नहीं होता है-अभिक्षण अवग्रह। (३) याचना करते समय वस्तुकी मर्यादा वा यथोचित नियम प्रकाशित करके ग्रहण करना अवग्रहावधारण। (४) अपने समान धर्म वालों ने किसीसे कोई वस्तु याचना करके ली हो और उसकी जरूरत पड़े तो समान धर्म वाले से याचना करके लेनी। (५) विधिपूर्वक ग्रहण किये अन्नपानादि को गुरु समक्ष रखकर उनकी अनुज्ञासे उपयोग करना—अनुज्ञापित पान भोजन।

चौथेव्रत की भावनायें (१) ब्रह्मचारी पुरुष वा स्त्री को अपने विजातीय व्यक्ति द्वारा सेवन किये हुए आसन शयनका त्याग। (२) काम वर्धक कथाओं का त्याग। (३) कामोद्दीपक अंगोपांग अवलोकनका त्याग। पहिले सेवन किये हुए रतिविलादि भोगोंके स्मरणका त्याग।

पांचवे अपरिग्रह व्रत की भावनायें। पांचो इन्द्रियों को इष्ट मनोज्ञ वा अभिलषित स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्दादि वस्तु की प्राप्ति समय राग वा लोलुपता और अप्राप्ति समय द्वेषादि भावना का त्याग।

त्याग धर्मके विषय जैन संघके महाव्रतधारी साधुओं का स्थान सबसे पहिला और उच्च कोटिका है उसी उद्देश को आगे करके प्रस्तुत भावनाये वर्णन की गई हैं तथापि व्रतधारी अपनी भूमिकाके अनुसार अथवा देशकाल, परिस्थिति वा आन्तरिक योग्यताकी तरफ ध्यानरखता हुआ मात्रव्रतकी स्थिरता वा शुद्धिके लिये उन भावनाओं का संकोच विकास वा न्यूनाधिक

रूप में पल्लवित कर सकता है ॥३॥

अन्य भावनाये।

हिन्सादिष्विहामुत्र चा पायावद्यदर्शनम् ॥ ४ ॥
दुःखमेववा ॥ ५ ॥
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि स्तव गुणाधिक क्लिश्य
माना विनेयेषु ॥ ६ ॥
जगत्का यस्य भावौ च सवेग वैराग्यार्थम् ॥ ७ ॥

अर्थ—हिंसादि पाचों को इहलोक तथा पारलौकिक अपाय (श्रेयस्कर कार्यों के नाश का प्रयोग) अवद्य (निंदा कारक) समझे उसको दर्शन भावना कहते हैं ॥ ४ ॥

अथवा हिंसादि पापों से दु ख ही दु ख है ऐसी भावना रक्खे है ॥ ५॥

प्राणी मात्र में मैत्री भावना, गुणाधिक में प्रमोद भावना दु खी जनों पर करुणाभावना, अविनयेषु अर्थात् अपात्रोंमें मध्यस्थ्य भावना रखनी चाहिये ॥ ६ ॥

सवेग तथा वैराग्यकी प्राप्ति के लिये जगत् स्वभाव और काय (शरीर) स्वभावोंकी भावनायें करनी चाहिये ॥ ७ ॥

विवेचन—जिसका त्याग किया जाय उसके दोषों का दिग् दर्शन वास्तविक रीति से हो तव यह त्याग वृत्ति अवस्थित रूप से रहसकती है इसलिये अहिंसादि व्रतों की स्थिरता के वास्ते हिंसादि दोषोंको समझना अति आवश्यकीय है और सूत्रकार उसकी दो प्रकारसे व्याख्या करके समझाते है। (१) ऐहिक दर्शन,

पारलौकिक दर्शन अर्थात् हिंसा असत्यादि सेवन करने से इहलोक में जो आपत्तियां स्व. पर विषय अनुभव होतीहैं उसके तरफ सदा लक्ष रखना उसे ऐहिक दर्शन कहते हैं और, मरने पर नर्क तिर्यंचादि के अनिष्ट दुःखोंके प्राप्तिकी संभावना करनी उसे पारलौकिक दर्शन कहतेहैं अर्थात् हिंसादि दुःकर्मोंके समारंभसे उभय लोकमें निन्दित और दुखी होता है इस दृष्टि को सदैव सन्मुख रखनेवाला अहिंसादि व्रतोंका यथोचित पालन कर सकता है और वही अपने नियमों पर अटल रह सकताहै व्रतकी स्थिरता के लिये उक्त भावनायें उपयोगी हैं ॥ ४ ॥

(दुःख मेवा) अर्थात् हिंसादि प्रवृत्तिसे दुःख ही दुःख समझे जैसे—अपने पर किये हुए हिंसा असत्यादि दुष्ट प्रयोगोंसे दुःख क्लेशादि उत्पन्न होना है, वैसे ही सब प्राणियोंको दुःख रूप समझके हिंसादि प्रवृति का त्याग करे.—

प्रश्न—हिंसादिके समान मैथुन इंद्रियों को दुःख नहीं है? उसके द्वारा इंद्रियों का सुख होना है।

उत्तर—यह सोचना अनुचित है जैसे—दाद या खुजली की खुजलाहट को खुजलाते समय रोगीको अच्छा मालूम होता है परन्तु परिणाम उसका दुःख रूपहै इसी तरह मैथुन भी राग द्वेष रूप व्याधिको बढ़ानेवाला है इंद्रिय लोलपी उसे सुख रूप मानते हैं वास्तविक में वह दुःख रूपहीहै इसी तरह परिग्रह भी तृष्णा रूप व्याधि ग्रस्त होनेसे त्याज्य ही है। इस प्रकार दुःख ही दुःख की भावना करनेसे व्रती की व्रतमें स्थिरता रहती है ॥ ५ ॥

मैत्री, प्रमोदादि चार भावनायें सद्गुणोंकी वृद्धिके लिये अति उपयोगी है इसहेतु हिंसादि व्रतों की स्थिरता के लिये वे अति आवश्यकीय होनेसे उसका पृथक् रूप से वर्णन किया है वे व्रतके सहायक रूप हैं।

(१) सब प्राणियों पर मैत्री भावना रखने से ही उक्त व्रतों मे कुशलता पूर्वक वास्तविक रीति से रह सकता है।

(२) अपने से अधिक गुणवान का सत्कार या गुणानुवाद करना ही प्रमोद भावना है उनकी ईर्ष्याकरनेसे व्रतका नाश होता है और आदर सत्कारसे अपने गुणों की वृद्धि होती है इसलिये व्रति को उक्त भावनायें आदरणीय हैं यह भावना व्रत को पोषण करने वाली है।

(३) क्लिश्यमानदु:खी जनों पर अनुकम्पा, दया व हित बुद्धि रखना उसको करुणा भावना कहतेहैं दुखी जनों पर अनुग्रह करनेसे व्रत उज्ज्वल होता है।

(४) प्रत्येक समय केवल प्रवृत्त्यात्मक ईर्यासमिति से यावत् करुणा) भावनाय साधक रूप नहीं हो सक्ती अहिंसादि व्रतों को स्थिर रखनेके लिये किसी समय मध्यस्थ भावना भी उपयोगी है अविनय अयोगपात्र, अथवा जड़ संस्कार जिन में सद्वस्तु ग्रहण करने की योग्यता ही नहीं ऐसे पात्रों में मध्यस्त भावना है कारण बिल्कुल शून्य हृदयवाला काष्ठ या चित्र के समान उपदेशादि ग्रहण धारण करनेके लिये असमर्थहै ऐसे जीवों को उपदेश देनेसे वक्ता के हितोपदेशकी सफलता नहीं होती इसलिये उनपर उदासीनता मध्यस्थता या तटस्थ बुद्धि रखना ही श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

संवेग और वैराग्य ही अहिंसादि व्रतों की भूमिका है जैसे चित्र भूमिका की योग्यताके अनुसार चित्रित कियेजाते है और उसी योग्यता के अनुसार वे अवस्थित भी रहते है, इसी तरह अहिंसादि व्रतोंकी स्थिरता संवेग, वैराग्यकी योग्यता पर निर्भर है। ससार से भीरुता आरभ, परिग्रहादिमें अरुचि, धर्म से बहुमान या उत्पादव्यय ध्रुव युक्तसत् इत्यादि जानना सवेगहै अथात् जगत् स्वभाव की भावना सवेगहै और शरीर स्वभाव की भावना वैराग्य

है। शरीर को नाशवान समझ के उनके भोगोंसे शान्त होकर अभ्यन्तर क्रोधादि विषयों के परित्याग को वैराग्य कहते हैं ॥४-७॥

हिंसा का स्वरूप।

प्रमतयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ ८ ॥

अर्थ—प्रमतयोग से होने वाले प्राणवध को हिंसा कहते हैं ॥८॥

विवेचन—अहिंसादि पांच व्रतों का निरूपण पूर्व कर आये हैं। उन व्रतों का प्रतिपालन जब तक हम हिंसा के स्वरूप को वास्तविक रीति से न समझले तब तक होना अति कठिनहै इसलिये उन व्रतों के प्रतिपक्षिहिंसा असत्यादि दोषों को यथाक्रम समझाते हैं।

हिंसा की व्याख्या कारण कार्य रूप दो अंशों से करते हैं प्रमतयोग-राग द्वेष वा असावधान प्रवृत्ति कारण है और हिंसा कार्य रूप है। तात्पर्य यह है कि प्रमतयोग से होने वाले प्राणवध को हिंसा कहते हैं।

प्रश्न—प्राणियों को कष्ट पहुंचाना या वध करना यह हिंसा का अर्थ स्पष्ट रूप से प्रसिद्ध ही है तथापि उसमें प्रमतयोग का प्रक्षेप क्यों किया ?

उत्तर—जब तक मनुष्य समाज संस्कार विचार और वर्तन उच्च कोटि के नहीं है तब तक पशु पक्षी आदि अन्य प्राणियों में और उनमें कोई अन्तर नहीं वे हिंसा के स्वरूप को विना समझे विचारे हिंसा को हिंसा न मान कर उस प्रवृति में तत्पर रहते हैं यह मानव समाज की प्राथमिक दशा जब उत्तरावस्था के सन्मुख होके विचार श्रेण्यारूढ़ होती है उस समय वह अपने विचारों को मथन करता हुआ पूर्व संस्कार और अहिंसा की नवीन भावना से टकराता हुआ अर्थात् एक तरफ हिंसावृत्ति और दूसरी तरफ हिंसा निषेध विषयी अनेक प्रकार के प्रश्न उठाते हैं जैसे—

(१) अहिंसा पक्षपाती भी जीवन धारण करते हैं और जीवन निर्वाह के लिये किसी न किसी प्रकार की जीवहिंसा अवश्य करनी पड़ती है विना हिंसा के जीवन निर्वाह नहीं होता तो यह हिंसा हिंसा दोष में है या नहीं ?

(२) भूल और अज्ञान मानुषी वृत्ति से कदापि नहीं होते ऐसी केवल्यावस्था को जब तक असम्प्राप्त है, तब तक अहिंसावृत्ति के पक्षपातियों से भी भूल अज्ञान या अन्य किसी भी कारण से हिंसा होना सम्भव है तो वह प्राणनाशक हिंसा, हिंसा दोष में सम्मिलित है या नहीं ?

(३) कई बार देखा गया है कि अहिंसकवृत्ति वाले किसी प्राण धारी को बचाने के लिये या उसके अनुकूल सुखादि पहुचाने का प्रयत्न करते हुए भी किसी समय उसका परिणाम उस जीवधारी को प्रतिकूल प्राणनाशक रूप हो जाता है ऐसी अवस्था में वह हिंसा क्या अहिंसा दोष में शामिल होगी ? इत्यादि प्रश्न सन्मुख उपस्थित होते हैं उस समय वह हिंसा अहिंसा के स्वरूप की गह राई में उतर कर अनेक गोते खाते हैं, कोई यह निश्चय कर बैठते हैं कि प्राणियों के प्राणों का वध करना, या दुःख देना हिंसा है और किसी का प्राणवध न करना और दुःख न देना अहिंसा है, परन्तु वास्तविक रूप से वह हिंसा, अहिंसा और भी विचारणीय है मात्र प्राणवध या प्राणरक्षा को ही हिंसा अहिंसा नहीं कह सकते इसके लिये उक्त भावनायें भी विचारणीय हैं उनको सन्मुख रखने से ही हिंसा के दोष अदोष का निर्णय हो सकता है और वे भाव नायें राग द्वेष की विविध धाराओं से प्रवाहित होती है उसको शास्त्रीय भाषा में प्रमाद कहते हैं ऐसी अशुभ और क्षुद्र भावना से जो प्राणनाश होता हो या किसी को दुःख उपार्जित किया हो

वहीं हिंसा दोष रूप है इसको स्पष्ट करने के लिये ही सूत्रकार ने प्रमतयोग की महत्वता बताई है और हिंसा अहिंसा की भित्ती का निर्माण भी इसी प्रमतयोग पर है।

प्रश्न—प्रमोत के विना यदि प्राणवध हो वह हिंसा दोप रूप है या नहीं? और यदि प्राणवध नहीं भी होता है तथापि वह प्रमत-योग में प्रवर्तमान है तो उसे क्या हिंसा का दोप लगता है?

उत्तर—अन्य दार्शनिकों के समान जैनदर्शन एकान्त नहीं है वह प्रत्येक वस्तु को स्याद्वाद रूप अनेकान्त दृष्टि से देखता (मानता) है इसलिये जैन शास्त्रकारों ने हिसा के मुख्य दो भाग किये हैं एक द्रव्य हिंसा जिसको व्यवहार हिंसा भी कहते हैं दूसरी भाव हिंसा जिसको निश्चय हिंसा कहते हैं प्राण वध करना स्थूल दृष्टि से हिंसा तो है ही परन्तु उसमे प्रमतयोग सूक्ष्म दृष्टि अदृश्य-रूप लगी हुई है अब इसमें जानने योग्य बात यह है कि हिंसा के दोष.दोप का आधार एकान्त रूप से केवल दृश्यमान हिंसा पर अवलम्बित नहीं है वह हिंसक की भावना की स्वाधीनता पर है इसलिये अनिष्ट भावना से की हुई हिंसा दोप रूप है अन्यथा उसे दोपरूप नहीं मानते। शास्त्रीय परिभाषा में उसे द्रव्यहिंसा और भाव हिंसा अथवा व्यवहार हिंसा तथा निश्चयहिंसा कहते हैं जिसमें हिंसा का दोप अबाधित (निश्चय रूप) न हो उसको द्रव्य हिंसा कहते हैं और इसी से विपरीत अर्थात् निश्चयात्मक दोष लगता हो उसको भाव हिंसा कहते हैं और वह होप रूप है राग द्वेष वा असावधान प्रवृत्ति को ही शास्त्रीय परिभाषा मे प्रमतयोग कहा है और हिंसा के दोप का आधार उसी पर है जैसे किसी का प्राणनाश न हुआ हो दुःख भी न पहुंचा हो यदि उस अनिष्ट प्रयोग से सुख की प्राप्ति भी हो गई हो तथापि उस हिंसक की अशुभ भावना के कारण शास्त्रकार उसको भाव हिंसा

कहते हैं वह प्रमतयोग जनित प्राणवधरूप हिंसा की कोटि से सम्मिलित है मात्र प्राणनाश रूप हिंसा इस कोटि में नहीं आ सकती। भाव हिंसा का अर्थ यही है कि जिसमें दोष का स्वाधीन पना हो वह तीनों काल म अबाधित रहती है तीनों काल का कोई यह मतलब न समझले कि वह हिंसा दोष, भूत, भविष्य वर्तमान तीनों जन्म में अबाधित रूप से रहता हो क्योंकि प्रसन्नचन्द राज ऋषि ने ध्यानस्था अवस्था में प्रमतयोग से ही सप्तमी नरक के दलिये 'कर्मों के पुद्‌गल' इकट्ठे कर लिये थे परन्तु उन्हींने उसी अवस्था में उसी जगह पर खड़े खड़े केवल ज्ञान भी प्राप्त कर लिया यहा तीनों काल के कहने का तात्पर्य यह है कि काल की सूक्ष्मावस्था एक समय की है और जो कर्म, वतमान, प्रथम, समय बंधता है वह यदि तीन समय भी अबाधित रूप से रहे तो वह त्रिकालवर्ती कहा जा सकता है और प्रमतयोग से, बन्धे हुए कर्म की स्थिति कम से कम असख्यात समय की है। इस अपेक्षा से उस त्रैकालिक भी कह सकते हैं केवली को प्रमतयोग नहीं होता वे अप्रमत हैं बिना प्रमतयोग अर्थात् केवली से हुई हिंसा, हिंसा रूप नहीं मानी उनको कर्मों का बन्ध है वह मात्र एक समय की स्थिति का है इसलिये वह तीनों काल में अबाधित नहीं रहता।

प्रश्न—हिंसाके दोषोंका मूल यदि प्रमतयोग ही है तो उसके साथ "प्राणव्यपरोपणम्" अर्थात् प्राणनाश यह शब्द क्यों रक्खा?

उत्तर—वास्तविक प्रमतयोग ही हिंसाहै परन्तु सर्व साधारण के लिये उसकी त्यागवृत्ति अशक्यहोतीहै इस हेतुसे अहिंसा विकास क्रमके लिये स्थूल प्राण नाश का त्याग प्रथम स्थानमाना है तत् पश्चात् यथा क्रम प्रमतयोग का त्याग जनसमुदायमें सम्भवित है प्रमतयोगका त्याग न होते हुवे भी यदि प्राणनाशवृत्ति न्यूनहोतो उससे जीवन शान्तियम होता है, और जन समाज के लिये यह

इष्ट और हितवाह है मुख्यतया अध्यात्मविकासके साधकों को प्रमत योगरूप हिंसा का ही त्याग इष्टहै. तथापि समुदायक जीवन दृष्टिसे प्राणनाशरूप हिंसाके त्यागको ही अहिंसा की कोटिमें रक्खा है। यदि प्रमतयोग वा प्राण वध ये दोनों पृथक २ करदिये जांय तो उन दोषों का तारतम्यत्व भाव उपरोक्त व्याख्यासे स्पष्ट ही है।

प्रश्न—हिंसा से निवृत होना अहिंसा है. परन्तु अहिंसाव्रत धारी को जीवन विकास के लिये कौन २ से कर्तव्य करने चाहिये?

उत्तर—आरंभ. परिग्रह कम करता हुआ जीवन शान्तिमय रक्खे। ज्ञानाभ्यासके लिये पुरुषार्थ के अनुसार सदा तत्पर रहे। सरलता पूर्वक रागद्वेष तृष्णा और कार्याकार्य की विचारणा करके उसके सुधार का यत्न करें।

प्रश्न—हिंसादोषसे आत्मा पर कैसा असर होता है?

उत्तर—चित्त से कोमलता नष्ट होके क्रूरता बढ़ती है स्वभावतः हृदय करोर हो जाता है ॥ ८ ॥

असत्य का स्वरूप।

असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥

अर्थ—असत्य बोलने को अनृत्व कहते हैं ॥ ९ ॥

विवेचन—असत् पद सभ्दाव निषेधक है सूत्रकारने असत्य कथन को ही असत्य कहाहै तथापि उसमें असत्य चिन्तवन, असत्यकथन,असत्याचरण इत्यादि असत्य दोषों का समावेश होताहै। हिंसा दोषकी व्याख्याके समान असत्य अदत्तादानादि दोषों की व्याख्या भी प्रमतयोग पूर्वक समझनी चाहिये इससे फलितार्थ यह होताहै कि प्रमतयोग वालोंमें ही असत्य दोष संभवित है अप्रमत योगी को असत्य दोष का स्पर्श मात्र भी नहीं है।

असत्य दोष मुख्य दो विभागों में विभाजित किया गया है। (१) अस्तित्व (सद्भाव) रूप होते हुए भी वस्तु का निषेध करना या उसकी अन्यथा रूप से प्ररुपण करनी, (२) सत्य बोलने पर भी यदि किसीको, दुःख या दुर्भाव होताहो वह असत्य ही है।

असत्य के त्यागी (सत्यव्रतधारी) को चाहिये कि वे (१) प्रमतयोग का त्याग करे (२) मन, वचन, काय प्रवृत्ति को एकता रूपसे साधे, (३) सत्य भी यदि दुर्भाव और अप्रियजन्यहोतो उसका कथन, चिन्तवन न करे।

चोरी का स्वरूप।

अदत्तदान स्तेयम् ॥ १० ॥

अर्थ—विना दी हुई वस्तुके ग्रहणको स्तेय अर्थात् चोरी कहते है ॥ १० ॥

विवेचन—तृण मात्र तुच्छ वस्तु भी मालक से विना मागे ग्रहणकरना चोरीहै इस मत के ग्रहण करने वालेको ?ाऽस्या वृत्ति ?रकरके इच्छित् वस्तुको न्याय पूर्वक ग्रहण करनी चाहिये। दूसरे की वस्तु विनाआज्ञा उठानेका विचार तक भी न करे ॥ १० ॥

अब्रह्मचार्य स्वरूप।

मैथुनमब्रह्म ॥ ११ ॥

अर्थ—मैथुन वृत्ति को अब्रह्म कहते हैं ॥ ११ ॥

विवेचन—अथवा स्त्री पुरुष की अभिलाषा पुरुष स्त्री की अभि लाषा। पुरुष, पुरुष। या स्त्री, स्त्री यह भी सजातीय (मनुष्य मनु ष्य जाति) विजातीय (मनुष्य पशु जाति) से काम रागके आवेश

से मानसिक, वाचिक, कायिक, प्रवृत्ति को मैथुन्य कहते हैं वा किसी जड़ वस्तु तथा स्वहस्तादि अवयवोंसे किये हुवे मिथ्याचरण (कुचेष्टा) भी अब्रह्मचर्य ही है।

मैथुन प्रवृत्ति के अनुसरणसे सद्‌गुणोंका नाश और असद्‌गुणों की सहसा अभिवृद्धि होती है इसीलिये इसको अब्रह्म कहते हैं।

परिग्रह स्वरूप

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १२ ॥

अर्थ—मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं ॥ १२ ॥

विवेचन—वस्तु छोटी वा बड़ी, जड़ वा चैतन्य, बाह्य, अभ्यन्तर किसी भी प्रकार की प्रत्यक्ष रूपसे हो वा न भी हो परन्तु उसकी ओर आशक्त होके विवेक शून्य होना ही परिग्रहहै। इच्छा, प्रार्थना काम, अभिलाषा परिग्रह तथा मूर्छा ये समानार्थक शब्द हैं।

प्रश्न—हिंसासे परिग्रह पर्यन्त पांचों दोषोंका स्वरूप बाह्यदृष्टि से पृथकरूप है परन्तु वास्तविक अभ्यन्तर दृष्टि से विचार पूर्वक गवेषणा की जायतो कोई विशेषता नहीं जान पड़ती कारण उक्त पांचोंव्रतों के दोषों का आधार मात्र राग द्वेष और मोह ही है यही विष वेली है राग द्वेष ही दोष है इतना कहना बस था? वह न कह के हिंसादि दोषोंकी संख्या पांच या न्यूनाधिक रूपसे जो बताई गई है उसका क्या कारण?

उत्तर—राग द्वेष ही मुख्य दोष हैं, इससे विराम या विमुख होना ही एक यथार्थव्रत है तथापि इसके त्याग वृत्तिका उपदेशदेना हो उस समय उन राग द्वेषादि से होने वाली प्रवृत्तियां के समझाने से ही उसका त्याग होसकता है राग द्वेपसे होनेवाली प्रवृत्तियां असंख्याती हैं, तथापि उनमें हिंसादि प्रवृत्तियां मुख्यरूप होने से

और जन समुदायको सरलतापूर्वक बोध कराने के लिये उक्तभेदों का वर्णन किया है उसमें भी मुख्यतया रागद्वेषका त्याग ही सूचित है हिंसा दोष की विशाल व्याख्या में शेष असत्यादि दोषों का भी समावेश होजाते हैं इसी तरह असत्यादि किसी एक दोष की सविस्तार व्याख्या में शेष दोषों का भी समावेश होता है इसी तरह अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य सन्तोषादि किसी एक धर्मको ही मानने वाले अपने माने हुवे धर्म में शेष दोषोंको घटा लेतेहैं।

व्रती की योग्यता

निःशल्यो व्रती ॥ १३ ॥

अर्थ—शल्य से रहित हो वह व्रती ॥ १३ ॥

विवेचन—अहिंसा, सत्यादि व्रत ग्रहणमात्र से ही व्रती नहींहो सकता व्रती होनेकी योग्यताके लिये सबसे पहली बात कौनसी है उसीको शास्त्रकार प्रस्तुत सूत्र द्वारा प्रकाशित करते हैं "निःशल्यो व्रती" अर्थात् शल्यका त्याग करना व्रतीके लिये सबसे पहली शर्त है मायाशल्य, निन्दाशल्य, मिथ्या दर्शन शल्य इन तीनों प्रकारके शल्यों से जो रहित है वही यथार्थ रूपसे व्रतोंका पालन करसकता है शल्य रहते हुए व्रत पालने में एकाग्र नहीं हो सकता जैसे— शरीरके किसी एक भागमें कांटा चुभजाने से वह शरीर और मन को अस्वस्थ करके आत्माको एकाग्र नहीं होने देता। इसी तरह शल्य मनको स्थिर नहीं होने देता व्रती को शल्यका त्याग करना पहिली भूमिका है।

व्रती के भेद

अगार्यनगारश्च ॥ १४ ॥

अर्थ—व्रती के दो भेद हैं (१) आगारी (२) अनगारी ॥१४॥

विवेचन—व्रत लेनेवाले की योग्यता एक सरीखी नहीं होती. इसलिये योग्यता की तारतम्यता के अनुसार यहां के व्रतके मुख्य दो भेद प्रतिपादन किये हैं. आगारी और अनगारी. आगारी का अर्थ है गृहस्थ जिसका घरके साथ सम्बन्ध हो उसको आगारी कहते हैं। घरके साथ सम्बन्ध नहीं वह अनगारी त्यागी, श्रमण. मुनि। परन्तु यहां इसका अर्थ लिया गया है कि जो विषय तृष्णा सहित हो वह आगारी और जो विषय तृष्णासे रहित हो वह अनगारी इससे फलितार्थ यह होता है कि गृह सम्बन्ध रखते हुवे भी यदि विषय तृष्णासे विमुख हो वह अनगारी ही है और जंगल में निवास करते हुवे भी यदि विषय तृष्णा सहित है तो वह आगारी ही है आगारी अनगारी का वास्तविक स्वरूप यही है. और इसीके आधारपर ही मुख्य दो भेद किये गये हैं.

प्रश्न—विषय तृष्णा होने से यदि आगारी है तो उसको व्रती कैसे कहसकते हैं ?

उत्तर—स्थूलदृष्टिसे मनुष्य अपने घरमें या किसी नियत स्थान में रहताहै परन्तु किसी अपेक्षासे वह अमुक शहरमें रहताहै. ऐसे भी व्यवहार किया जाता है इसी तरह विषय तृष्णा होते हुवे भी अल्पांश व्रतसे सम्बन्ध रखता है इसीलिये व्रती भी कहते हैं।

आगारी व्रती का वर्णन

अणुव्रतोगारी ॥१५॥

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक पोषधोपवासोपभोगपरिभोग परिमाणा तिथि संविभाग व्रत सम्पन्नश्च ॥१६॥

मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता ॥ १७ ॥

अर्थ— अणुव्रत धारी को आगारी कहते हैं ॥१५॥ वे दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थ दंड, सामायिक, पोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण, और अतिथिसंविभाग व्रतों से सपन्न (युक्त) होते हैं ॥१६॥ मरणान्तिक संलेषणा के आराधक भी होते हैं ॥१७॥

विवेचन—यदि अहिंसादि व्रतों को संपूर्ण रूप से स्वीकार करने के लिये असमर्थ है तथापि त्यागव्रतों की भावना वालों को गृहस्थी मर्यादा में रहते हुये अपनी त्यागवृत्ती के अनुसार व्रतों को अल्पांश स्वीकार कर सकते हैं वे गृहस्थ अणुव्रतधारी (श्रावक) कहलाते हैं।

जो व्रत सम्पूर्ण रूप से ग्रहण किये जाते हैं। उन्हें महाव्रत कहते हैं और पूर्णता के कारण उसमें तारतम्य भाव नहीं है अल्पांश की विविधता के कारण यह प्रतिज्ञा अनेक रूप से मानी गई है प्रत्येक अनुव्रत की व्याख्या यदि करणयोग और उसके भंगों से की जाय तो बहुत विस्तार होता है परन्तु यहा सूत्रकार ने सामान्य रीति से गृहस्थ के लिये अहिंसादि व्रतों को एक एक रूप से वर्णन किया है पाच अणुव्रत त्याग की पहिली भूमिका होने से वे मूलगुणव्रत, कहलाते हैं और इनकी रक्षा पुष्टी या शुद्धि के लिये गृहस्थ अन्य और भी व्रत स्वीकार करते हैं उन्हें उत्तर गुणव्रत कहते हैं उत्तर गुणव्रतों की संख्या सामान्य रूप से यहा सात बताई है।

सामान्यत भगवान् महावीरस्वामी की परम्परा में अणुव्रतों की संख्या पाच ही मानी गई है उसके क्रम में भी कोई मतभेद नहीं है और उत्तरगुणरूप से माने हुये सात व्रतों की संख्या तो सर्वमान्य है परन्तु उसके क्रम में मतभेद है श्वेताम्बरीयसम्प्रदाय में एक तत्वार्थ सूत्र या क्रम वर्तमान सूत्र द्वारा वर्णन करते हैं और दूसरा आगमादि अन्य ग्रन्थों का क्रम जिसमें देशव्रतों के स्थान

पर भोगोपभोग है तथा सामायिक के पश्चात् देशव्रत का स्थान है जैसे=दिग्, भोगो प्रभोग, अनर्थ दंड, सामायिक, देशावकाशिक, पोषधोपवास और अतिथिसंविभाग यह क्रम होने हुये भी तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत सर्वमान्य हैं और दिगम्बरीय सम्प्रदाय में ७ उत्तर-गुणव्रत का विषय क्रम और अर्थ विकाश के लिये वर्तमान मे ६ परम्परायें देखी जाती हैं, जिसके लिये देखो जैनोचार्यों का शासन भेदनामक पुस्तक।

पांच अणुव्रतों के नाम

(१) गृहस्थ जीवन में मन, वचन, कार्य से सर्वथा हिंसा का त्याग नहीं हो सकता इसलिये अपनी त्यागवृत्ति की योग्यता के अनुसार मर्यादापूर्वक हिंसा का त्याग करे, यह अहिंसाणुव्रत है, इसी तरह असत्यादि परिग्रह पर्यन्त (२-५) व्रतों का अपनी परिस्थिति के अनुसार मर्यादित रूप से त्याग करना ही अणुव्रत है।

तीन गुण व्रत

(६) अपनी त्यागवृति के अनुसार चारों दिशि के परिमाण की मर्यादा करे इससे मर्यादा के बाहरी क्षेत्रों में सब प्रकार के अधर्म से निवृत्ति होती है उसे दिग्व्रत कहते हैं, (७) दिशि का मान हमेशा के लिये किया हुआ है तथापि उसमें प्रयोजन के अनुसार प्रतिदिन क्षेत्र की मर्यादा करे उसे देशव्रत कहते हैं (८) अपनी जरूरत के सिवाय निरर्थक प्रवृति करनी वह अनर्थ दंड है उससे निवृत्त होना उसे अनर्थदंड व्रत कहते हैं।

चार शिक्षा व्रत।

(९) काल की मर्यादा करके अधर्म प्रवृत्ति से निवृत्त होकर उतने समय तक धर्म प्रवृत्ति में स्थिर होने का अभ्यास करे उसको सामायिक व्रत कहते है (१०) अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों

में उपवास करे धर्मजागरण करे उसको पौषधोपवास व्रत कहते हैं (११) जिसमें बहुत अधर्म या आरंभ समारंभ से ऐसे आहार विहार अर्थात् भोगोपभोग की वस्तुओं का यथाशक्ति त्याग करके न्यूनारंभ वस्तुओं की मर्यादा करे उस भोगोपभोग परिमाण व्रत कहते हैं (१२) शुद्ध भाव, शक्तिपूर्वक सुपात्र दानको अतिथि संविभाग व्रत कहते हैं।

कषाय अन्त करने के लिये शरीर पौष्टिक कारणों को दूर करता हुआ केवल उसके निर्वाह हेतु अल्पोदन (अल्पहार) या काल, संगठन की दुर्बलता तथा उपसर्गादि दोषों को जानकर अल्प आहार या चतुर्थ षष्ठ, अष्टम भक्त आदि द्वारा आत्मा को नियम में लाके संयम में प्राप्त हो उत्तम व्रत संपन्न हो उसको संलेषणा व्रत कहते हैं यह व्रत शरीर के अन्त समय सूधी ग्रहण योग्य होने से इसको मरणान्तिक संलेषणा भी कहते हैं चारों आहार को त्याग कर जीवन पर्यन्त भावना, तथा अनुप्रेक्षा में तत्पर स्मरण और समाधि में बहुधा परायण ऐसे संलेखना सेवी उत्तम अर्थ के आराधिक होते हैं।

प्रश्न—संलेखनाव्रती अनशनादि द्वारा शरीरान्त करता है, इस लिये वह आत्मवध हुवा है और आत्मवध है, वह स्वहिंसा है इसलिये इसको त्याग धर्म (व्रत) कैसे कहते हो ?

उत्तर—मात्र बाह्य दृष्टि से दुःख या प्राणनाश रूपहिंसा, हिंसाकी कोटिमें नहीं है हिंसाका वास्तविक स्वरूप राग द्वेष और मोहकी वृत्ति पर अवलम्बित है। संलेखनाव्रतमें प्राणनाश है, तथापि वह रागद्वेष, मोहजनित नहीं होने से हिंसा कोटिमें सम्मिलित नहीं होता किन्तु उस (संलेखनाव्रत) का जन्म निर्मोह और वीतराग भावकी भावनासे है, और व्रतकी पूर्णता भी उक्त भावनाकी सिद्धिसे

प्रयत्न से होती है इसलिये वह शुभ या शुद्ध ध्यान की श्रेणी में सम्मिलित होता है ।

प्रश्न—कमलपूजा, भैरव जप, जल समाधि, आदि अनेक प्रकारसे होनेवाली हिंसाको धर्म रूप माननेवालोंकी प्रथामें और संलेखनाकी प्रथामें क्या अंतरहै ?

उत्तर—प्राणनाश की स्थूल दृष्टि से दोनों तुल्य हैं परन्तु भावना की तरफ दृष्टिपात करने से तारतम्य भाव स्पष्ट रूप से प्रगट होता है कहां आत्म-संशोधन की भावना और कहाँ भौतिक आशाओं के कारण वा अन्य किसी प्रलोभन के आवेश से की हुई क्रियावृत्ति तत्वज्ञान की दृष्टि से दोनों उपासकों की भावनाये पृथक रूप होने से वह हिंसा तुलनात्मक नहीं हो सकती जैन उपासना का ध्येय तात्विक दृष्टि से केवल आत्मशोधन ही है किन्तु परार्पण या पर प्रसन्नता की तरफ किंचितमात्र भी उनका दृष्टिपात नहीं है किसी प्रकार का दुर्ध्यान उपस्थित नहीं हो ऐसी अवस्था मे ही यह व्रत विधेय (ग्राह्य) रूप माना गया है ॥१५-१७॥

सम्यग् दर्शन के अतिचार ।

शङ्का काङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टि प्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥१८॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि के पांच अतिचार हैं शंका, कांक्षा विचिकित्सा अन्य दृष्टि प्रशंसा और अन्य दृष्टि की सम्भावना ॥ १८ ॥

विवेचन—किसी प्रकार की सफलता (दोष) से स्वीकार किये हुये गुणों में मलिनता उत्पन्न हो या धीरे धीरे ह्रास अवस्था को प्राप्त हो ऐसे दोषों को अतिचार कहते हैं ।

चारित्रका मुख्याधार सम्यक्त्व है इसकी विशुद्धता पर चरित्र की शुद्धि अवलम्बित है इसलिये ,सम्यक्त्वकी शुद्धि में जिससे बाधा पहुँचती हो या सभव हो ऐसे अतिचार (दोष) मुख्यतया पाच बताये गये हैं।

(१) शंका—सम्यक्दृष्टि जीवोंको अर्हत् भगवान् कथित अति सूक्ष्म, अतीन्द्रिय तथा केवल ज्ञान या आगमप्रमाणसे ग्राह्य पदार्थों में सदेह करना उनको शंका अतिचार कहते हैं। जैन सिद्धान्तोंमें सशय और तत्पूर्वक परीक्षा इसकेलिये पूर्ण तया स्थान है तथापि यहाँ शका को अतिचार कहा जिसका कारण यह है कि तर्कवाद की कसौटी पर कसने योग्य पदार्थों को तर्कदृष्टिसे प्रयत्न न करने से, वह श्रद्धागम्य वस्तुओंको यथार्थ बुद्धिगम्य नहीं कर सकता और बिना यथार्थ बुद्धिगम्य किये किसी समय वह विकार भावको प्राप्त होजाय ऐसा जो शका दोष वह अतिचार रूपसे त्याज्य रूपहै

(२) कांक्षा—ऐहिक तथा पारलौकिक विषयोंकी अभिलाषा को कांक्षा कहते हैं। सांसारिक अभिलाषी होनेसे गुण-दोषों का विचार नहीं कर सकता इसलिये वह अपने सिद्धान्त पर भी अवस्थित नहीं रह सकता वास्ते कांक्षा अतिचार दोष रूप है।

(३) विचिकित्सा—जहां मतिभेद या विचारभेद का प्रसग हो वहा स्वमति से निर्णय किये बिना ही सर्वज्ञ वचनोंको यथार्थ रूपसे मानलेना जैसे भगवान् महावीरने कहा वह भी ठीक है और कपिलादिका कथन भी ठीक है ऐसी मदबुद्धि को विचिकित्सा अतिचार कहते हैं।

(४-५) मिथ्यादृष्टि-प्रशसा व स्तवना—जिसकी दृष्टि यथार्थ न हो उसकी प्रशसा
चार रूप है १५

किसी समय अपने सिद्धान्तों से स्खलित हो जाता है. इस लिये अन्यदृष्टि प्रशंसा, स्तवना अतिचार रूप है और विवेक पूर्वक गुण दोषोंको समझनेवाले साधकके लिये वह एकान्त रूपसे हानि कारक नहीं है उपरोक्त पांचों अतिचार श्रावक और साधुके लिये सामान्य रूप हैं ॥ १८ ॥

बारह व्रत के अतिचारों की संख्या का वर्णन.

व्रती शीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ १९ ॥

बन्धवधच्छविच्छेदाऽतिभारारोपणाऽन्त पाननिरोधा ॥ २० ॥

मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यान कूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमंत्र भेदाः ॥ २१ ॥

स्तेन प्रयोग तदाहृता दानविरुद्धा राज्यातिक्रमहीनाधिक मानोन्मान प्रति रूपक व्यवहाराः ॥ २२ ॥

परविवाहकरणो त्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनाऽनंग क्रीडातीव्र कामाभि निवेशाः ॥ २३ ॥

क्षेत्रवास्तुहिरण्य सुवर्ण धन धान्य दासी दास कुप्य प्रमाणाऽतिक्रमा ॥ २४ ॥

उर्ध्वाधस्तियग् व्यतिक्रम क्षेत्र वृद्धि समृत्यन्तर्धानानि ॥ २५ ॥

आनयन प्रेष्य प्रयोगशब्द रूपानुपात पुद्गलक्षेपा ॥ २६ ॥

कंदर्प कौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणो प्रभोधिकत्वानि ।२७।

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २८ ॥

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेप संस्तारोपक्रमणानादर स्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २९ ॥

सचित सम्बन्ध संमिश्राऽभिषवदुष्पक्वाहारा ॥ ३० ॥

सचितनिक्षेपपिधान परव्यपदेशमात्सर्य कालाति क्रमः ॥ ३१ ॥

जीवित मरणाशंसा मित्रनुराग सुखानुबन्ध निदान करणानि ।३२।

अर्थ—व्रत (अहिंसादि पाच) शील (दिगादि सातों) में यथा क्रम पाच पाच अतिचार होते हैं ॥ १९ ॥

बन्ध बध, छविच्छेद, अतिभारोपण अन्नपाननिरोध ये पाच अहिंसाव्रतके अतिचार हैं ॥ २० ॥

मिथ्याउपदेश, रहस्याभ्याख्यान " गुप्तवात प्रगटकरना " कूट लेखक्रिया, न्यासापहार, " धरोहरवस्तुकाअपहार " और साकार मंत्र भेद ये पाच सत्यव्रत के अतिचार हैं ॥ २१ ॥

स्तेन प्रयोग " चोरों से व्यवहार " तदाहृतादान "उनकी लाई हुई वस्तुग्रहण करनी ' विरुद्ध राज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रति रूपक व्यवहार 'कपट व्यवहार' ये पाच अस्तेय (अचौय) व्रतके अतिचार हैं ॥२२॥

परविवाह, इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनग क्रीडा और तीव्रकामाभिसेवन ये पाच ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार हैं ॥२३॥

क्षेत्र वस्तु (भूमि) (१) हिरण्य (सुवर्ण चान्दी) (२) धन धान्य (३) दास दासी (४) तथा कुप्यादि के परिमाण का अति क्रम करना परिग्रह व्रत के अतिचार हैं ॥ २४॥

ऊर्ध्व. अधो. तिर्यग् दिग् व्यतिक्रम क्षेत्र वृद्धि और स्मृत्यन्तर ध्यान ये पांच दिग्व्रत के अतिचार हैं ॥२५॥

आनयन, पाष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, पुद्गलक्षेप, ये पांच देशव्रत के अतिचार हैं ॥ २६ ॥

कंदर्प, कौकुच्य, मौखर्य, असमीक्षाधिकरण, और उपभोगाधिकत्व ये पांच अतिचार अनर्थ दंड विरमण व्रत के हैं ॥ २७ ॥

कायदुष्प्रणिधान, वागदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पांच सामायिक व्रत के अतिचार हैं ॥२८॥

अप्रतिवेक्षित तथा अप्रमार्जित स्थूल में उत्सर्ग (१) (उक्त) आदाननिक्षेप, (२) संस्तारोपक्रम (३) अनादर (४) और स्मृत्यनुपस्थान ये पांच पोपधोपवास व्रत के अतिचार हैं ॥ २९ ॥

सचिताहार, सचित सम्बन्धाहार, सचित्त अभिषवाहार, और दुष्पक्काहार ये पांच उपभोग व्रत के अतिचार हैं ॥३०॥

सचित निक्षेप, सचितविधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पांच अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार हैं ॥३१॥

जीवितानुशंसा, मरणानुशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध, निन्दानकरण ये पांच संलेखना व्रत के अतिचार हैं ॥३२॥

विवेचन—जो नियम श्रद्धा और समझपूर्वक ग्रहण किये जाते हैं इन्हें व्रत कहते हैं। व्रत शब्द से ही श्रावक के बारह व्रतों का समावेश हो जाता है तथापि प्रस्तुत सूत्र में व्रत, शील, दो शब्दों का प्रयोग किया जिसका कारण यह है कि चारित्र धर्म के मुख्य नियम अहिंसादि पांच व्रत है व्रत कहलाते हैं और इनकी पुष्टि के लिये शेष दिगादि व्रत हैं उन्हें शील कहते हैं ये संज्ञा सूचक हैं और इनके पांच २ अतिचार बताये गये हैं वे मध्यम दृष्टि सापेक्ष

हैं जघन्योत्कृष्टरूप से वर्णन किया जाय तो उसकी व्याख्या न्यूनाधिक सख्या रूप भी वता सकते हैं।

राग द्वेष के विकार का अभाव और समभाव सद्भाव के आविर्भाव को चारित्र कहते हैं तथा चारित्र का मूल स्वरूप सिद्ध करने के लिये अहिंसादि जो जो नियम व्यावहारिक जीवन में स्वीकार किये जाते हैं वे सब चारित्र कहे जाते हैं व्यावहारिक जीवन देश काल आदि परिस्थिति या मनुष्य बुद्धि के संस्कारानुसार न्यूनाधिक रूप होने से चारित्र स्वरूप एक होने पर भी उसके नियम का तारतम्यभाव अनिवार्य है इसलिये श्रावक के भी अनेक भेद हैं तथापि शास्त्रकार तेरह विभाग की कल्पना करते हुए उनके अतिचारों का कथन करते हैं ॥ १९ ॥

अहिंसा व्रत के अतिचार।

(१) त्रस स्थावर जीवों का वध या (२) बधन, (३) काष्ठादि से छेदन (४) अथवा जीवों पर अतिभार लादा (रक्खा) ना और उनके आहार पानी का निषेध करना ये पाच अतिचार अहिंसाव्रत के हैं ॥२०॥

सत्य व्रत के अतिचार।

(१) मिथ्या उपदेश—मन्त्र झूठ बात के बुरास्ते पर चढाना (२) रहस्याभ्याख्यान—राग द्वेष से प्रेरित होके हास्यादि द्वारा किसी की गुप्त बात को प्रगट कर देना (३) कूट लेख—मिथ्यालेख (जाली लिखा पढी) (४) न्यासापहार—धरोहर (अमानत) रक्खी हुई वस्तु का अपहरण, (५) साकार मन्त्र भेद—चुगली या खोटी सलाह देके किसी की प्रीति को तुड़वा देना ये सत्य व्रत के अतिचार हैं ॥२१॥

अस्तेय (अचौर्य) व्रत के अतिचार।

(१) स्तेन प्रयोग—चोरी के लिये प्रेरणा करनी या उनसे व्यव

हार करना (२) तदाहृतादान चोरी की लाई हुई वस्तु अल्प या ठीक मूल्य से लेनी (३) हिनाधिकमानोपमान—वस्तुकी लेन देन में हीनाधिक तोल नाप करना (४) विरुद्ध राज्यातिक्रम—राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना (५) प्रतिरूपक व्यवहार—खोटा सिक्का अथवा कपटपूर्वक नकली चीज़ बना के बदल देना ये अस्तेय व्रत के अतिचार हैं ॥ २२ ॥

ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार ।

(१) परविवाहकरण—दूसरे की शादी विवाह कन्यादानादि करना (२) इत्वरपरिगृहीता—व्यभिचारिणी या दूसरे की विवाहिता से प्रसंग करना (३) अपरगृहीता--कुंवारियों से या वेश्यादि से प्रसंग करना, (४) अनंग क्रीड़ा—अस्वाभाविक रीति से काम सेवन करना (५) तिव्रकामाभिसेवन—काम सेवन के लिये तीव्र अभिलाषा ये ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार हैं ॥ २३ ॥

अपरिग्रह व्रत के अतिचार ।

(१) क्षेत्रवस्तु--क्षेत्र जमीन खेतादि वस्तु घरादि के परिमाण से अधिक संग्रह करना. (२) हिरण्य सुवर्ण—सोने चांदी या वस्तुओं का परिमाण से अधिक संग्रह करना (३) धन—गाय भैंसादि, धान्य—अन्न आदि के परिमाण से अधिक संग्रह करना. (४) दास दासियों के परिमाण से अधिक रखना (५) कुप्यप्रमाणातिक्रम—वासन वर्तनादि को प्रमाण से अधिक रखना, ये परिग्रह व्रत के अतिचार हैं ॥ २४ ॥

दिग्विरमण व्रत के अतिचार ।

व्रत संज्ञक अहिंसादि पांच नियम व्रतों के अतिचारों की व्याख्या करके अब शील संज्ञक दिगादि व्रतों के अतिचार अनुक्रम से बताये हैं ।

(१) उर्ध्व-झाड पहाड़ादि पर चढ़ने के लिये ऊंचाई के परिमाण की मर्यादा विस्मृति या लाभादि के कारण उलघन करना, इसी तरह (२ ३) अधस्तिर्यग्यति—क्रम अर्थात् नीची और तिरछी दिशा के मर्यादा का उलघन करना, (४) क्षेत्र वृद्धि—उत्तर पूर्वादि चारों दिशाओं की मर्यादा में से किसी एक दिशा की मर्यादा को घटा के दूसरे दिशा की मर्यादा में वृद्धि करना (५) स्मृत्यन्तरधानानि—कहा तक सीमा मर्यादित की गई थी उसकी स्मृति न रहना इत्यादि दिग्विरमण व्रत के अतिचार हैं ॥२५॥

देशावकाशिक व्रत के अतिचार।

(१) आनयन—नियत सीमा के बाहर की वस्तु को स्वयम् न लाकर किसी अन्य पुरुष द्वारा मगवा लेनी (२) प्रेष्य प्रयोग सीमा के बाहिर की वस्तु को प्रेष्य=नौकर द्वारा भेजवानी (३) शब्दानुपात—खासी आदि शब्द द्वारा कार्य करवाना, (४) रूपानुपात—रूपादि दिखा के कार्य करवा लेना (५) पुद्गल क्षेप—पत्थर, ढेलादि फेंक कर कार्य करवाना ये देशव्रत के अतिचार हैं ॥ २६ ॥

अनर्थ दृढ विरमण व्रत के अतिचार।

(१) कदर्प—रागवश असभ्य भाषण या परिहासादि करना, (२) कौकुच्य—भाडादि के समान कुचेष्टायें करनी (३) मौखर्य निर्लज्यपने या विना सम्बन्ध के अति प्रलाप करना (४) असमीक्षाधिकरण अपनी जरूरत से उपरान्त सावद्य उपकरणों को एकत्रित करना या विना मांगे किसी को देना (५) उपभोगाधिकत्व उपभोग से अधिक वस्तु रखना ये अनर्थ दंड व्रत के अतिचार हैं ॥ २७ ॥

सामायिक व्रत के अतिचार।

(१) योग दुष्प्रणिधान—इसके तीन भेद हैं ॥ कायदुष्प्र० विना काम हाथ पगादि संचालन करना (१) वागदुष्प्र०—सावद्य भाषा या उपयोग रहित बोलना (२) मनदुष्प्र० सावद्य या उपयोगरहित मनोव्यापार (३) अर्थात् जिस प्रकार सावधानी के साथ मन, वचन, कायिक योगों को सामायिक समय निर्वद्यपने वर्तना चाहिये वैसा न करके अनोपयोग वा सावद्य व्यापार को कायकादि दुःष्प्रणिधान कहते हैं (४) अनादर=सामायिक उत्साह सहित न करके अन्यचित्त निरादरपने करना (५) स्मृति उपास्थानानि-सामायिक में आवश्यकीय कार्यों को भूल जाना ये सामायिक व्रत के दोष हैं ॥ २८ ॥

पौषध व्रत के अतिचार।

अप्रत्तिवेक्षिता प्रमार्जित उत्सर्ग—विना देखे व प्रमार्जन किये मल मूत्रादि करना (२) एवं आदन निक्षेप—विना देखे प्रमार्जन किये किसी वस्तु को रखना (३) संस्तारोपक्रमण—विना देखे प्रमार्जन किये संथारा (विछौना) आसनादि विछाना (४-५) अनादर स्मृति०—पौषध अनादर से करना तथा आवश्यक क्रियाओं को भूल जाना या समयपरन करना ये पौषध व्रत के अतिचार है।

भोगोपभोग व्रत के अतिचार।

सचित्ताहार—अयोग्य वस्तु आहार करना, (२) सचित सम्बन्धाहार—अयोग्य से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु आहार करना (३) सचितसंमिश्राहार—सचित, अचित, मिश्रित पदार्थ का आहार करना (४) अभिषवाहार—मादक पदार्थों को सेवन

करना, (५) दुष्पक्वार—अध पके या रधे पदार्थों को सेवन करना ये उपभोग व्रत के अतिचार हैं ॥३०॥

अतिथि सविभागव्रत के अतिचार

(१) सचित निक्षेप—देने योग्य वस्तु को न देने की बुद्धि से अयोग्य सचितादि वस्तु मिला देनी, (२) सचित पिधानम्—पूर्वोक्त वस्तुको सचितसे ढक देना, (३) परव्यपदेश—पूर्वोक्त वस्तुको दूसरे की कहदेना, (४) मत्सर्य—दानदेने, लेनेवालों के गुणोंसे ईर्ष्या करना, (५) कालातिक्रम—दान के समय का उलघन करना ये अतिथि सविभागव्रत के अतिचार हैं।

सलेखना व्रत के अतिचार

(१) जीवितानुशसा—पूजा सत्कारादि देख कर जीने की अभिलाषा करनी (२) मरणानुशसा—दुखादि देख कर मरने की अभिलाषा करनी, (३) मित्रानुराग—मित्र पुत्रादि पर प्रीति भाव रखना (४) सुखानुबन्ध—अनुभव किये हुये सुखों का स्मर्ण करना (५) निदान कारण—तपस्यादि करके भोगादि विषयों की आकाक्षा करनी ये सलेखना व्रत के अतिचार हैं।

उपरोक्त अतिचार यदि इरादेपूर्वक या वक्रता से सेवन किये जाय तो वे व्रत खडन रूप अनाचार हैं भूल या असावधानी से दूषित को अतिचार कहते हैं १६ ३२॥

दान का वर्णन।

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३३॥

विधि द्रव्य दातृ पात्रविशेषात्तद्विशेष ॥३४॥

अर्थ—हित करने की इच्छा से अपनी वस्तु का त्याग करना दान कहलाता है ॥ ३३ ॥

विधि, द्रव्य, दाता और पात्र इनकी विशेषता से दान की विशेषता होती है ॥ ३४ ॥

विवेचन—जीवन के सद्गुणों में सब से पहिला और अन्य सद्गुणों के विकास का आधार तथा पारमार्थिक दृष्टि से आदरणीय है।

न्यायोपार्जित वस्तु दूसरे को अर्पण करना ही दान है इससे स्व और पर को उपकार होना चाहिये अर्पण करने वाले को वस्तु पर से ममत्व भाव घटा के सन्तोष और समभाव प्राप्त होता है स्वीकार करने वाले का अभिप्राय केवल जीवन यात्रा निर्वाह करके चारित्र के सद्गुणों की अभिवृद्धि करना।

सब प्रकार का दान, दानरूप से एक ही है तथापि उसके फल में तारतम्य भाव रहा हुआ है और वह तारतम्य भाव दान की विशेषता पर अवलम्बित है सूत्रकार ने उसके मुख्य चार अंग बताये हैं यथा—

(१) विधिविशेष—देश, काल, श्रद्धा के उचितानुचित स्वरूप को देख कर लेने वाले के सिद्धान्त को अबाधित हो ऐसी कल्पनीय वस्तु अर्पण करना विधि विशेष है।

(२) द्रव्य विशेष—देय वस्तु योग्य गुणवाली होनी चाहिये जिससे लेने वाले पात्र की जीवनयात्रा में पोषक रूप होकर गुणविकास को प्राप्त करने वाली हो।

(३) दाताकीविशेषता—दान को ग्रहण कर्ता पुरुष पर श्रद्धा होनी चाहिये उसके तरफ तिरस्कार या असूया (गुणों में दोष दृष्टि) न हो और त्याग के पश्चात् शोक तथा विषाद न हो आदरपूर्वक दान देने की इच्छा करते हुये उससे प्रतियोग या किसी फल की कांक्षा न रखे।

(४) पात्र की विशेषता-सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप संपन्न होना यह दान के योग्य (पात्र) की विशेषता है ॥३३-३४॥

इति तत्त्वार्थ सूत्र सप्तमाध्याय हिन्दी अनुवाद समाप्तम्

अष्टमोऽध्यायः
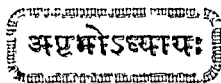
आश्रव का निरूपण कर चुके अब यथा क्रम (अ० १ सू० ४) बन्ध की व्याख्या सिद्ध करने के हेतु सूत्र निरूपण करते हैं।

बंध हेतु निर्देश ।

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद कषाय योगबन्ध हेतवः ॥१॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद कषाय और योग बन्ध हेतु हैं ॥

विवेचन—बंध का स्वरूप आगे सूत्र २ से कहेंगे प्रस्तुत सूत्र में उनके हेतुओं का निर्देश है शास्त्रों में बन्ध हेतुओं की संख्या विषय तीन परम्परायें देखी जाती हैं एक परम्परा वाले कषाय और योग दो ही बंध हेतु मानते हैं इसका उल्लेख पंचसंग्रह की मलया गीरी टीकादि ग्रंथों में है। दूसरी परम्परा पदशितिचतुर्थ कर्म ग्रन्थ गाथा ५० और पंच संग्रह द्वा० ४ गा० १ आदि ग्रन्थकारों की है। ये मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग चार बन्ध हेतु मानते हैं और तीसरी परम्परा सूत्रकार की है जो मिथ्यात्व, अवि रत, प्रमाद कषाय और योग रूप पांच बंध हेतु माने हैं उपरोक्त मन्तव्य केवल नाम और संख्या मात्र से भिन्न स्वरूपी हैं वास्तविक तत्व दृष्टि में अवलोकन किया जाय तो उन भेदों में कुछ भी अवा न्तर नहीं है, प्रमाद यह एक प्रकार का असंयम है जिसका अविरत या कषाय में अन्तर्भाव होता है और ऐसी ही सूक्ष्म दृष्टि से

आगे और भी देखा जाय तो मिथ्यात्व और अविरत कषाय से पृथक् नहीं हो सकते वे वस्तुत. कषाय ही के अन्तरगत हैं इसी अभिप्राय से पांचवे कर्मग्रन्थ की ९६ गाथा मे दो ही (कषाय योग) बन्ध हेतु माने हैं और विस्तारपूर्वक समझने के लिये ग्रन्थकारों ने प्रत्येक कर्म के जुदे जुदे बन्ध हेतु बताये हैं जैसे पूर्व अध्याय ६ सूत्र ११ से २६ अथवा कर्म ग्रन्थ पहिला गाथा ५४ से ६१ आदि ग्रन्थों मे है।

कोई भी बांधा हुआ कर्म अधिक से अधिक चार (प्रकृत. स्थिति, रस. प्रदेश) अंशों में विभाजित होता है जिसका वर्णन वर्तमान अध्याय के सूत्र ४ में है और उनके कारण कषाय और योग दो ही कहे हैं यथा पंचम कर्म ग्रन्थ-

जोग पयड़ि पएसं, ठिइअणुभाग कषायाओ ॥ ९६ ॥

अर्थ—प्रकृति और प्रदेश का निर्माण योग से होता है. और स्थिति तथा अनुभाग (रस) बन्धका कारण कषाय कहा है।

आध्यात्मिक विकासकी उन्नतावनत भूमिका रूप गुणस्थानों में बंधती हुई कर्म प्रकृतियों के तारतम्य भाव जानने के लिये उपरोक्त चार बन्ध हेतुवोंका वर्णन है। उक्त बन्ध हेतुवों की जिन गुणस्थानों मे अधिकता होतीहै वहाँ कर्म प्रकृतियोंका बन्ध भी अधिक अधिकतर होता है. और बन्धहेतुकी अवनत दशा में कर्म प्रकृतियोंका बन्ध भी हीन हीनतर होता है. इसलिये उक्त मिथ्यात्वादि चारबन्ध हेतुकी परम्परावालोंका मंतव्य प्रत्येक गुणस्थानों में बंधती हुई प्रकृतियोंके सद्भावी कारणोंका पृथककरण है. और उक्त चारबधहेतुवोंका विश्लेष (समावेश) कषाय और योग में होता है. पांचबंधहेतु परम्परावालोंका आशय उक्त चार परम्परा वालोंसे पृथक नहीं होसकता और यदि पृथक किया जाय तो इस

का हेतु केवल जिज्ञासु शिष्यको विस्तार पूर्वक समझाना है

(१) मिथ्यात्व—सम्यक्त्व से विपरीत मिथ्यादर्शन को मिथ्यात्व कहते हैं यह दो प्रकार का है (१) वस्तु की यथार्थ श्रद्धा का अभाव (२) अयथार्थ वस्तुकी श्रद्धा, इन दोनों अवस्थाओं में विशेषता यह है कि पहली अवस्था विचार शून्य केवल जीव की मूढ दशा है और दूसरी विचारशक्ति की स्फुरायमान अवस्था है इस अवस्था में यदि अभिनिवेश (दुराग्रह) से अपने असत्य पक्ष को जानता हुआ भी उसकी स्थापना करने के लिये अतत्व का पक्षपात करे इसको मिथ्यादर्शन कहते हैं यह उपदेश जन्य होने से अभिग्रहीत कहलाता है और जिनमें गुणदोष या तत्वातत्व जानने की विचार शक्ति न हो उसको अभिग्रहीत मिथ्यात्व कहते हैं यह अनभिग्रहीत मिथ्यात्व कीट, पतंगादि के समान मूर्छित चेतनावाली जातियों में सम्भवित होता है और अभिग्रहीत मिथ्यात्व मनुष्य के समान विकसित जातियों में होता है

(२) अविरति—दोषों से विराम न होना। यथा अध्याय ७ सूत्र १।

(३) प्रमाद—आत्म विस्मरण या अच्छे कार्यों में अनादर, कर्तव्याकर्तव्य के लिये असावधान।

(४) कषाय—समभावकी मर्यादा का उलंघन [विशेष वर्णन] अध्याय ८ सूत्र १० में है

(५) योग—मानसिक, वाचिक, कायिक, प्रवृत्ति। यथा अध्याय ६ सूत्र १ से ' ।

छट्टे अध्याय में वर्णन किये हुवे बंधहेतुओं में और प्रस्तुत बंध हेतुओं में विशेषता यह है कि वे प्रत्येक कर्मके विशेषतारूप मुख्य बन्धहेतु हैं। पूर्ववर्ती बंधहेतुओं के अस्तित्वमें उत्तरवर्ती बंधहेतु

अवश्य होते हैं. जैसे—मिथ्यात्वके रहते हुवे शेष अविरत्यादि चारोंकी अस्तिता अवश्यमेव होती है. और अविरतके रहने पर प्रमादादि तीनों बन्धहेतु अवश्य होते हैं. परन्तु मिथ्यात्वकी नियमा नहीं है क्योंकि मिथ्यात्व केवल पहिले गुणस्थानकमें ही अविरत के साथ रहता है. परन्तु द्वितियादि चार गुणस्थानों में उसका अभाव है. इसी तरह उत्तर वर्ती बन्धहेतुवों के साथ पूर्व वर्ती बंध हेतुओं की नियमा नहीं है. वे मिथ्यात्वादिकी अस्तितामें होते हैं अन्यथा नहीं होते. यथा चतुर्थ कर्म ग्रन्थ—

इग चउपणाति गुणेसु, चउतिदुइगपच्च ओ वन्धो ॥ ५२ ॥

अर्थ—एक मिथ्यात्वगु० में चारों बंधहेतु होते हैं सास्वादनसे देश वरति पर्यन्त चार गु० में तीन बंधहेतु होते हैं छट्ठे से दशवें तक पांच गु० दो बन्धहेतु हैं. और ग्यारहवें से तेरहवें गु० पर्यन्त एकबन्धहेतु है।

बन्ध स्वरूप।

सकायत्वाज्जीवः कर्मणोयोग्यान् पुद्गलानादत्ते ॥ २ ॥
सबन्धः ॥ ३ ॥

अर्थ—कषाय सहित होने से जीव कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है ॥ २ ॥ उसीको बन्ध कहते हैं ॥ ३ ॥

विवेचन—पुद्गल की वर्गणायें अनेक प्रकार की अनन्तानन्त रूप हैं उसमें से जो वर्गणा कर्म परिणाम योग्यतावाली है उसीको जीव ग्रहण करके अपने प्रदेशों के साथ विशिष्ट रूप जोड़ता है जिसका विशेष रूप से वर्णन आगे सूत्र २५ में है।

जीव स्वभाव से अमूर्त है तथापि अनादि कालिक कर्म सम्बन्ध से कर्म सहचारी होने के कारण वह मूर्तिमान दिखाई देता है और कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है जैसे—दीपक बत्ती द्वारा तेल ग्रहण करके अपनी उष्णता से ज्वाला रूप में परिणमन होता है। इसी तरह जीव कषायिक विकारों से कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके भाव कर्म रूप से परिणमन करता है और आत्म प्रदेशों के साथ कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध ही बन्ध कहलाता है। बन्ध के लिये मिथ्यात्वादि अनेक निमित्त हैं तथापि उसमें कषाय की प्रधानता सूचित करने के लिये ही "सकषायत्वात् जीव इत्यादि कहा है सकर्मी जीव शरीरार्थ जो पुद्गल ग्रहण करता है उसी को बन्ध कहते हैं ॥ २-३ ॥

बन्ध के भेद

प्रकृति स्थित्यनुभाव प्रदेशास्तद्विधय· ॥ ४ ॥

अर्थ—कर्म बन्ध चार प्रकार से होता है (१) प्रकृति (२) स्थिति, (३) अनुभव, (रस) (४) प्रदेश।

विवेचन—जीव द्वारा ग्रहण किये हुवे कर्म पुद्गल कर्म रूप परिणाम को प्राप्त होते समय वे चारों अंशों में विभाजित होते हैं उसी अंशों को बन्धभेद कहते हैं जैसे-गाय, भैंस, बकरी, आदि का खाया हुवा घास रक्त, मेधा, मांस, दूधादि रूप में परिणमन होता है इसी तरह जीव द्वारा ग्रहण किये हुवे कर्म पुद्गल आठ कर्म प्रकृति रूप में परिणत होते हैं, उसको प्रकृति बंध कहते हैं, वह दूध नियमित समय तक अपने स्वभाव में रहता है उस काल मर्यादा को स्थिति बन्ध कहते हैं, और दूध की मधुरता में जो तीव्रता

मन्दता रहती है उसको अनुभाग बन्ध अर्थात रस बन्ध कहते हैं. और तत् योग्य पुद्गलों के परिमाण का निर्माण भी उसी समय होता है. उसको प्रदेश बन्ध कहते हैं. इन्हीं को कर्म ग्रन्थ में मोदक के दृष्टान्त से समझाया है।

प्रकृति बन्ध का स्वरूप

अद्यो[1] ज्ञान[2] दर्शनावरण[3] वेदनीय[4] मोहनीयायुष्कनाम[5] [6] गोत्रा[7]न्तरायाः[8] ॥ ५ ॥

अर्थ—उपरोक्त सूत्र ४ से अनुक्रम से प्राप्त आद्य अर्थात् पहिला प्रकृति बन्ध आठ प्रकार का है (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अन्तराय ॥ ५ ॥

विवेचन—अध्यवसाय विशेष से जीव द्वारा एक ही वार एक समय में ग्रहण किये हुवे कर्म पुद्गल हैं वे अध्यवसायिक शक्ति की विविधता के कारण अनेक प्रकार से परिणमन होता है. जैसे-एक ही वार एक प्रकार का किया हुआ भोजन शरीर में सातों धातु रूप से परिणमन होता है वे कर्म स्वभावतः अदृश्य रूप हैं तथापि संसारी जीवों पर उसकी विचित्रता प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध ही है. एक अध्यवसाय से एक समय में बन्धे हुवे कर्म वास्तविक रूपसे असंख्याते हैं परन्तु कार्य क्रमकी परिगणना मात्रसे उनका वर्गीकरण आठ विभागों में विभाजित किया गया है, उसीको प्रकृति बन्ध कहते हैं. (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्क, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अन्तराय. ॥ ५ ॥

कर्म अनेक स्वभावी है. तथापि संक्षेप दृष्टि से उनके आठ

विभाग करके बतायेगये हैं मध्य मार्गवर्ति विस्तृत रुचि जिज्ञासुवो के लिये उन आठ प्रकृतियों के भेदों की संख्या तथा नाम निर्देश आगे के सूत्र से करते हैं जो उत्तर प्रकृति के नाम से प्रसिद्ध है और पहिले (कर्म विपाक नामक) कर्म ग्रन्थमें इन उत्तर प्रकृतियों के स्वरूप का सविस्तार वर्णन है।

उत्तर प्रकृतियों की भेद संख्या तथा नाम निर्देश

पञ्च नवद्वयष्टाविंशति चतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्च भेदा यथाक्रमम् ॥६॥

मत्यादिनाम् ॥७॥

प्रचला प्रचला प्रचला स्त्यानगृद्धि वेदनीयानिच ॥८॥

सदसद्वेद्ये ॥९॥

दर्शन चारित्र मोहनीय कषाय नोकषाय वेदनीयाख्यस्त्रि द्विषोडश नव भेदा. सम्यक्त्व मिथ्यात्व तदुभयानि कषाय नो कषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरण संज्वल विकल्पाश्चैकश' क्रोध मान माया लोभा. हास्यरत्यरति शोक भय । जुगुप्सा स्त्रीपुंनपुंनसक वेदाः ॥१०॥

नारक तैर्यग्योनमानुष दैवानि ॥११॥

जाति जाति शरीरांगोपांग निर्माण बन्धन संघातसंस्थान संहनन स्पर्शरस गन्ध वर्णानुपूर्व्यगुरुलघु पघात परघातातपो द्योत उच्छ्वास विहायोगतय प्रत्येक शरीर त्रस सुभग सु स्वर शुभ

सूक्ष्म पर्याप्त स्थिरा देय यशांसि सेतराणि तिर्थकृत्व च ॥१२॥

उच्चैर्नीचैश्च ॥१३॥

दाना दीनाम ॥१४॥

अर्थ—उपरोक्त आठ प्रकृतियों का अनुक्रम से पांच, नव, दो अठावीस, चार ब्यालीस, दो और पांच भेद हैं ॥ ६ ॥

मत्यादि पांच आवरण ज्ञानावर्णी कर्म के हैं ॥७॥

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन, निद्रा निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यान गृद्धि एवं नौप्रकृति दर्शना वरणीय है ॥८॥

प्रशस्त = सातावेदनीय, अप्रशस्त = असाता वेदनीय एवं वेदनीय कर्म के दो भेद हैं ॥९॥

मोहनीयकर्म के मुख्य दो भेद हैं (१) दर्शन मोहनीय, (२) चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं। (१) सम्यक्त्वमोहनीय, (२) मिथ्यात्व मोहनीय, (३) मिश्र मोहनीय। चारित्र मोहनीय के मुख्य दो भेद (१) कषाय मोहनीय, (२) नोकषाय मोहनीय। कषाय मोहनीय के १६ भेद। (४) अनन्तानुवन्धि १क्रोध, २मान, ३माया, ४लोभ, (४) अप्रत्याख्यानी ५क्रोध, ६मान, ७माया ८लोभ (४) प्रत्याख्यानी ९क्रोध, १०मान, ११माया, १२लोभ (४) संज्वलन १३क्रोध, १४मान, १५माया १६लोभ, नो कषाय मोहनीय के नौ भेद (१) हास्य, (२) रति। (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्री, (८) पुरुष, (९) नपुंसकवेद एवं दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय मिल के २८ भेद मोहनीय कर्म के हैं ॥१०॥

नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, और देव ये चार आयुष्य कर्म के भेद हैं ॥११॥

१गति, २जाति, ३शरीर, ४अगोपाग, ५निर्माण, ६बधन, ७सघातन, ८सस्थान, ९सहनन, १०स्पर्श, ११रस, १२गध, १३वर्ण, १४आनुपूर्वी, १५अगरूलघु, १६उपघात, १७पराघात १८आताप, १९ उद्योत, २०उच्छ्वास, २१विहायोगति, २२प्रत्येक, २३त्रस, २४सुभाग, २५सुस्वर, २६शुभ, २७बादर, २८पर्याप्त, २९स्थिर, ३०आदेय, ३१यश, और इतर ३२साधारण, ३३स्थावर, ३४दुभाग, ३५दु स्वर, ३६अशुभ, ३७सूक्ष्म, ३८अपर्याप्त, ३९अस्थिर, ४०अनादेय, ४१अयश, और ४२ तीर्थंकरनाम ये नामकर्म के भेद हैं ॥१४॥

गौत्र कर्म के दो भेद हैं ऊच गौत्र और नीच गौत्र ॥१३॥

अन्तराय कर्म के पाच भेद हैं (१) दान अन्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्त०, (४) उपभोगान्त०, (५) वीर्य अन्तराय।

विवेचन—उपरोक्त सूत्र ५ में ज्ञानावर्णीयादिमूल आठ कर्म प्रकृति बताई गई है उनके उत्तर प्रकृतियों की सख्या अनुक्रम से यह है ज्ञानावर्णीय के पाच भेद, दर्शनावर्णीय के नौ भेद, वेदनीय के दो भेद, मोहनीय के अठ्ठावीस भेद, आयुष्य के चार भेद, नाम के ब्यालीस भेद, गौत्रके दो भेद, और अन्तराय कर्म के पाच भेद हैं ॥ ६ ॥

ज्ञानावर्णीय के पांच भेद।

प्रत्येक ज्ञान के आवरण=आच्छादन करने ।ना जो स्वभाव उसको ज्ञानावर्णीय कर्म कहते हैं उनके स्थूल दृष्टि से मुख्य पाच भेद बताये हैं (१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण, (४) मन पर्यायज्ञानावरण, (५) केवलज्ञानावरण, और पहिले कर्म ग्रन्थ में गाथा ४ से ८ तक इनके उत्तर भेदों का सविस्तार वर्णन है॥

दर्शनावर्णीय कर्म के भेद

चक्ष्वादि सामान्यावबोध (दर्शन) के आवृत करने का जिसमें अभाव हो उसको दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं उसके नौ भेद हैं (१) चक्षुदर्शनावरण. (२) अचक्षुदर्शनावरण, (३) अवधि दर्शनावरण (४) केवल दर्शनावरण. इनके दर्शन को सामान्य. उपयोग भी कहते हैं और पांच प्रकार की निद्रा भी दर्शनावरणीय कर्म है (१) सुखपूर्वक निद्रा आजाय और जाग उठे उसको निद्रा कहते हैं (२) सुख से निद्रा आजाय और मुसकिल से ही जागे उसे निद्रा कहते है (३) बैठे और खड़े नींद ले उसको प्रचला कहते है। (४) चलते हुये नींद ले उसको प्रचला प्रचला कहते हैं (५) जागृत अवस्था में विचारा हुआ कार्य निद्रावस्था में करे उसको स्त्यगृद्धि निद्रा कहते हैं इस अवस्था में स्वाभाविक बल की अपेक्षा अनेक गुण बल प्रगट होता है।

वेदनीय कर्म के भेद।

सुख और दुःख के अनुभव को अनुक्रम से साता और असाता वेदनीय कहते हैं।

मोहनीय कर्म के भेद।

मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं। (१) दर्शन मोहनीय. (२) चारित्र मोहनीय।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद—(१) सम्यकत्व मोहनीय जिसके उदय से तात्विक रुचि होते हुये भी क्षायिक सम्यक्त्व और औपशमिक वा क्षायिकश्रेणी गत भावों की रुकावट होती हो उसको सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं। (२) मिथ्यात्व मोहनीय=यथार्थ

स्वरूप के अभाव को मिथ्यात्व मोहनीय कहते हैं (३) मिश्रत मोहनीय—मिश्र भाव को मिश्र मोहनीय कहते हैं।

चारित्र मोहनीय के दो भेद—(१) कषाय मोहनीय (२) नौ कषाय मोहनीय।

कषाय के मुख्य चार भेद क्रोध, मान, माया, और लोभ, ये तीव्रता और मन्दता रूप तारतम्य दृष्टि से अनेक प्रकार होते हुये भी सुखावबोध के लिये मुख्यतया प्रत्येक के चार चार भेद करके समझाते हैं। (१) अनन्तानुबन्धि—जिससे क्रोधादि अति तीव्र पने प्रगट हो और संसार चक्र में अनन्तकाल भ्रमण होता रहता है उसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, अन० मान, अन० माया और अ लोभ कहते हैं (२) अप्रत्याख्यानी—इसकी मात्रा अनन्तानुबंधी के समान अति तीव्र नहीं होती इसका आविर्भाव हिंसादि विरती का प्रतिबन्धक है अर्थात् जिसके उदय से सम्यक दर्शन का लाभ होते हुये भी विरति का अभाव हो उसको अप्रत्याख्यानी क्रोध, अप्र०मान अप्र० माया और अप्र० लोभ कहते हैं। (३) प्रत्याख्यानी देश विरति को न रोक कर केवल सर्व विरति का प्रतिघातक हो उसको प्रत्याख्यानी क्रोध, प्रत्या० मान, प्रत्या० माया, और प्रत्या० लोभ कहते हैं, (४) सज्वल—यह सर्व विरति चारित्र का प्रतिबन्धक नहीं है तथापि किंचित् मलीन भाव रहता हो उनको सज्वल क्रोध, सज्वल मान, सज्वल माया, और सज्वल लोभ कहते हैं इसके उदय से यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति नहीं होती। इन सोलह कषायों का स्वरूप पहले कर्म ग्रन्थ में दृष्टान्तपूर्वक समझाया गया है। और तत्वार्थ भाष्य में भी सविस्तार वर्णन है।

नव नोकषाय—(१) हास्य, (२) रति=प्रीति (३) अरति=अप्रीत, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा=घृणा, (७) स्त्री

वेद (८) पुरुष वेद और (९) नपुंसक वेद। ये कषाय के सहचारी तथा कषायोद्दीपक होने से नो कषाय कहते हैं।

आयुष्य कर्म के भेद।

जीव की एक शरीरावस्थित काल मर्यादा को आयुष्य कहते हैं वह गति अपेक्षा से चार प्रकार है। (१) देवायु, (२) मनुष्यायु, (३) तिर्यंचायु, (४) नरकायु।

नाम कर्म के भेद।

प्रस्तुत सूत्र में नाम कर्म की ४२ प्रकृतियों का जिस अनुक्रम से वर्णन किया है उसको यथाक्रम न कह कर प्रथम कर्म ग्रन्थ की प्रणालिका के अनुसार विवेचन करते हुये उत्तर प्रकृतियों का नाम निर्देश करते हैं।

चौदह पिंड प्रकृति—(१) गति नाम कर्म जिसमें सांसारिक सुख दुःख का अनुभव होता है उसके चार भेद देव० मनुष्य० तिर्यंच० और नरक, [२] जातिनामकर्म=इन्द्रिय अनुभव विशेष से पांच प्रकार का है यथा एकेन्द्रियत्व से यावत् पंचेन्द्रिय, [३] शरीर नाम कर्म=संसारी जीवों के रहने का आधार विशेष उसके मुख्य पांच भेद हैं औदारिक० वैक्रिय० आहारक० तेजस० और कार्मण शरीर, [४] अंगोपांग नाम कर्म=शरीर गत अवयव विशेष, हाथ, पांव, मस्तक, अंगुली आदि, यथा—औदारिक अंगोपांग वैक्रिय अंगो० और आहारक अंगोपांग [तेजस, कार्मण के आंगोपांग नहीं होते] [५] बंधन कर्म=औदारिक शरीर योग्य पुद्गलों का परस्पर योग संबन्ध कराने वाले बन्धन नाम कर्म के पांच शरीर के नाम वाले पांच भेद हैं और परस्पर बिकल्प उठाने से पन्द्रह भेद भी होते है [६] संघातन कर्म=औदिराकादि शरीर योग्य

पुद्गलों को सग्रहीत करने वाली सत्ता को सघातन नाम कर्म कहते हैं इसके भी शरीर नाम की अपेक्षा से पाच भेद हैं, [७] सहनन नाम कर्म=हड्डी की विशिष्ट रूप से रचना विशेष को सहनन कहते हैं वह छ प्रकार है वज्र ऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, किलिका, और छेवट्ठ, [८] सस्थान नाम कर्म=शरीर की आकृति विशेष को संस्थान कहते हैं वह छ प्रकार है समचतुष्क० न्यग्रोध० सादि० कुब्ज० और वामन० हुडक, [६ १२] वर्ण, गध, रस, स्पर्श, नाम कर्म=शरीर गत श्वेतादि पाच वर्ण । सुरभि, दुरभि, दो गन्ध। तिक्त, कषायलादि पाच रस। गुरु, लघु, मृदु, कर्कश, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष आठ स्पर्श हैं [१३] आनुपूर्वी नाम कर्म = इसका उदय वक्रगति में होता है वक्रगति का स्वरूप अध्याय २ सूत्र २६ से ३१ के विवेचन में है चारगति के समान इसके भी चार नाम हैं [१४] प्रशस्त, अप्रशस्त चाल का नियामक विहायोगति नाम कर्म दो प्रकार का है, शुभ, अशुभ विहायोगति अवान्तर भेद होने के कारण चौदह पिंड प्रकृति कही जाती है।

त्रस दशक=[१] त्रस नाम कर्म, [२] बादर, [३] पर्याप्त, [४] प्रत्येक०, [५] स्थिर० [६] शुभ० [७] सौभाग्य० [८] सुस्वर, [६] आदेय, [१०] यश, कीर्ति।

स्थावर दशक—[१] स्थावर नाम कर्म, [२] सूक्ष्म०, [३] अपर्याप्त०, [४] साधारण०, [५] अस्थिर, [६] अशुभ०, [७] दौर्भाग्य, [८] दु स्वर० [६] अनादेय, [१०] अयश कीर्ति।

आठ प्रत्येक प्रकृति—[१] अगरूलघुनामकर्म, जिससे शरीर का मान अति गरु, लघु परिणामीन हो [२] पराघात० दूसरों से अजय, [३] उच्छ्वास० [४] आतप० [५] उद्योत० [६] तीर्थंकर [७] निर्माण० [८] उपघात।

उपरोक्त ४२ और उसके अवान्तर भेदों सहित नाम कर्म की १०३ प्रकृतियों का सविस्तार वर्णन पहले कर्म ग्रन्थ में है और वहां हरएक प्रकृति का स्वभाव स्पष्ट रूप से वर्णन किया है।

गौत्र कर्म के भेद।

देश, जाति, कुल, स्थान, मान, सत्कार, ऐश्वर्यादि की प्रकर्षता "उच्चता" के साधक को उच्च गौत्र और इससे विपरीत को नीच गौत्र कहते हैं।

अन्तराय कर्म के भेद।

वस्तु की प्राप्ति में भी उपभोग न कर सके वा इच्छित वस्तु प्राप्त न हो उसको अन्तराय कर्म कहते हैं वह पांच प्रकार है यथा दानान्तराय, भोगान्त० उपभोगान्त० वीर्यान्त० और लाभान्तराय

उपरोक्त प्रकृतियों के बन्ध को प्रकृति बन्ध कहते हैं इसको कर्म ग्रन्थ में अनेक प्रकार समझाया है पहिले कर्म ग्रन्थ में प्रकृतियों का स्वरूप और दूसरे, तीसरे, चौथे कर्म ग्रन्थ में मुख्यतया प्रकृति बन्ध का ही वर्णन है पांचवे कर्म ग्रन्थ मे भी ध्रुव बन्ध्यादि तथा भूयस्कारादि रूप से समझाया है भूयस्कारादि स्वरूप यथा पंचम कर्म ग्रन्थ गाथा २३

एगादहिय भूयो एगाइ ऊणगमि अप्पतरो।
तम्मतोऽवट्टियओ पढम समए अवतव्वो ॥२३॥

एक आदि प्रकृति का अधिक बन्ध भूयस्कार कहलाता है, वैसे ही नीन बन्ध को अल्पतर कहते हैं समको अवस्थित कहते हैं और अबन्धक होके फिर से बांधे वह प्रथम समय अव्यक्तव्य बन्ध

है जैसे=गाथा २२।

मूल आठ प्रकृतियों के बन्ध स्थान ४ हैं ८७६१ के तीन भूयस्कार होते हैं अवक्तव्य बन्ध नहीं है विशेष जिज्ञासुओं को उक्त ग्रन्थ की टीका या भाषान्तर देखना चाहिये वहां उत्तर प्रकृतियों सहित सविस्तार वर्णन है।

स्थिति वन्ध का वर्णन।

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम कोटी कोट्या परा स्थितिः ॥१५॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१६॥

नाम गोत्रयोर्विंशतिः ॥१७॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य ॥१८॥

अपराद्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१९॥

नाम गोत्रयोरष्टौ ॥२०॥

शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् ॥२१॥

अर्थ—प्रथम की तीन "ज्ञाना० दर्शना० वेदनीय" और अन्त राय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटा कोटि सागरोपम की है॥ १५ ॥

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सित्तर कोटा कोटि सागरोपम की है॥ १६ ॥

नाम, गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटा कोटि सागरोपम की है॥ १७ ॥

आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है॥ १८ ॥

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की है॥ १९ ॥

नाम, गौत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है ॥ २० ॥

शेष पांच कर्मों "ज्ञाना० दर्शना० अन्तराय० मोहनीय० आयुष्य" की जघन्य स्थिति अन्तर मुहूर्त की है ॥ २१ ॥

विवेचन—मूल प्रकृतियों का जो उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बताया है उसके अधिकारी मिथ्या दृष्टि संज्ञी पंचेंद्रिय ही कहे हैं तथापि पांचवे कर्म ग्रन्थ में उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बन्ध और उनके अधिकारी बताये हैं ॥

अविरय सम्मोतित्थं आहार दुगामराउ य पमत्ते ।
मिच्छा दिट्ठी बन्धइ जिट्ठठिइ सेस पयडीणं ॥ ४२ ॥

अर्थ—जिननाम कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अविरति सम्यग दृष्टि तथा आहारक द्विक और देवायु का प्रमत्त संयत, शेष ११६ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मिथ्यात्वी को होता है यह सामान्यापेक्षा गुणस्थानक विषयी है।

सूत्रार्थ में मूल ८ कर्मों की ३०-७०-२० कोड़ा कोड़ी सागरोपम की उ० स्थिति बताई है परन्तु उत्तर प्रकृतियों का स्थिति बन्ध ज्ञानाव० ५, दर्शनाव० ६ अन्तरायकी ५ को छोड़ के शेष उत्तर प्रकृतियों का स्थिति बन्ध भिन्न भिन्न है कर्म प्रकृति ग्रन्थ में स्थिति बन्धाधिकार ८ द्वारों सहित (गाथा ६८ से) बहुत विस्तार पूर्वक समझाया है। पांचवें कर्म ग्रन्थ में (गाथा २६ से) इसी विषय का संक्षेप से वर्णन है। जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति बन्ध के अधिकारी गुण स्थानक और गति की अपेक्षा कौन कौन और कैसी अवस्था में उन प्रकृतियों का बन्ध करते हैं उसको समझाया है विशेष जिज्ञासुवों को उक्त ग्रन्थ देखने चाहिये।

मूल सूत्र कारने वेदनी कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की कही है वह सकषाई की अपेक्षा समझनी चाहिये यथा—

मुतु अकषाय ठिइ बार मुहुत्त वे अणिग
कम ग्रन्थ गाथा ॥ २७ ॥
कषायिक परिणामों की तारतम्यता की अपेक्षा मध्यम स्थिति असंख्यात प्रकार की है।

अनुभाग बन्ध वर्णन

विपाकोऽनुभावः ॥ २२ ॥
स यथानाम ॥ २३ ॥
ततश्चनिर्जरा ॥ २४ ॥

अर्थ—कर्म के विपाक "फल" को अनुभाग बन्ध (रस बन्ध) कहते हैं ॥ २२ ॥

वह (अनुभाग बन्ध) कर्म प्रकृतियों के स्वभावानुसार वेदा जाता है ॥ २३ ॥

उन यद ' भोगे ' हुये कर्मों की निर्जरा होती है ॥ २४ ॥

विवेचना—प्रकृति बन्ध होते समय ही उसके कारण भूत कषायिक परिणामों की तिव्रता मंदता के अनुसार उन प्रकृतियों में तिव्रता मन्दता रूप फल देने की शक्ति प्राप्त होती है उसका अनुभाव या अनुभाग कहते हैं और उसके निर्माण को अनुभाग बन्ध कहते हैं इसको कम प्रकृति ग्रन्थ में अविभाग, वर्गणा, स्पर्ध कादि १४ द्वार करके बहुत विस्तार पूर्वक समझाया है और पांचवें कर्म ग्रन्थ में भी इसका सक्षप स्वरूप है (गाथा ६ से ७४)

स्थिति बन्ध की परिपक्व अवस्था होनेपर अनुभाग बन्ध फल प्रद होता है यहाँ भी स्वकर्म लिए (अपने ही कर्म का) जैसे-ज्ञानावर्णीय कर्म का अनुभाग (रस) अपने स्वभाव को तीव्र या मद रूप से ज्ञान कोंदा आवृत करने वाला होता है परन्तु अन्य कर्म (दर्शनावर्ण वेदना आदि) फल स्वभाव को

प्राप्त नहीं होता इसी तरह दर्शनावरणीय कर्म का अनुभाग-दर्शनावरणीय कर्म का अनुभाग दर्शन शक्ति को ही तीव्र या मंद पने आच्छादित करता है परन्तु अन्य ज्ञानादि कर्म प्रकृतियों को आच्छादित नहीं करता। यह नियम मूल प्रकृतियों के लिये है उत्तर प्रकृति अध्यवसाय के बल से सजातीय रूप में बदल जाती है और वह अपने स्वभाव के अनुसार तीव्र, मंद फल देती है जैसे मति ज्ञानावरणीय कर्म का श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म में संक्रमण होता है तब वह श्रुत ज्ञानावरणीय अनुभाग (रस) वाली हो जाती है परन्तु उत्तर प्रकृतियों में भी कितनीक ऐसी प्रकृतियों हैं जिन का सजातीय में संक्रमण नहीं होता जैसे-दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय का परस्पर संक्रमण नहीं होता इसी तरह आयुष्य कर्म की उत्तर प्रकृतियों का संक्रमण एक दूसरे में नहीं होता यथा—

मोह दुगाउगमूल पगईण ना परोप्परं मि संकमण ॥

(कम्मपयडी संक्रमणाधिकार) गाथा-३

संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तनादि अधिकार कर्म प्रकृति ग्रन्थ-के टीकाकी गुजराती व्याख्या में सविस्तार समझाया है।

अशुभ. और शुभ प्रकृति का तीव्ररस अनुक्रम से संक्लेस और विशुद्ध परिणामों से होता है और मंद रस इससे विपरीत पने होता है।

अनुभाग से वेदाये हुए कर्म आत्म प्रदेशों से प्रथक होते हैं उनका आत्मा के साथ संलग्न नहीं रहता उसी कर्म निवृति को निर्जरा कहते हैं, कर्मों की निर्जरा जैसे कर्म फल वेदने [भोगने] से होती है वैसे तपोबल से भी होती है और वे कर्म आत्म प्रदेशों

से अलग हो जाते हैं सूत्र में "च" शब्द है वह यही बात सूचित करता है इसका स्वरूप आगे अध्याय १० सूत्र ३ से कहेंगे ॥

प्रदेश बन्ध वर्णन ।

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैक—
क्षेत्रावगाढ स्थिताः सर्व आत्म प्रदेशेष्वान- -
नन्ता नन्त प्रदेशा' ॥ २५ ॥

अर्थ—बध्यमान कर्म के कारण भूत कर्म पुद्गलों का सर्व प्रकार के योग विशेष द्वारा सूक्ष्म रूप से रहे हुवे एक प्रदेश क्षेत्रावगाही अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध को सर्व आत्म प्रदेशों से सब आत्म प्रदेशों में बन्ध होता है ॥ २५ ॥

विवेचन—आत्मा के साथ कर्म स्कन्ध योग्य पुद्गल प्रदेशों के संबन्ध को प्रदेश बन्ध कहते हैं इस विषय में आठ प्रश्न उत्पन्न होते हैं उसी को प्रस्तुत सूत्र से समझाते हैं।

(१) प्रश्न—कर्मस्कन्धों के बन्ध से क्या निर्माण होता है ?

उत्तर—आत्म प्रदेशों के साथ बन्धे हुवे पुद्गल स्कन्ध कर्म भाव अर्थात्—ज्ञानावरण्यादि प्रकृति रूप से परिणत होते हैं याने उससे कर्म प्रकृतियों का निर्माण होता है इसलिये वे कर्म प्रकृतिके कारण भूत हैं।

(२) प्रश्न—वे स्कन्ध ऊंची, नीची, तिरछी दिशाओं में रहे हुये ऊंची, नीची, तिरछी दिशा के आत्म प्रदेशों से ग्रहण होते हैं?

उत्तर—जिस दिशी में रहे हुये पुद्गल स्कन्ध उसी दिशी के आत्म प्रदेशों से ग्रहण होते हैं।

(३) प्रश्न—सब जीवों के कर्म बन्ध समान रूप हैं या असमान ?

उत्तर—सब संसारी जीवों का कर्म वन्ध एक समान नहीं होता इसका कारण यह है कि उनके मानसिक, वाचिक, कायिक योग=व्यापार एक सदृश नहीं है योगों की तारतम्यता के अनुसार कर्म वन्ध प्रदेशों में तारतम्य भाव रहता है।

[४] प्रश्न—वे कर्म स्कन्ध सूक्ष्म हैं ? वा स्थूल ?

उत्तर—कर्म योग्य पुद्गलस्कन्ध स्थूल = बादर नहीं होते किन्तु सुक्ष्म भाव में रहते हैं और वेही कर्म वर्गणा योग्य हैं।

(५) प्रश्न—जीव प्रदेश क्षेत्र में रहे हुवे कर्म स्कन्धों का जीव प्रदेशों के साथ वन्ध होता है वा अन्य क्षेत्र में रहे हुवे स्कन्धों के साथ ?

उत्तर—जीवप्रदेशावगाढ़ कर्म स्कन्धों के सिवाय अन्य प्रदेशान्तर रहे हुवे स्कन्ध अग्राह्य हैं।

[६] प्रश्न—गति शील कर्म स्कन्धों का वन्ध होत है ? वा स्थिति शील ?

उत्तर—स्थिर कर्म स्कन्धों का वन्ध होता है गति शील स्कन्ध अस्थिर होने से उसका वन्ध नहीं होता।

[७] प्रश्न—उन कर्म स्कन्धों का वन्ध सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों के साथ होता है वा न्यूनाधिक आत्म प्रदेशों के साथ ?

उत्तर—समस्त आत्म प्रदेशों के साथ वन्ध होता है।

(८) प्रश्न—कर्म स्कन्धों के प्रदेश संख्याते असंख्याते वा० अनन्ते होतेहैं ?

उत्तर—कर्म योग्य स्कन्ध के पुद्गल " परमाणु " नियमा अनन्तानन्त प्रदेशी होते है संख्यात, असंख्यात वा अनन्त परमाणुवों से बने हुवे स्कन्ध अग्राह्य है। यही स्वरूप पांचवें कर्म ग्रन्थ की ७८-७९ गाथा में है यथाः—

अतिम चउकास दुगध पच वन्नरस कम्म खंध दल।
सव्वजि अणत गुणरस अणुजुत्त मणतय पएस ॥ ७८ ॥
एक पएसो गाढं निअसव पएमओ गेहइ जिओ ॥

और यहां यह भी बताया है कि बन्ध मान स्कंधों के कर्मदल का विभाग कौनसी कर्म प्रकृति को कितना मिलता है ॥ २५ ॥

पुण्य और पाप प्रकृतियों का विभाग।

सद्वेद्य सम्यक्त्व हास्यरति पुरुषवेद शुभायुर्ना—
मगोत्राणि पुण्यम ॥ २६ ॥

अर्थ—सातावेदनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभायुष्य, शुभ नाम, शुभ गौत्र ये पुण्य रूप हैं शेष प्रकृतिया पाप रूप हैं। ॥ २६ ॥

विवेचन—बन्धमान कर्म के विपाकों की शुभाशुभता अध्यव सायों पर निर्भर है शुभ अध्यवसाय का विपाक भी शुभ " इष्ट " होता है और अशुभ अध्यवसाय का विपाक भी अशुभ " अनिष्ट " होता है। परिणामों में सक्लेश की मात्रा जितनी न्यूनाधिक होगी उतने ही परिणाम से शुभाशुभ की विशेषता रहेगी शुभ और अशुभ दोनों प्रकृतियों या बन्ध एक साथ एक समय होता है परिणामों की ऐसी धार नहीं है कि मात्र शुभ या अशुभ एक ही प्रकार की प्रकृतियों का बन्ध होता है। उभय प्रकृतियों का एक एक साथ बन्ध होते हुवे भी व्यवहारिक प्रवृति में जो शुभत्व अशुभत्व की भावना मानी जाती है यह केवल व्यवहारिक प्रवृति की मुख्यता, गौणता पर है जिस शुभ परिणाम से पुण्य प्रकृतियों का शुभ अनुभाग (रस) बन्धता है उसी परिणाम से पाप प्रकृ

तियों का अशुभ अनुभाग (रस) भी वन्धता है और जिस समय अशुभ परिणाम से पाप प्रकृतियों का अशुभ अनुभाग वंधता है उसी समय उस परिणाम से पुण्य प्रकृति का शुभ अनुभाग वन्ध भी होता है तथापि शुभ परिणामों की प्रकृष्टता के समय शुभ अनुभाग की प्रकृष्टता रहती है और अशुभ अनुभाग निकृष्ट होता है इसी तरह अशुभपरिणामों की प्रकृष्टता में अशुभ अनुभाग की प्रकृष्टता और शुभ की निकृष्टता रहती है।

सूत्रोक्त आठ प्रकारसे पुण्य प्रकृतियां वताई हैं वे मूल पांच कर्मों की हैं (१) सातावेदनीय, (वेदनी कर्म की). (२) सम्यक्त्व, ३ हास्य, ४ रति, ५ पुरुषवेद ये मोहनीय कर्म के दर्शन मोह० चारित्रमोह० की प्रकृतियां हैं (३) शुभायुष्य (आयुष्य कर्म की) (४) ७ शुभ नाम (नाम कर्म की प्रकृति) (५) शुभ गौत्र (गौत्र कर्म की प्रकृति है शेप रहे हुवे पाप प्रकृतियां हैं।

सूत्र कारने वेदनी और मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृति वात के शेप नाम, गौत्र, आयुष्य शुभ कहके छोड़ दिया उनकी उत्तर प्रकृतियां नहीं वताई पांचवें कर्म ग्रन्थ में ४२ प्रकृति पुण्य और ८२ प्रकृतियां पाप कही हैं।

२ २ १ १ १० ५ ३ १ १
सुरनर, तीगुच्च, सायं तसदस तणुवग वइर चउरंसं ॥
७ १ ४ १० १
परघासग तिरिआउ वन्नचउ पणिंदि सुभखगई ॥ १५ ॥
४२ ५ १ ५
वयाल पुण्यपगइ । अपढमसंगण खगई संघयणा ॥
२ १ १ १ १ ३ ३
तिरिदुग असायं निओवघाय इग विगल-निरियतिंग ॥ १६ ॥
१० ४ ४५ ८२
थवारदस वन्नचउक घाईपणयालं सहिय वासीह ॥
पाव पयडित्ति दो सुवि वन्नाई गहा सुहा असुहा ॥ १७ ॥

अर्थ—देवत्रिक (गति आनुपूर्वी, आयुष्य) एवं मनुष्य त्रिक, ऊंचगोत्र, सातावेदनीय, त्रसदशक, पांच शरीर (औ० वै० आ० तै० का०), उपांग तीन (औ० वै० आ०) वज्र ऋषभ नाराच संघयण, समचौरस संस्थान, पराघात सप्तक (परा० उच्छ्वास० आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण), तिर्यंचायुष्य, वर्ण चतुष्क (वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श), पंचेन्द्रिय, शुभ विहायोगति एवं ४२ पुन्य प्रकृति हैं।

प्रथम को छोड़ के पांच संस्थान (निग्रोध, सादि, कुब्ज, वामन, हुंड), अशुभ विहायोगति, प्रथम को छोड़ के पांच संहनन (ऋषभ ना० नराच० अर्द्धना०, किलीका छेवट्ठ) तिर्यंच द्विक (गति, आनु०) असाता वेदनी, नीच गोत्र, उपघात, एकेन्द्रियजाति, विकलेन्द्रिय (द्वि० ति, चौरेन्द्रि) नरक त्रिक (गति० आनु० आयु०), स्थावर दशक वर्ण चतुष्क, सर्व घाती और देश घाती ४५ [केवल ज्ञान १, केवल दर्शन १, पांच निद्रा, बारह कषाय, १२ और मिथ्यात्व सर्वघाती २०। चार ४ ज्ञान ३ तीन दर्शन ४ संज्वल चार कषाय, नवनोकषाय ९ और पांच अंतराय यह २५ देश घाती एवं ४५] यह सब मिलकर ८२ पाप प्रकृति कहलाती हैं वर्ण चतुष्क शुभाशुभ की अपेक्षा पुन्य और पाप दोनों में सम्मिलित हैं

इति तत्वार्थ सूत्र अष्टमऽध्याय हिन्दी अनुवाद

समाप्त

नवम अध्याय

अष्टम अध्याय में बन्ध का निरूपण किया अब क्रमशः नवम अध्याय में सम्वरतत्व और निर्जरातत्व का निरूपण करते हैं।

संवर स्वरूप ।

आस्रव निरोधः संवरः ॥ १ ॥

अर्थ—आस्रव का निरोध ही संवर है ॥ १ ॥

विवेचन—जिस निमित्त से कर्म बन्ध होता है उसे आस्रव कहते हैं (अध्याय ६ सूत्र २) आस्रव का प्रतिबन्ध अर्थात् निरोध करना ही संवर है आस्रव के ४२ भेदों का वर्णन अध्याय ९ सूत्र ६ से ९ तक करचुके हैं उनका जितने अंशों में निरोध होगा उतना ही संवर कहलायगा अध्यात्म विकास अर्थात् गुणस्थानक का क्रम आस्रव निरोध पर अवलंबित है जैसे जैसे आस्रव निरोध होता जायगा वैसे ही उत्तरोतर गुणस्थानक (याने अध्यात्म विकास) की अभिवृद्धि होती रहेगी। ॥ १ ॥

संवर का उपाय ।

सगुप्ति समितिधर्मा नुपेक्षा परीपद जय चरित्रैः ॥ २ ॥

तपसारा निर्जश्च ॥ ३ ॥

अर्थ—वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीसह, जय और चरित्र से होता है ॥ २ ॥

तप से संवर तथा निर्जरा दोनों होती है ॥ ३ ॥

विवेचन—संवर का स्वरूप वास्तविक रूप से एक ही प्रकार है तथापि उपाय भेद से शास्त्रकारों ने सूत्र में मुख्य सात भेद प्रतिपाद किये हैं आगे इसकी ६९ भेद प्रभेदादि से व्याख्या करेंगे वे सब धर्माचार्यों के धार्मिक विधानों पर अवलंबित हैं।

तप जैसे सम्वर का उपाय है वैसे निर्जरा का भी उपाय है सामान्यतया तप लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन माना जाता है तथापि निश्चय यह आध्यात्मिक सुख का साधन भी है कारण तप एक प्रकार होते हुवे भी भावना भेद अर्थात् इच्छानुरोध की भेद कल्पना से सकाम और निष्काम दो प्रकार का होता है सकाम तप लौकिक सुख का साधन है और निष्काम तप आध्यात्मिक सुख का साधन है।

नव तत्व प्रकर्ण की व्याख्या में कहा है कि नवीन कर्मों के आगमन को रोके वह संवर। इसको द्रव्य संवर कहा है और कर्म रोकने के लिये शुद्ध उपयोग रूप आत्म परिणामों की धारा को भाव सम्वर कहते हैं इसीके उपाय हेतु मुख्य ६ भेद और उत्तर ५७ भेद साधन रूप बताये हैं यथा—

समिइ, गुत्ति, परीसह, जइधम्मो, भावणा चरित्ताणि ॥
पण ति दुवीस दश वार स पच भेएहिं सगवन्ना ॥ २५ ॥
(नवतत्व प्रकर्ण)

गुप्ति स्वरूप।

सम्यग्योगनिग्रहोगुप्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रशस्त रूप से योग निग्रह को गुप्ति कहते हैं ॥ ४ ॥

विवेचन—पूर्वकथित (अध्याय ६ सूत्र १) योगों को सर्व प्रकार से रोकना अर्थात् "निग्रह" करना, यह वास्तविक संवर नहीं है ज्ञान और श्रद्धा पूर्वक प्रशस्त रूप से जो निग्रह किया जाय वही गुप्ति रूप से संवर का उपाय हो सकता है अर्थात् ज्ञानबुद्धि से श्रद्धा पूर्वक मन, वचन, काय, के उन्मार्ग को रोकना ही गुप्ति है इसके मुख्य तीन भेद हैं [१] मनो गुप्ति. [२] वचन गुप्ति, [३] काय गुप्ति। अर्थात् मन, वचन, काय के सावद्य व्यापारों का निरोध करना।

समिति का स्वरूप।

ईर्या भाषाएषणादान निक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

अर्थ—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेप और उत्सर्ग यह पांच भेद समिति के है ॥ ५ ॥

विवेचन—मन, वचन, काय के व्यापारों की विवेक युक्त प्रवृत्ति को समिति कहते हैं यह पूर्वोक्त गुप्ति का अपवाद मार्ग है समवायांग सूत्र में तीन गुप्ति को (चारित्र का) उत्सर्ग मार्ग और इन गुप्तियों का अपवाद मार्ग पांच समिति कहा है वह केवल उत्सर्ग को कायम रखने के लिये है इसके लिये शास्त्रों में दृष्टांन्त है कि किसी मकान का भारवट [पटियां] तड़क गया हो या जीर्ण हो गया हो ऐसी अवस्था मे उसके खंभा लगा देना अति आवश्यकीय है इस तरह उत्सर्ग को कायम रखने के लिये ही अपवाद है अन्यथा अपवाद वर्जनीय है।

(१) ईर्या समिति–किसी भी जीव को किसी प्रकार कष्ट न हो ऐसी विवेकता पूर्वक सावधानी के साथ गमन करना।

(२) भाषा समिति—सत्य हितकारी उपयोग सहित परिमित बोलना।

(३) एषणा समिति—जीवन यात्रा के लिये आवश्यकीय निर्दोष वस्तुओं की सावधानी के साथ याचना करने के लिये प्रवर्तमान होना।

(४) आदान निक्षेप समिति—वस्तु मात्र को यत्न पूर्वक प्रमार्जन करके लेनी या रखनी।

(५) उत्सर्ग समिति—अनुपयोगी वस्तु को जीवा कुल रहित "निर्वद्य" भूमि में डालनी।

यति धर्म के भेद।

उत्तम क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयम त-
पस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचार्याणि धर्मः॥ ६ ॥

अर्थ—क्षमा, मार्दव, आर्जव शौच, सत्य, संयम, तप त्याग, अकिंचन, और ब्रह्मचर्य यह दश प्रकार का उत्तम धर्म है।

विवेचन—क्षमादि गुणों के साधन से ही क्रोधादि दोषों का अभाव हो सकता है इसलिये वे गुण संवर के उपाय रूप हैं। क्षमादि दश प्रकार का धर्म जब अहिंसा, सत्यादि मूल गुणों सहित और शुद्ध आहारादि प्रकर्ष उत्तर गुणों सहित हो तब उन्हें यति धर्म कहते हैं अन्यथा वे गुण यति धर्म रूप नहीं हो सकते। मूल गुण उत्तर गुण रहित यदि क्षमादि गुण होतो उसे सामान्य धर्म कह सकते हैं परन्तु यति धर्म की उच्चकोटि में उस का समावेश नहीं हो सकता। वह दश प्रकार यति धर्म जैसे—

(१) क्षमा—सहन शीलता को क्षमा कहते हैं क्षमा तितिक्षा, सहिष्णुता तथा क्रोध निग्रह ये एकार्थ वाची शब्द हैं।

(क) यदि कोई क्रोधातुर हो उस समय यह विचार करना चाहिये कि क्या इस में मेरी भूल है यदि अपनी ही भूल मालूम होतो शान्त होना चाहिये और अपनी भूल न होतो विचार ना चाहिये कि इसमें इतनी वुद्धि नहीं है कि वह मेरी वात को समझ सके इसलिये तुच्छ वुद्धि समझ कर उस पर क्षमा करे।

(ख) क्रोध के आवेश से मति और स्मृति भंग हो जाती है और शत्रुतादि अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं यावत् अहिंसा व्रत के लोप का हेतु समझ के क्षमा गुण को धारण करे।

(ग)--यदि कोई कटु वचन या परोक्ष में निंदा करे तो समझना चाहिये कि तुच्छ वुद्धि वालों का ऐसा ही स्व भाव होता है।

(घ)—किसी अहित वा अनिष्ट कार्य की उपस्थिति समय अपने पूर्वकृत कर्म के विपाकों का उदय समझ चित्त में स्वस्थता रक्खे इस तरह अनेक प्रकार चिन्तवन करता हुआ क्षमा प्रदान करे।

(२) मार्दव—चित्त में मृदुता और वाह्य व्यवहार में नम्रता वृत्ति को मार्दव कहते हैं इस गुण को धारण करने से वा इस की ओर हमेशा चित्तवृत्ति को आकर्षित करने से जाति, कुल रूप. ऐश्वर्य, (ठकुराई) विज्ञान श्रुत (शास्त्र सम्पत्ति), लाभ (इष्ट वस्तु की प्राप्ति) और वीर्यादि आठ प्रकार के मद से होने वाली चित्त की उन्मादकता तथा अहं भाव आदि अनेक प्रकार के दोषों का निग्रह होता है। अर्थात् उपरोक्त आठों मद को चित्त से निकाल देना ही मार्दव धर्म है।

(३) आर्जव—कहना, करना और विचारना इन तीनों की एक्यता अर्थात् विशुद्ध भाव सहित सरलता को आर्जव कहते हैं।

(४) शौच्य—लोभ के अभाव को शौच कहते है। शुचि भाव अर्थात् पवित्र कम को शौच कहते हैं भावविशुद्धि या निष्कलपता अर्थात् लोभादि मलीन भावों रहित मात्र धम साधना सक्त भाव ही शौच है।

(५) सत्य—मिथ्या दोष रहित हितकर वचन को सत्य कहते हैं अर्थात् कठोरता, चपलता, असभ्यता, पैशुन्यतादि दोष रहित सत्य भाषा आदरणीय है।

(६) सयम- तीन प्रकारों के योगों (मन, वचन, काय) का निग्रह करना सयम कहलाता है उसके सतरह भेद हैं यथापाच स्थावर, चार त्रस, विषय सयम, प्रेक्षा स० उपेक्षा स० अपहृत सं० प्रमृज्य स० काय स० वाक स मन स० उपकरण सयम एव १७ तथा और भी अन्य प्रकार से जैसे—पाच इन्द्रिय, पाच अव्रत, चार कषाय और तीन योगों का निग्रह करना सयम है।

(७) तप—बाह्य और अभ्यन्तर दो प्रकार का है जिसका वर्णन सूत्र १६-२० में करेंगे।

(८) त्याग—वाह्य, अभ्यन्तर उपाधि, शरीर तथा असनपा नादि आश्रयीभूत दोषों का परित्याग और योग्य पात्र को ज्ञानादि सद्गुण देना यह त्याग धर्म है।

(९) अकिंचन—शरीर, वस्तु, शिष्यादि सामग्रियों में किसी प्रकार का भी ममत्व न रखना अकिंचन धर्म है

(१०) ब्रह्मचर्य—व्रत के परिपालन अथवा ज्ञान की विशेष वृद्धि के लिये गुरुकुलादि सेवन करना या अब्रह्मचर्य का स्वरूप अध्याय ७ सूत्र ३ में चौथे व्रत की भावनायें। यह दश प्रकार का उत्तम धर्म यति-अनगार या साधु धर्म कहलाता है ॥ ६ ॥

अनुपेक्षा के भेद।

अनित्याशरण संसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वा—
स्रवसंवर निर्जरा लोक बोधि दुर्लभ धर्म स्वा—
ख्याततत्वानु चिन्तनमनुप्रेक्षा ॥ ७ ॥

अर्थ—अनुप्रेक्षा के बारह भेद हैं (१) अनित्य, (२) अशरण (३) संसार (४) एकत्व (५) अनित्यत्व (६) अशुचि (७) आस्रव (८) संवर (९) निर्जरा (१०) लोक स्वरूप (११) बोधि दुर्लभ (१२) धर्मस्वाख्यात के अनुचिंतन को धर्म अनुप्रेक्षा कहते है ॥ ७ ॥

विवेचन—अनुप्रेक्षा अर्थात् तात्विक दृष्टि से गहन विचार जो बारह भावना के नाम से विख्यात है इसके द्वारा राग द्वेष कुत्सित प्रवृतियों का निरोध होता है इसलिये यह संवर का उपाय रूप हैं और ये भावनाये जीवन शुद्धि के लिये विशेष उपयोगी हैं बाह्याभ्यन्तर सब प्रकार के पदार्थ मात्र की अनित्यतादि का चिन्तवन ही अनुपेक्षा है बारह भेद यथा—

(१) अनित्यानुपेक्षा—किसी भी प्राप्त वस्तु के वियोग से दुःख न हो-इसलिये उस पर से ममत्व निकालने के लिये, शरीर घर कुटुम्बादि वस्तुये सब अनित्य है, विनासवान है। ऐसा चिन्तवन करने से तत् वियोग जनित दुःख नहीं होता इसको अनित्य भावना (अनुपेक्षा) कहते हैं।

(२) अशरणानुपेक्षा—जैसे=महा अरण्य में क्षुधातुर प्रबल सिंह द्वारा सताये हुवे हरिण के बच्चे को कोई शरण (सहायक) नहीं है वैसे-संसार रूपी महा अरण्य में भ्रमण करते हुवे जन्म, जरा, मरण, आदि अनेक व्याधियों से ग्रस्त जीव को धर्म के सिवाय अन्य कोई शरण नहीं है इस विचार श्रेणी को अनित्य भावना कहते हैं।

(३) संसारानुपेक्षा—यह संसार हर्ष, विषाद, सुख, दुःखादि द्वन्द्व विषयों का उपवन (बगीचा) है इस अनादि जन्म मरण की घटमाल में फंसे हुवे जीव का वास्तविक कोई भी स्वजन परजन नहीं है जन्मान्तर में सब प्राणियों के साथ सब प्रकार का सम्बन्ध कर चुका है केवल राग द्वेष और मोह संतप्त जीवों को विषय तृष्णा के कारण परस्पर का आस्रय दुःख अनुभव होता है संसारी तृष्णाओं को त्याग ने के लिये सांसारिक वस्तुओं से उदासीन भाव रहना ही संसार भावना है। इससे संसार की असारता अनुभव होती है।

(४) एकत्वानुपेक्षा—संसार में, जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है और अकेला ही अपने बोये हुवे कर्म रूप बीज के सुख दुःखादि फलों को अनुभव करता है व्याधि, जन्म, जरा, मरणादि दुःखों को अपहरण करे ऐसा कोई भी स्वजन सम्बन्धी नहीं है मुमुक्षु जीवों को राग द्वेष प्रसंगों से निर्लेप होने के लिये जीव अकेला और असहाय है ऐसा चिन्तवन करे उसको एकत्व भावना कहते हैं।

(५) अनित्यानुपेक्षा—मनुष्य मोहावेश के कारण शरीर वा अन्य वस्तुवों की प्राप्ति, अप्राप्ति ही में अपनी उन्नतावनत दशा को मानकर यथार्थ कर्त्तव्य को भूल जाता है आत्मा से शरीरादि अन्य पदार्थ सब भिन्न हैं आत्मा नित्य है वे अनित्य हैं इन्द्रियादि अन्य पदार्थ जड़ है मैं चैतन्य हूँ अनन्त अविनाशीरूप हूँ इत्यादि सांसारिक वस्तुवों की अनित्यता का चिंतवन करना ही अनित्य भावना है।

(६) अशुचित्वानुपेक्षा—सब से विशेष मोह शरीर पर होता है इससे मूर्च्छा हटाने के लिये शरीर के अशुचिपन का चिन्तवन अर्थात् यह शरीर अशुचि से उत्पन्न होने वाला अशुचि का स्थान

और अशुचि मय है ऐसे चिन्तवन को अशुचि भावना कहते हैं।

(७) आस्रवानुपेक्षा—इन्द्रिय विषयासक्त जीवों को वध, बन्धनादि अनेक प्रकार के दुःख अनुभव करने पड़ते हैं वास्ते प्रत्येक इन्द्रिय जनित राग से उत्पन्न होने वाले अनिष्ट परिणामों का चिन्तवन करना ही आस्रव भावना है।

(८) संवरानुपेक्षा—दुर्वृति के द्वारों को बन्ध करने के लिये सद्वृत्ति के गुणों का चिन्तवन करना इसको संवर भावना कहते हैं।

(९) निर्जरानुपेक्षा—वेदना, विपाक, कर्मफल, निर्जरा ये एकार्थ वाची शब्द हैं निर्जरा अज्ञान और सज्ञान रूप दो प्रकार से होती है जिसको सकाम, अकाम निर्जरा भी कहते हैं कर्म विपाक को अनुबन्ध रहित सद्परिणामों से भोगना या इसके लिये तप त्यागादि कुशल प्रवृतियों का चिन्तवन करना निर्जरा भावना है।

(१०) लोकानुप्रेक्षा—तत्वज्ञान की विशुद्धि के लिये विश्वका वास्तविक स्वरूप चिन्तवन करना ही लोक भावना है।

(११) बोधीदुर्लभानुप्रेक्षा—मोक्ष मार्ग के लिये अप्रमत भाव की अभिवृद्धि के हेतु सद् विचारों का चिन्तवन अथवा—मोहादि कर्मों के तीव्रआघात से तथा अनादि प्रवाह रूप दुःखों के प्रपंच जाल में जीव को विशुद्धि दृष्टि और शुद्ध चारित्र प्राप्ति अति दुर्लभ है ऐसे विशुद्ध विचारों को बोधीदुर्लभ भावना कहते हैं।

(१२) धर्मानुप्रेक्षा—धर्म मार्ग से च्युत न हो और उसके अनुष्ठानो में स्थिरता प्राप्त करने के लिये धर्म की उत्तमता और श्रेष्ठताका चिन्तवन करना ही धर्म भावना है॥ ७॥

परीसहों का वर्णन।

मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परिषढ्व्याः परीसहाः ॥ ८॥

क्षुत्पिपासाशीतोष्ण दशमशक नाग्न्यारतिस्त्री—
चर्या निशद्या शय्या क्रोशवधयाचना लाभरोग--
तृण स्पर्शमलसत्कार पुरस्कार प्रज्ञाज्ञाना दर्शनानि ॥ ९ ॥
सूक्ष्म सम्पराय च्छ छद्मस्थ वीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥
एकादश जिने ॥ ११ ॥
बादर सपराये सर्वे ॥ १२ ॥
ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥
दर्शन मोहान्तराययोरदर्शना लाभौ ॥ १४ ॥
चारित्र मोहे नाग्न्यारति स्त्री निषद्या क्रोश याचना
सत्कार पुरस्कारा॰ ॥ १५ ॥
वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥
एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशते ॥ १७ ॥

अर्थ—सन्मार्ग से च्युत न होकर निर्जरा (कर्मनाश) के लिये जो सहन किया जाय उसे परीसह कहते हैं ॥ ८ ॥

ये मुख्यतया २२ हैं (१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दश मशक, (६) नग्नत्व, (७) अरति, (८) स्त्री (९) चर्या, (१०) निषद्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृणस्पर्श, (१८) मल, (१९) सत्कार पुरस्कार, (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान, (२२) अदर्शन परीसह ॥ ९ ॥

सूक्ष्म सपराय और छद्मस्थ वीतराग में चवदह (१४) परीषह होते हैं ॥ १० ॥

जिन (तीर्थंकर भगवान) में ग्यारह (११) परीसह होते हैं ॥ ११ ॥

बादर संपराय में सब परीसह होते हैं ॥ १२ ॥

ज्ञानावरण निमित्त से प्रज्ञा और अज्ञान दो (२) परीसह होते हैं ॥ १३ ॥

दर्शन मोह और अन्तराय कर्म से यथा क्रम दर्शन और अलाभ परीसह होता है ॥ १४ ॥

चारित्र मोहनीय कर्म से नग्नत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, और सत्कार पुरस्कार एवं ६ परीसह होते हैं ॥ १५ ॥

और शेष परीसह वेदनीय कर्म से होते हैं ॥ १६ ॥

एक समय एक साथ एक आदमी को एक से यावत् उन्नईस परीसह पर्यन्त होते हैं ॥ १७ ॥

विवेचन—संवर के उपाय भूत परीसहों का वर्णन करते हुवे सूत्रकार मुख्य पांच वातों का निरूपण करते हैं (१) परीसह (२) उनकी संख्या, (३) अधिकारी, (४) कारण निर्देश, (५) एक साथ एक जीव में कितने परीसहों का संभव होता है इनका यथा क्रम विवेचन करते हैं।

लक्षण—सम्यग् दर्शनादि सन्मार्ग में अवस्थित रहते हुवे कर्मों की निर्जरा अर्थात् कर्मों को नाश करने के लिये अनेक प्रकार उपद्रव दुःख पीड़ादि को समभाव पूर्वक सहन करना ही परीसह कहलाता है।

संख्या—परीसह के संख्याओं की कल्पना संक्षेप और विस्तार भावापेक्षा न्यूनाधिक रूप से भी की जासकती है किसी प्रकार की पीड़ा या उपद्रव के समय भी अपनी त्याग वृति की भावनाओं को सदा प्रफुल्लित बनाये रखना अति आवश्यकीय है प्रस्तुत सूत्र

से जो बाईस परीसह बताये जाते हैं वे पाच कर्म प्रकृतियों (ज्ञाना० दर्शना० वेदनी० मोहनीय० अन्तराय) के उदय भाव में होते हैं। उनके नाम—

(१ २) क्षुधा और पिपासा परीसह-कठिन भूख और तृषा के समय भी अपनी मर्यादा के विरुद्ध आहार पानी ग्रहण न करे और समभाव पूर्वक उस वेदना को सहन करे।

(३-४) शीत और उष्ण परीसह—उत्कट ठंड और गर्मी के समय की असह्य वेदनां के समय भी कल्पनीय वस्तु के सेवन की इच्छा मात्र भी न करके समभाव पूर्वक वेदना सहन करे।

(५) दश मशक परीसह - मच्छरादि जन्तुवों के उपद्रव से मन (हताश) न होकर समभाव पूर्वक सहन करे।

(६) नग्नत्व परीसह—नग्न पने को समभाव पूर्वक सहन करे इसी परीसह के विषय में श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में मुख्य मत भेद है और इसी पर से श्वेताम्बर, दिगम्बर यह नाम भी रखा हुवा है।

(७) अरति परीसह—किसी प्रकार का भी प्रतिकूल प्रसंग उपस्थित होने पर मन में ग्लानी या अधैर्यता न लाकर धैर्यता धारण करनी।

(८) स्त्री परीसह—साधक पुरुष हो वा स्त्री अपने साधन मार्ग में विजातीय आकर्षण से ललचाय मान हो के पतन अवस्था को प्राप्त न होकर सदा चारित्र से रहना।

(९) चर्या परिसह--किसी एक नीयत स्थान में आवास न करके असगत पने धर्म जीवन की पुष्टि करता हुवा स्थानान्तर गमन करता रहे।

(१०) निषद्या परीसह—साधन की अनुकूलता के अनुसार

एकन्त स्थान में मर्यादित समय तक एकासन से ध्यानस्थ बैठे हुवे को यदि भय उपस्थित हो उस समय मन को स्थिर रखता हुवा आसन से च्युत न हो।

(११) शय्या परीसह—स्वभावतः कोमल या कठिन अनुकूल या प्रतिकूल जैसी शय्या प्राप्त हो उसी पर समभाव पूर्वक शयन करना।

(१२) आक्रोश परीसह—कोई कठोर या कर्कश वचन कहे उसको सम भाव पूर्वक सहन करता हुवा हितकर के समान समझे।

(१३) वध परीसह—कोई ताड़ना तर्जना करे उसको धैर्यता के साथ सहन करता हुवा सेवा सुश्रुषा के समान समझे।

(१४) याचना परीसह—दीन या अभिमान पने को त्याग कर मात्र धर्म साधन के निर्वाह हेतु याचना वृत्ति स्वीकार करे।

(१५) अलाभ परीसह—याचना करते हुवे यदि योग्य वस्तु प्राप्ति न हो तो तप की अभिवृद्धि से उत्साहित होके संतोषित रहे।

(१६) रोग परीसह—किसी प्रकार की रोग की उपस्थिति में व्यग्रचित्त न होकर समभाव से सहन करे।

(१७) तृणस्पर्श परीसह—तृणादि की तीक्ष्ण या कठोरता के स्पर्श को समभाव से सहन करे।

(१८) मल परीसह—शरीर मालीन्य अवस्था संयम उद्वेग या स्नानादि संस्कारों की इच्छा न करे।

(१९) सत्कार पुरस्कार परीसह—मान अपमान के समय हर्ष विषाद न करके समभाव पूर्वक रहे।

(२०) प्रज्ञा परीसह—विद्या लब्धि आदि विशेष बुद्धि होने पर अभिमान न करके और ऐसी योग्यता न होने पर उदास भी न हो।

(२१) ज्ञान परीसह व अज्ञान परीसह—विशिष्ट ज्ञानसे गर्व या उसके अभाव में आत्म-अपमान न करके समभाव से रहे।

(२२) अदर्शन परीसह—सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पदार्थ नहीं दिखते इस लिये विवेकी जन अपनी त्याग वृत्ति से उदास नहीं उसी स्थिति में प्रसन्न चित्त से रहता हुआ श्रद्धा का पोषण करता रहे।

उक्त बाईस परीसह धर्म के विघ्न करने वाले होते हैं इसलिये सद्‌चारित्रियों को उस समय राग द्वेष न करके समभाव पूर्वक सहन करना ही श्रेय है।

अधिकारी—उक्त बाईस परीसहों में से किनको किस अवस्था में कितने परीसह होते हैं उसका तीन सूत्रों से कथन करते हैं।

सूक्ष्मसम्पराय, उपशान्त मोह, और क्षीण मोह नामक तीन गुण स्थानों में चौदह परीसह होते हैं। क्षुधा, पीपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल शेष आठ परीसह नहीं होते जिसका कारण यह है कि वे मोह जन्य होते हैं दशमें गुणस्थानक में मोह की मात्रा बिलकुल अल्पांश होती है और ग्यारहवें, बारहवें, गुण स्थानक में मोह का सर्वथा अभाव है इसलिये उक्त गुणस्थानक में शेष आठ परीसह सम्भव नहीं होते।

तेरहवें चौदहवें गुणस्थानक में ग्यारह परीसह होते हैं क्षुधा पीपासा, शीत, उष्ण, दंश मशक, चर्या, शय्या, रोग, तृणस्पर्श, और मल शेष ग्यारह परीसह घाती कर्म जन्य होने से उनका यहां अभाव रहता है क्यों कि इन गुण स्थानों में घाती कर्म का अभाव ही है।

जिसमें कषाय का विशेष रूप से उदय संभव होता है उसको बादर संपराय गुणस्थानक कहते हैं इस नवमें गुणस्थानक में बाईसों परीसह होते हैं जिसका कारण यह है कि इनके कारण भूत सब कर्म यहां उपस्थित हैं और जब नवमें गुण स्थानक में सब परीसह है तो इससे पूर्ववर्ती गुणस्थानों में तो सब का होना स्वतः सिद्ध ही होता है।

कारण—परीसह के कारण भूत चार कर्म है जिसमें दो परीसह (प्रज्ञा, अज्ञान) का कारण ज्ञानावरणी कर्म है, एक अलाभ परीसह का कारण अन्तराय कर्म है, मोहनीय कर्म से आठ परीसह होते हैं जिसमें दर्शन मोहनीय से नग्नत्व, अरति, स्त्री, निषद्या आक्रोश और सत्कार यह सात परीसह होते हैं।

एक जीव मे एक साथ संभवतः परीसहों की संख्या बाईस परीसहों में शीत, उष्ण, चर्या, शय्या और निषद्या ये पांच परीसह परस्पर विरोध भावी हैं इनमें प्रथम के दो में से और अन्त के तीनों में से एक एक परीसह होते हैं। उक्त पांचों परीसह एक समय एक साथ नहीं होते अर्थात् जैसे—उष्ण और चर्या परीसह के उपस्थित में अन्य तीन परीसहों का अभाव रहता है इसी तरह किसी तरह किसी भी समय में एक साथ अधिक से अधिक उन्नीस परीसह संभव होते हैं। ॥ ८-१७ ॥

चारित्र के भेद।

सामयिकच्छेदो पस्थाप्य परिहार विशुद्धि सूक्ष्म—
संपराययथाख्यातानि चारित्रम् ॥ १८ ॥

अर्थ—चारित्र पांच प्रकार का है सामायिक, छेदोपस्थापन, परि हार विशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथा ख्यातः। ॥ १८ ॥

विवेचन—आत्म विशुद्धि के लिये जो प्रयत्न किया जाय उसे चारित्र कहते हैं ,परिणाम विशुद्धि के तारतम्य भाव की अपेक्षा से उसके सामायिकादि उपरोक्त पाच भेद किये हैं जैसे-(१) समभाव में रहने के लिये अशुद्ध प्रवृत्तियों के त्याग को सामायिक कहते हैं शेष चारित्र भी सामायिक रूप तो है ही तथापि गुण और आचार की विशेषता के कारण उनकी पृथक रूप से गणना की है जो थोडे समय के लिये अथवा उम्र भर के लिये मुनि दिक्षा ग्रहण की जाय उसको सामायिक कहते हैं। (२) प्रथम दिक्षा के पश्चात् विशिष्ट श्रुत अभ्यास करके पुन विशेष शुद्धि के लिये फिर से जीवन पयन्त दिक्षा ग्रहण करनी (जिसको वर्तमान में बडी दिक्षा कहते हैं) अथवा ग्रहण की हुई दिक्षा में दोषोत्तपत्ति (उत्पन्न । होने से उसका उच्छेद करके पुनः दिक्षारोप करनी उसको छेदोपस्थापन चारित्र कहते हैं इसमें पहला निरतिचार और दूसरा सातिचार छेदोपस्थापन चारित्र कहलाता है। (३) विशिष्ट प्रकार के तप प्रधान क्रिया आचार, पालन को परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं (४) जिसमें मोहनीय कर्म का मात्र सूक्ष्म लोभान्श का ही उदय रहा हो उसको सूक्ष्म सपराय चारित्र कहते हैं, (५) जिसमें कषाय का उदय न हो उसको यथा ख्यात अर्थात् वीतराग चारित्र कहते हैं ॥ १८ ॥

तप का वर्णन ।

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्याग-
विविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्य तप ॥ १९ ॥

प्रायश्चित्त विनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्ग ध्या-
ना न्युत्तरम् ॥ २० ॥

अर्थ—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और काय क्लेश एवं छ (६) प्रकार का बाह्य तप है ॥ १६ ॥

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, और ध्यान एवं छ (६) प्रकार का अभ्यन्तर तप है ॥ २० ॥

विवेचन—शरीर, इन्द्रिय और मन की विषय वासनाओं को आध्यात्मिक बल की उन्नति के लिये क्षीण करना तप का कार्य है उसके बाह्य और अभ्यन्तर मुख्य दो भेद है जिसमें शरीरिक क्रिया की प्रधानता हो उसको बाह्य तप कहते हैं यह बाह्य द्रव्य सापेक्ष होता है और जिसमें बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं करती केवल मानसिक क्रिया की ही प्रधानता रहती हो उसको अभ्यन्तर तप कहते हैं यह बाह्य तप की पुष्टि के लिये भी उपयोगी है इस वर्गीकरण में सूक्ष्म और स्थूल सब प्रकार के धार्मिक नियमों का समावेश होता है।

बाह्यतप—छ ६) प्रकार का है (१) मर्यादित समय तक या जीवन पर्यन्त सब प्रकार के आहार त्याग को अनशन तप कहते हैं।

(२) क्षुधा से न्यून भोजन करना अवमौदर्य उणोदरी) तप है

(३) विविध प्रकार के वस्तुवों पर की तृष्णा को संक्षिप्त (न्यून) करनी वृत्तीसंक्षेप तप है।

(४) घी, दूध, दारू, मधु, मक्खनादि विकारिक रसों के परित्याग को रस परित्याग तप कहते हैं।

(५) एकन्तवाधारहित स्थान में रहना और शरीर को संकोच वृत्ति से रखना उसको विविक्त शय्यासन संलीनता तप कहते है।

(६) शीत, तप, आसनादि से शरीर आतप्त करना काय क्लेशतप है।

अभ्यन्तर तप--छः प्रकार का है (१) व्रत में प्रमाद से लगे हुवे दोषों की शुद्धि करना प्रायश्चित तप है (२) ज्ञानादि सद् गुणों का बहुमान करना विनय तप है (३) योग साधनों को पूरा करना या सब प्रकार की सेवा शुश्रुषा करनी वैयावृत्य तप है (४) ज्ञान प्राप्ति के लिये अभ्यास करना स्वाध्याय तप है (५) अहत्व और ममत्व के परित्याग को व्युत्सर्ग तप कहते हैं (६) चित्त के विक्षेप चपलतादि दुर्ध्यान के परित्याग को ध्यान कहते है, (६) प्रकार के अभ्यन्तर तपकी संख्या अगले सूत्र से बताते हैं ॥ १९-२० ॥

अभ्यन्तर तप भेदों की संख्या ।

नवचतुर्दश पञ्चद्विभेद यथा क्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

अर्थ—ध्यान छोड़ के शेष अभ्यन्तर तप के नौ, चार, दश, पाच और दो यथा क्रम भेद होते है ॥ २१ ॥

विवेचन--ध्यान का विषय विस्तृत होने से शेष पाच अभ्यन्तर तप के भेदों की संख्या अनुक्रम से बताई है जैसे-प्रायश्चित के ९ भेद, विनय के ४, वैयावृत्य के १०, स्वाध्याय के ५, और व्युत्सर्ग के दो भेद होते हैं इनका नाम अगले सूत्र द्वारा बतावेंगे ॥ २१ ॥

प्रायश्चित के भेद ।

आलोचन प्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्ग-
तपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि ॥ २२ ॥

अर्थ--प्रायश्चित के नौ भेद हैं आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय (मिश्र), विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, और उपस्थापन ॥ २२ ॥

अर्थ—स्वाध्याय के पांच भेद हैं वाचना, प्रच्छना अनुप्रेक्षा आम्नाय और धर्मोपदेश ॥ २५ ॥

विवेचन—ज्ञानप्राप्त करने के लिये या उसको निःशंक, विशद (निर्मल), परिपक्व अथवा उसका प्रचार करने के लिये जो प्रयत्न किया जाय वह सब स्वाध्याय रूप है उसको अभ्यास क्रम की शैली के अनुसार पांच भेद किये हैं यथा—(१) वाचना-शिष्यों को पढ़ाना, (२) प्रच्छना—शंका समाधान या ग्रन्थ के भावार्थ को प्रश्न पूर्वक जानना, (३) अनुप्रेक्षा—शब्द पाठादिका मनन चिन्तवन (४) आम्नाय—परावर्तन—पढ़े हुवे शास्त्रों का पुनरावर्तन करना, (५) धर्मोपदेश—धर्म के रहस्य को समझना ॥२५॥

व्युत्सर्ग के भेद ।

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

अर्थ—व्युत्सर्ग के दो भेद बाह्य और अभ्यन्तर रूप उपाधि का परित्याग ॥ २६ ॥

विवेचन—त्याग का स्वरूप वास्तविक रीति से अहंत्व, ममत्व, भाव की निवृत्ति रूप है परन्तु त्याज्य (त्यागने योग्य) वस्तु बाह्य और अभ्यंतर दो प्रकार होने से उसके दो भेद माने गये हैं यथा—(१) धन, धान, क्षेत्रादि बाह्य वस्तुवों में ममत्व भाव न करना यह बाह्य व्युत्सर्ग, (२) शरीर पर का ममत्व भाव तथा कषायिक विकारों की तन्मयता के त्याग को अभ्यन्तर व्युत्सर्ग कहते हैं ॥ २६ ॥

ध्यान का वर्णन ।

उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ॥ २७ ॥

आमुहूर्तात् ॥ २८ ॥

अर्थ—उत्तम संहनन वाले की एकाग्रता के साथ अन्त करण की चिन्तादि के निरोध को ध्यान कहते है ॥ २७ ॥

उसकी मर्यादित स्थिति अन्तर मुहूर्त पर्यन्त है ॥ २८ ॥

विवेचन—शास्त्रकार प्रस्तुत सूत्र द्वारा ध्यान विषयी तीन बातों का स्पष्टिकरण करते हैं [१] अधिकारी, [२] स्वरूप, [३] काल परिणाम।

अधिकारी—छे संहनन [अ० ८ सूत्र ४२] में से प्रथम के तीन संहनन उत्तम माने गये ह उस में से किसी एक संहनन वाला ध्यान का अधिकारी हो सकता है क्योंकि ध्यान करने वाले को मानसिक बल की आवश्यकता रहती है और वह शारीरिक बल की योग्यता के अनुसार होता है वह योग्यता पूर्वक तीन [वज्र ऋष०, अर्द्धवज्र०, नाराच] संहननों में रहती है इसलिये वे ही अधिकारी हैं। शेष तीन संहनन वालों का शारीरिक बल कम होने स मानसिक बल भी कम होता है इसलिये चित्त की स्थिरता नहीं रहती और योग्य स्थिरता के बिना एकाग्रता नहीं होती वास्ते उनकी गणना ध्यान में नहीं है।

स्वरूप—अनेकानेक विषयावलंबी ज्ञानधारा भिन्न भिन्न दिशाओं से प्रवाहित होने वाले पवन के झकोरे मे दीपक की सिखा के समान अस्थिर [चलायमान] रहती है उस चपल धारा को अनेक विषयों से हटाकर किसी एक इष्ट विषय पर स्थिर करना ही ध्यान है इस प्रकार का ध्यान छद्मस्थ आत्माओं को होता है।

सर्वज्ञत्व प्राप्त होने के पश्चात् अर्थात् तेरहवें, चौदहवें गुण स्थानक में भी ध्यान स्वीकार किया गया है परन्तु इसका कथन दूसरे प्रकार से है तेरहवें, गुणस्थानक के अन्त समय जब मन, वचन, कायिक व्यापारों का निरोध क्रम सरू होता है उस समय

स्थूल कायिक व्यापार के निरोध होने पर अब सूक्ष्म कायिक व्यापार अस्तित्व रहता है उस समय सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नामक तीसरा शुक्ल ध्यान माना गया है और जब चौदहवें गुणस्थानक में अयोगीदशा के शलेसी करन समय समुच्छिन्न क्रिया निवृति नामक चौथा शुक्ल ध्यान माना गया है ये दोनों ध्यान चित्त व्यापार न होने से छद्मस्त के समान चिन्ता निरोध रूप नहीं है सूत्र कार का कथन छद्मस्त ध्यान विषयी है वह मात्र कायिक स्थूल व्यापारों को रोकने का प्रयत्न एक प्रकार का ध्यान ही है अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तेरहवें गुणस्थानक में प्रारंभ से यावत् अन्त समय अर्थात् योग निरोध क्रम के आदि समय तक तेरहवें गुणस्थानक में कौन सा ध्यान होता है ? इसका उत्तर दो प्रकार से है [१] विहरमान सर्वज्ञ दशा को ध्यानान्तरिका कहते हैं इसमें कोई प्रकार का ध्यान स्वीकार नहीं करते, [२] मन, वचन, कायिक व्यापारों के सुदृढ़ प्रयत्न को ही ध्यान स्वरूप माना है।

कालमान—उपर्युक्त ध्यान अधिक से अधिक अन्तर मुहूर्त प्रयंते अवस्थित रहता है उसकी काल मर्यादा है।

कितनेक स्वासोस्वास के निरोध को ध्यान मानते है और कोई ह्रस्वादि मात्रा के काल गणना को ध्यान मानते हैं परन्तु जैन परम्परा वाले ऐसा नहीं मानते इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण स्वासोस्वास निरोध करने से (एक लेने से) शारीरिक अवस्था नहीं रह सकती इसलिये मन्द या मन्दतम स्वासध्यानस्थ अवस्था मे भी प्रचलित रहता है और जो मात्रा से काल का मान करते हैं तब मन किसी गणित क्रिया में व्यग्रचित्त होने से एकाग्रता के बदले व्यग्रतावाला होजायगा। और बहुत दिनों तक ध्यान में

रह सकता है ऐसी जो लोग मान्यता है वह भी जैन परम्परा को अमान्य है इससे इन्द्रियों का उपघात होता है अन्तर मुहुर्त से अधिक रहना कठिन है एक दो तीन चार दिन या इससे भी अधिक दिन ध्यान किया जो ऐसा कहते हैं उसका मतलब यह है कि उसी आलम्बन में लगे रहना अर्थात् एकबार ध्यान करके पुन उसी में या रूपान्तर से अन्यालम्बन से दूसरे ध्यान में प्रवर्तमान होना इस प्रवाह रूप से अधिक समय तक रहता है। ध्यान का जो अन्तर मुहुर्त का काल मान बताया है वह छद्मस्थ की अपेक्षा समझना चाहिये। सर्वज्ञ में ध्यान का काल मान अधिक सम्भवित होता है कारण वे मन वचन कायिक प्रवृत्ति के सुदृढ प्रयत्न को अधिक समय तक रोक सकते हैं जिस आलम्बन पर उनका ध्यान प्रवाहित है वह आलम्बन सम्पूर्ण द्रव्य रूप न हो के उसका पर्याय रूप होता है कारण द्रव्य का चिंतवन किसी एक पर्याय द्वारा शक्य है द्रव्य का स्वरूप अनादि अन्त सास्वत रूप है ॥२७-२८॥

ध्यान के भेद।

आर्तरौद्र धर्म शुक्लानि ॥ २९ ॥

पर मोक्ष हेतु ॥ ३० ॥

अर्थ—ध्यान चार प्रकार का होता है (१) आर्त ध्यान (२) रौद्र ध्यान (३) धर्म ध्यान (४) शुक्ल ध्यान ॥ २९ ॥

अंत के दो ध्यान मोक्ष के कारण भूत हैं ॥ ३० ॥

विवेचन—उपरोक्त चार ध्यानों में से पूर्व के दो (आर्त, रौद्र) ध्यान संसार के कारण भूत दुर्ध्यान होने से त्याज्य रूप हैं और धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण भूत होने से सुध्यान आदरणीय है ॥ २९-३० ॥

आर्त ध्यान का लक्षण।

आर्तममनोज्ञानाम् सम्प्रयोगेतद्विप्रयोगाय-
स्मृतिसमन्याहार ॥ ३१ ।
वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥
विपरीतं मनोज्ञानम् ॥ ३३ ॥
तदविरत देश विरत प्रमत संयतानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—अमनोज्ञ (अप्रिय वस्तु) संप्रयोग (संयोग) होने पर उसके वियोगार्थ चिन्ता की एकाग्रता करना आर्त ध्यान है ॥३१॥

दुःख प्राप्त होने पर उसको दूर करने के लिये सतत चिन्ता करनी भी आर्तध्यान है ॥ ३२ ॥

प्रिय वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिये चित्त की एकाग्रता रूप ध्यान को आर्त ध्यान कहते हैं ॥ ३३ ॥

नहीं प्राप्त हुई वस्तु की प्राप्ति के लिये संकल्प रूप चित्त की एकाग्रता यह चौथा आर्त ध्यान है ॥ ३४ ॥

उपरोक्त चार प्रकार के आर्त ध्यान अविरत देश विरत और प्रमत गुणस्थानों में संभवित होता है ॥ ३५ ॥

विवेचन—सूत्र २९ के अनुसार आर्तध्यान के भेद और उसके स्वामी इन दो वातों का प्रस्तुत सूत्रों से निरूपण करते हैं आर्ति (पीड़ादि दुःख) जिससे उद्भव हो उसकी उत्पत्ती के लिये मुख्य चार कारण हैं (१) अनिष्ट वस्तु का संयोग, (२) इष्ट वस्तु का वियोग, (३) प्रतिकूल वेदना, (४) भोगों की लालसा इन कारणों से आर्तध्यान के चार भेद किये गये हैं जिसकी व्याख्या सूत्रार्थ में की गई है।

स्वामी—उक्त आर्तध्यान प्रथम के चार गुणस्थानक (१-२ ३-४) तथा देश विरत और प्रमत एवं छ गुणस्थानकों में पाया जाता है परन्तु प्रमत गुणस्थानक में निदान नामक चतुर्थ भेद के सिवाय तीन ही भेद सम्भवित होते हैं॥ ३९-३५॥

रौद्र ध्यान निरूपण।

हिन्सानृतस्तेयविषयसरक्षेभ्यो रौद्रमविरती-
देश विरतयों ॥ ३६ ॥

अर्थ—हिंसा, असत्य, चोरी और विषय संरक्षण के लिये चित्त की एकाग्रता (चिन्ता) को रौद्र ध्यान कहते हैं वह अविरत और देश विरत में सम्भवित होता है॥ ३६॥

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में रौद्र ध्यान के भेद और उसका स्वामी का वर्णन है आर्तध्यान के समान रौद्र ध्यान के भी मुख्य चार कारणों पर से उसके चार भेद किये हैं (१) हिन्सानुबन्धी, (२) असत्यानुबन्धी, (३) स्तेयानुबन्धी, (४) विषया संरक्षणानुबन्धी इन विषयों में लुब्ध या चिन्तित रहना भी रौद्र ध्यान है प्रथम गुणस्थानक से यावत् पंचम गुणस्थानक पर्यन्त यह ध्यान सम्भवित होता है इसलिये उस गुणस्थानक वर्ती आत्मा इसके स्वामी हैं॥ ३६॥

धर्म ध्यान का निरूपण।

आज्ञाअपायविपाक संस्थानविचयाय धर्म-
मप्रमत संयतस्य ॥ ३७ ॥
उपशान्त क्षीण कषायोश्च ॥ ३८ ॥

अर्थ—आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान की विचारणा हेतु मनोवृत्ति की एकाग्रता को धर्म ध्यान कहते हैं यह अप्रमत संयत में संभवित होता है ॥ ३७ ॥

और पुन. उपशान्त मोह, क्षीण मोह. गुणस्थानक में भी सभवित होता है ॥ ३८ ॥

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों से धर्म ध्यान के भेद तथा उसके स्वामी का कथन है।

भेद—(१) आज्ञाविचयधर्मध्यान—वीतराग प्रणित जिनशास्त्र की आज्ञा विषय बहुमान पूर्वक हमेशा तत्पर रहना, (२) अपाय विच्य धर्म ध्यान—दोषों के रूप को समझकर उससे कैसे पृथक् रहना इसका विचार अर्थात् सन्मार्ग की गवेषणा, (३) विपाक विचय धर्मध्यान अनुभव होने वाले कर्म फल के विपाक विषय विचारणा, (४) संस्थान विचय धर्मध्यान—लोक स्वरूप का विचार करना।

स्वामी—धर्म ध्यान के अधिकारी विषय श्वेताम्बर और दिगाम्बरीय सम्प्रदाय की मान्यता सदृश रूप नहीं है श्वेताम्बरीय मान्यता के अनुसार सूत्रोक्त सातवें, ग्यारहवें, बारहवें, गुणस्थानक में तथा मध्य वर्ती सूचित होने वाले आठवें, नौवें, दशवें गुणस्थानक में अर्थात् सात से बारहवें गुणस्थानक पर्यन्त छे गुणस्थानों में धर्म ध्यान संभवित होता है और दिगाम्बरीय आम्नावाले चौथे से सातवें गुणस्थानक पर्यन्त चार गुणस्थानों में ही धर्म ध्यान की संभावना स्वीकार करते हैं. इनका कहना है कि सम्यक्त्व को श्रेणी के प्रारंभ काल से पहले धर्म ध्यान संभवित होता है श्रेणी प्रारंभ होने के पश्चात् धर्म ध्यान संभवित नहीं होता इसलिये आठवें, आदि गुण स्थानों में धर्म ध्यान को नहीं स्वीकार करते ॥ ३७—३८ ॥

शुक्ल ध्यान का निरूपण ।

शुक्ले चाद्ये पूर्व विद' ॥ ३९ ॥
परेकेवलिन' ॥ ४० ॥
पृथक्त्वैकत्व वितर्क सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ॥ ४१ ॥
तत्र्येक काययोगानाम् ॥ ४२ ॥
एकाश्रये सवितर्के पूर्वे ॥ ४३ ॥
अविचार द्वितीयम् ॥ ४४ ॥
वितर्क श्रुतम् ॥ ४५ ॥
विचारोऽर्थ व्याञ्जनयोग सक्रान्तिः ॥ ४६ ॥

अर्थ—सूत्र ४१ में कहे हुवे शुक्ल ध्यान के चार भेदों में से प्रथम के दो भेद ग्यारहवें गुणस्थानक वर्ती पूर्व धर मुनि को होता है ॥ ३९ ॥

पीछे के दो भेद केवली में होते हैं ॥ ४० ॥

शुक्ल ध्यान के चार भेद [१] पृथक्त्व वितर्क, [२] एकत्व वितर्क, [३] सूक्ष्म क्रिया प्रति पाति, [४] व्युपरतक्रिया निवृत्ति है ॥ ४१ ॥

इस चार प्रकार के शुक्ल ध्यान में से अनुक्रम से तीन योग वाला प्रथम भेद [पृथ०] का स्वामी है । किसी एक योग वाला दूसरे भेद [एक०] का स्वामी है काय योग वाला तीसरे भेद (सूक्ष्म०) का स्वामी है अयोगी चौथे भेद [व्युप०] का स्वामी है ॥ ४२ ॥

प्रथम के दो भेद एक आश्रय जनित सवितर्क होते हैं ॥ ४३ ॥

इनमें से दूसरा ... ार और

वितर्क श्रुत को कहते हैं ॥ ४५ ॥

अर्थ, व्यंजन और योग के परिवर्तन को विचार कहते हैं ॥४६॥

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों से शुक्ल ध्यान के स्वामी, भेद और स्वरूप का वर्णन करते हैं।

स्वामी—इसका स्वरूप दो प्रकार से कथन किया गया है एक गुणस्थानक दृष्टि से और दूसरा योग दृष्टि से गुणस्थान दृष्टि से शुक्ल ध्यान के चार भेदों में से प्रथम के दो भेदों का स्वामी ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान वर्ती पूर्वधरलब्धी वाले होते हैं इस से यह सूचित होता है कि यदि ग्यारहवें अंग के धारक होतो उनको ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानक में शुक्ल ध्यान की जगह धर्म ध्यान होता है यह सामान्य रूप से कहा है क्योंकि मासुतस, मरुदेवी आदि को शुक्ल ध्यान संभवित है और पिछले शुक्ल ध्यान के दो भेदों के स्वामी केवली हैं अर्थात् तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानक वर्ती आत्मा है।

योग दृष्टि से उक्त चार भेदों में से पहिला भेद (पृथ०) तीन योगवालों में पाया जाता है मन, वचन, काय योग में से किसी एक योग वाला दूसरे भेद [एकत्व०] का स्वामी है। केवल एक काया योग वाला तीसरे भेद [सूक्ष्म०] का स्वामी है और चौथे [व्युप०] का स्वामी अयोगी चौदहवें गुणस्थानक वर्ती आत्मा है।

भेद—अन्य ध्यानों के समान शुक्ल ध्यान के भी चार भेद हैं जिन को चार पाया भी कहते हैं [१] पृथक्त्व वितर्क सविचार, (२) एकत्व वितर्क निर्विचार, (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, (४) व्युपरत क्रिया निवृत्ति (समूर्च्छिन्नक्रिया निवृत्ति)

स्वरूप—प्रथम के दो शुक्ल ध्यानों में वितर्क भावका सह धर्म्य और पूर्वधर आत्माओं से प्रारंभ होने के कारण वे दोनों

स्याम भावी (सह धर्म भावी) होते हुवे भी उनमें भेद, अभेद पने का वैषम्य भाव रहा हुवा है पहिला पृथक्त्व अर्थात् भेद स्वभावी है और दूसरा एकत्व अर्थात् अभेद स्वभावी है तात्पर्य यह है कि वितर्क भाव की दोनों में समानता होने पर भी पहिला विचार सहित और दूसरा विचार रहित है इसी कारण इनका नाम यथा क्रम पृथक्त्व वितर्क सविचार और एकत्व वितर्क अविचारी रक्खा गया है जब कोई ध्यान करने वाला पूर्वधर हो तो वह अपने पूर्व गत श्रुताधार से अथवा पूर्वधर न होतो अपने संभवित श्रुताधर से किसी परमाणु आदि जड पदार्थ विषयी अथवा आत्म रूप चैतन्य द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्तित्व अमूर्तित्वादि अनेक पर्यायों का द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक विविध नयों द्वारा भेद प्रभे दादि का चिन्तवन करे और यथा संभवित श्रुतज्ञान के आधार से किसी एक द्रव्य के अर्थ पर से दूसरे द्रव्य के अर्थ पर अथवा एक पर्याय के अर्थ पर से अन्य पर्याय के अर्थ पर चिन्तवन (विचार) के लिये प्रवर्तमान हो अथवा एक योग को छोड़ के अन्य योग में प्रवर्तमान हो उनको पृथक्त्व वितर्क सविचार ध्यान कहते हैं कारण इसमें वितर्क (श्रुतज्ञान) का आलम्बन लेके एक अर्थ पर से दूसरे अर्थ पर या एक शब्द से दूसरे शब्द पर संक्रम (संचार) होता है और इससे विपरीत यदि ध्यान करने वाला अपने संभवित श्रुताधार पर किसी एक पर्याय रूप अर्थ को ग्रहण करके उसमें एकत्व (अभेद प्रधान) चिन्तन करे और मन आदि तीन योगों में से किसी एक योग पर अटल रूप से अवस्थित रह कर शब्द और अर्थ के चिन्तवन में या भिन्न भिन्न योगों में सच रन या परिवर्तन न करके अवस्थित रहे उसको एकत्व वितर्क अविचार ध्यान कहते हैं इसका कारण यह है कि वितर्क अर्थात् श्रुत का साम्य भाव होते हुवे भी यहां अभेद प्रधान पने चिन्तवन

होता है किन्तु अर्थ शब्द तथा योगों का परिवर्तन नहीं होता उक्त दोनों भेदों में से प्रथम भेद का दृढ़ अभ्यास होने से दूसरे भेद की योग्यता प्राप्त हो सकती है जैसे-बिच्छू, सर्पादि का ज़हर सब शरीर में व्याप्त हो जाता है तथापि किसी मंत्रादि उपाय द्वारा उसे डंक पर ले आते हैं इसी तरह भिन्न भिन्न सांसारिक विषयों में चंचल रूप से भ्रमण करते हुये मन को ध्यान द्वारा किसी एक विषय में स्थिर करना है और मन स्थिर होने से शेष इन्द्रियां स्वतः शान्त हो जाती हैं और मन भी उपरोक्त एक विषय में स्थिर होने से उसकी चपलता नष्ट होके निष्प्रकम्प बन जाता है और उससे परिणाम यह होता है कि कर्म बन्ध से मुक्त होके सर्वज्ञ पद को प्राप्त करना है।

सर्वज्ञ (केवली) भगवान योग निरोध क्रम समय स्थूल योगों को निरोधकर (रोककर) सूक्ष्म शरीर (काय योग) का आश्रय लेते हैं उस को सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ध्यान कहते हैं इसमें स्वासो स्वास जैसी सूक्ष्म शारीरिक क्रिया शेष रहती है और जिस समय इस क्रिया का भी व्युच्छेद होता है और आत्म प्रदेश सर्वथा निष्कम्पता को प्राप्त होते हैं उसको व्युपरत क्रिया निवृत्ति (समूच्छिन्न क्रिया निवृत्ति) ध्यान कहते हैं इसमें मन, वचन, कायिक क्रिया स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार की नहीं होती और शेष कर्मों का क्षय कर मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं तीसरे, चौथे ध्यान में किसी प्रकार का अवलम्बन नहीं रहता इसलिये इसको अनालम्बन भी कहते हैं ॥ ३९-४६ ॥

सम्यग्दृष्टि जीवों की निर्जरा का तारतम्यत्व।

सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतानन्तवियोजक दर्शन—

मोहक्षयकोपशमकोपशान्तमोहक्षयकक्षीण मोह -
जिनः क्रमशोऽसंख्येयगुण निर्जरा ॥ ४७ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबंधी वियोजक दर्शन मोहक्षपक उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये अनुक्रम से असंख्यात गुण निर्जरा वाले होते हैं ॥ ४७ ॥

विवेचन—सर्व कर्म बन्ध के सर्वांश क्षय को मोक्ष कहते हैं और एक अंश क्षय को निर्जरा कहते हैं इन दोनों के लक्षण से यह स्पष्ट होता है कि निर्जरा मोक्ष का पूर्वगामी अंग है परन्तु शास्त्र में मोक्षतत्व का प्रतिपादन मुख्य होने से उसके अंगभूत निर्जरा का विचार यहां किया जाता है समग्र संसारी जीवों में कर्म निर्जरा का स्रोत प्रति समय प्रवाहित रहता है तथापि प्रस्तुत सूत्र द्वारा कतिपय विशिष्ट भावों की निर्जरा क्रम बताते हैं विशिष्टात्मा अर्थात् मोक्षाभिमुखात्मा की वास्तविक निर्जरा सम्यक्त्व प्राप्ति से है और सर्वज्ञ अवस्था में समाप्त होती है स्थूल दृष्टि से इसके मुख्य दश भेद किये गये हैं (पांचवें कर्म ग्रन्थ में इस के ग्यारह विभाग करके गुण श्रेणी नाम रक्खा है) पूर्व पूर्व विभाग से उत्तर उत्तर विभाग में परिणामों की विशुद्धता विशेष विशेष रहती है और जितनी परिणामों की विशुद्धता अधिकतर होती है उतनी ही कर्म निर्जरा विशेष होती है अर्थात् प्रत्येक उत्तर अवस्था में असंख्यातगुण निर्जरा अधिक अधिकतर होती है सबसे अधिक निर्जरा का परिणाम सयम अवस्था में है और कर्म निर्जरा सम्यग्दृष्टि की मानी गई है। उक्त दश अवस्थाओं का स्वरूप बताते हैं।

(१) सम्यग्दृष्टि—मिथ्यात्व का नाश और सम्यक्त्व की प्राप्ति यह मोक्ष का पहला पाया चतुर्थ गुणस्थान प्राप्ति से सरू होता है, (२) श्रावक—अप्रत्याख्यानी कषाय के क्षयोपशम से

अल्पांश विरती (पंचम गुणस्थानक), (३) विरत प्रत्याख्याती ४ कषाय के क्षयोपशम से सर्व विरती, (छट्ठा गुणस्थानक), (४) अनन्त वियोजक—अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना (क्षय करने योग्य विशुद्धि), (५) दर्शनमोहक्षपक—दर्शन मोहनीय कर्म क्षय की योग्यता, (६) उपशमक—मोहनीय कर्म की शेष प्रकृत्तियों का उपशम (उपशम श्रेणी), (७) उपशान्त मोह-मोहनीय कर्म का सर्वान्श उपशम (ग्यारहवां गुणस्थानक) (८) क्षपक—मोहनीय कर्म की क्षयणा (क्षयक श्रेणी) (९) क्षीण मोह—मोहनीय कर्म का सर्वान्श क्षय (बारहवां गुणस्थानक) (१०) जिन—सर्वज्ञत्व पद प्राप्त हुवा हो (तेरहवां गुणस्थानक), प्रस्तुत सूत्रकार ने जो दश विभाग करके बताये है वही मन्तव्य कर्म ग्रन्थ का भी है परन्तु अयोगी केवली का एक भेद विशेष करके ग्यारह विभाग किये हैं ॥ ४७ ॥

निर्ग्रन्थ के भेद ।

पुलाकवकुशकुशील निर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४८ ॥

अर्थ—निर्ग्रन्थ पांच प्रकार के हैं पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक ॥ ४८ ॥

विवेचन—निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ तात्वीक (निश्चयनय) और सम्प्रदायिक (व्यवहारनय) की दृष्टि से भिन्न भिन्न है तथापि दोनो अर्थ का सामान्य रूप से एकीकरण करके उसके पांच विभाग किये हैं वास्तविक निश्चयनय से निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ यही है कि जिसमें रागद्वेष की गांठ बिलकुल न हो उसको निर्ग्रन्थ कहते हैं और जो वर्तमान में उक्त गुणों से अपूर्ण है तथापि भविष्य में तात्विक निर्ग्रन्थ पने के प्राप्ति की इच्छा रखता हो-उसको व्यवहार निर्ग्रन्थ

कहते है सूत्रोक्त पांच भेदों में से प्रथम के तीन भेद व्यवहारनया पक्षी है और शेष पिछले दो भेद निश्चयनय से यथार्थ स्वरूपग्राही है जैसे—(१) मूल गुण और उत्तर गुण में परिपूर्णता प्राप्त नहीं की तथापि वीतराग प्रणीत आगमों से कदापि चलायमान नहीं होता उसको पुलाक निर्ग्रन्थ कहते है, (२) जो शरीर और उपकरण के संस्कारों का अनुसरण करता है ऋद्धि और कीर्ति को चाहता हो, सुख शील हो, ससग परिवार वाला हो और छेद अर्थात् चारित्र पर्याय की हानि से तथा सबल अतिचार (दोष) युक्त हो उसको बकुश निर्ग्रन्थ कहते हैं, (३) कुशील निर्ग्रन्थ के दो भेद हैं एक प्रतिसेवना कुशील और दूसरा कषाय कुशील। प्रतिसेवना कुशील वे हैं जो इन्द्रियों के वशवर्ती हो के किसी प्रकार से उत्तर गुणों की विराधना करते हों। कषाय कुशील को ताव तो नहीं परन्तु मन्द कषाय का किसी किसी समय आविर्भाव हो जाता है इनको कुशील कहते हैं (४) निर्ग्रन्थ जिसको सर्वज्ञपना प्राप्त न हुआ हो परन्तु अन्तर मुहूर्त के पश्चात् अवश्य होगा अथवा वीतराग छद्मस्थ को निर्ग्रन्थ कहते हैं, (५) स्नातक सर्वोच्च पद प्राप्त सयोगी अथवा अयोगी (सैलेशी) को स्नातक कहते हैं ॥ ४८ ॥

निर्ग्रन्थों का विशेष विचार।

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्ग लेश्योपपात-

स्थान विकल्पत साध्य ॥ ४९ ॥

अर्थ—संयम, श्रुत, प्रति सेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपात और स्थान इन आठ भेदों से साध्य होता है ॥ ४९ ॥

विवेचन—पूर्व सूत्र से निर्ग्रन्थों के पांच भेद बताये गये हैं

पुन प्रस्तुत सूत्र से उनका विशेष स्वरूप जानने के लिये संयमादि आठ बातें अवश्य विचारणीय हैं कि ये किस अवस्था में साध्य हो सकते हैं जैसे-(१) संयम-इसके पांच भेद हैं (सामायिक छेदोपस्थापन, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात) इसमें सामा० छेदो० इन दो संयमों में पुलाक वकुश और प्रति सेवना कुशील ये तीन निर्ग्रन्थ वर्तते हैं और कषाय कुशील निर्ग्रन्थ में यथाख्यात छोड़ के शेष चारों संयम होते हैं, तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक में एक यथाख्यात संयम होता है।

(२) श्रुत—शास्त्र अभ्यास पुलाक, वकुश और प्रति सेवना कुशील को उत्कृष्ट श्रुताभ्यास सम्पूर्ण दश पूर्व का होता है कषाय कुशील और निर्ग्रन्थों को उत्कृष्ट श्रुताभ्यास चौदह पूर्व होते हैं, तथापुलाक को जघन्य श्रुताभ्यास आचार वस्तु (नौवे पूर्व का तीसरा प्रकरण) और वकुश, कुशील तथा निर्ग्रन्थों का जघन्य श्रुता भ्यास अष्टप्रवचन माता और स्नातक सर्वज्ञ होने से श्रुत रहित है।

(३) प्रतिसेवना—(विराधना)—पांच मूल गुण (पंचमहा व्रत) और रात्रि भोजन विरमण इन छ व्रतों में होती है। पुलाक उक्त छ व्रतों में से किसी एक व्रत का दूसरे की प्रेरणा से या ब-लात्कार से किसी समय खंडन करने वाला (प्रति सेवी) होता है कितनेक आचार्य पुलाक को चतुर्थ व्रत का प्रति सेवी विराधक) मानते हैं। वकुश दो प्रकार के होते हैं एक उपकरण वकुश और दूसरा शरीर वकुश। उपकरण वकुश है वे उपकरण में आसक्त रहते हैं भांति भांति के बहुमूल्य और विशेषता वाले उपकरणों को चाहते हैं और संग्रह करते हैं तथा शरीर पर आशक्त होके उसकी शोभा सुश्रुषादि करने वाले को शरीर वकुश कहते हैं प्रति सेवना कुशील मूल गुणों की विराधना किये विना उत्तर गु॰

की विराधक होते हैं, और कषाय कुशील निर्ग्रन्थ तथा स्नातक विराधक नहीं होते।

(४) तीर्थ—पांचों निर्ग्रन्थ सब तीर्थकरों के शासन काल (तीर्थ) मे होते हैं कई आचार्यों का मत है कि पुलक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील ये तीनों निग्रन्थ तीर्थ में नित्य होते हैं शेष कषाय कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक तीर्थ, अतीर्थ दोनों में होता है।

(५) लिंग (चिन्ह)—लिंग के दो भेद होते हैं (१) द्रव्य लिंग—भेषादि बाह्य आकार, (२) भाव लिंग—चारित्र गुण विशेष। भाव लिंग पाचों निर्ग्रन्थो में अवश्य होता है और द्रव्य लिंग की नियमा नहीं है वह किसी में होता है और नहीं भी होता।

(६) लेश्या—पुलक को तेजो, पद्म, शुक्ल तीन लेश्या अ नित्य रूप से होती है, बकुश और प्रतिसेवना कुशील को छओं लेश्या होती है परिहार विशुद्धि चारित्र वाले कषाय कुशील कों तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या होती है और यदि सूक्ष्म सपराय चारित्र वाला हो तो केवल शुक्ल लेश्या ही होती है तथा निर्ग्रन्थ, स्नातक को शुक्ल लेश्या ही होती है परन्तु अयोगी स्नातक अलेशी होते हैं।

(७) उपपात (उत्पत्ति स्थान) पुलाकादि चार निर्ग्रन्थों का जघन्य उत्पात सौधर्म कल्प के पल्योपम पृथक्त्व स्थिति वाले देवों में होता है उत्कृष्ट उत्पात पुलाक का सहस्रार देव लोक में बीस सागर के स्थिति वाले देवों में होता है और बकुश तथा प्रति सेवना कुशीलता उत्कृष्ट उत्पात आरण्य, अच्युत कल्प के बाईस सागर की स्थिति वाले देवा में होते है कषाय कुशील निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट उत्पातसर्वार्थ सिद्ध वैमान में तैतीस सागर की स्थिति में होता है और स्नातक का उत्पत्ति स्थान निर्वाण मोक्ष है।

(८) स्थान—कषाय और योग संयम के स्थान हैं सब आत्माओं का संयम स्थान सदा एकसा नहीं रहता कषाय और योग की तारतम्यता के साथ संयम का भी तारतम्य भाव रहा हुआ है जघन्य से जघन्य निकृष्ट स्थान जो संयम कोटि में है उससे यावत् सम्पूर्ण निग्रह रूप संयम तक निकलता, मन्दता की विविधता अनेक प्रकार है तदनुसार संयम के असंख्यात भेद होते हैं वे सब संयम के स्थान कहे जाते हैं तथापि सामान्यतया वे दो विभागों में विभाजित किये गये हैं. (१) कषाय निमित्तक संयम स्थान जिसमें कषाय का उदय कुछ न कुछ अवश्य रहता है (यावत् दशम गुण-स्थानक वर्ती आत्मा) पूर्व वर्ती संयम स्थानों में काषायिक परिणामों की तीव्रता और उत्तरोत्तर संयम स्थान में काषायिक भावों की मन्दता रहती है (२) योग निमित्तक संयम स्थान। जिसमें योगों की निरोध अवस्था प्राप्त हो वह संयम का अन्तिम स्थान है ग्यारहवें गुणस्थान से यावत् चौदहवें गुणस्थानक वर्ती आत्मा में योग निमित्तक संयम स्थानों निष्कषायत्व रूप विशुद्धि अर्थात् अष्कषायत्वभाव समान होते हुवे भी योग निरोध की न्यूनाधिकता के अनुसार स्थिरता में भी न्यूनाधिकता होती है अर्थात् योग निरोधकी विविधता के कारण स्थिरता भी अनेक प्रकार की होती है इसलिये योग निमित्तक संयम स्थान भी असंख्याते हैं अन्तिम संयम स्थान जिसमें परम प्रकृष्ट विशुद्धता और स्थिरता रहती है वह संयम स्थान एकही है।

उक्त प्रकार के संयम स्थानों में सब से जघन्य पुलाक और बकुश का होता है वे दोनों एक काल में ही असंख्येय स्थानतक जाते हैं वहां से पुलाक पृथक् होता है और कषाय कुशील अकेला पुलाक से असंख्यात स्थान आगे जाता है क्योंकि यह दशवें गुण-स्थानक तक है. तथा कषाय कुशील, प्रतिसेवना कुशील और

बकुश एक साथ असंख्येय स्थानों तक जाते हैं वहां बकुश पृथक् हो जाता है उसके पश्चात् असंख्येय स्थान जाकर प्रतिसेवना कुशील पृथक होता है इससे आगे असंख्याता स्थान कुशील है उसके आगे कषाय के अभाव से अकषायिक स्थान अर्थात् योग निमित्तक संयम स्थान हैं वे असंख्यात और निर्ग्रंथ के प्राप्त करने योग्य हैं इसके परे सर्वोपरी प्रकृष्ट विशुद्धि और स्थिरतावाला अन्तिम संयम स्थान स्नातक का है जिसके सेवन से निर्वाण (मोक्ष) पद प्राप्त होता है संयम के असंख्यात स्थान हैं तथापि पूर्व स्थान से उत्तर स्थान की विशुद्धि अनन्त गुणीमानी गई है ॥ ४९ ॥

इति तत्त्वार्थ सूत्र नवमोऽध्याय, हिन्दी अनुवाद समाप्त ।

नवमें अध्याय में संवर और निर्जरा तत्व निरूपण किया अब इस अध्याय में मोक्षतत्व निरूपण करते हैं।

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मक्षय होने पर तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म के क्षय होने से केवल ज्ञान प्रगट होता है ॥ १ ॥

विवेचन—मोक्ष प्राप्त होने के पहले केवल उपयोग सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व) की उत्पत्ति जैन शास्त्रों में अनिवार्य मानी गई है और वह किस कारणों से उत्पन्न होता है उसको पहिले इस सूत्र द्वारा बताते हैं उक्त चार प्रतिबन्धक कर्म के नाश होते ही चेतना निरावरण होती है और केवल उपयोगों का अविर्भाव होता है उक्त चार कर्मों में पहले मोहनीय कर्म क्षय होता है और उसके अन्तर मुहूर्त पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म क्षय होते हैं मोहनीय कर्म सबसे प्रबल होने के कारण पहिले इसका क्षय होता है उस अवस्था को वीतराग छद्मस्थ अवस्था कहते हैं इसके पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय होते ही केवल उपयोग प्रगट होता है।

कर्म से निरलेप होने के कारण और मोक्ष स्वरूप।

बन्धहेत्व भावनिर्जराभ्याम् ॥ २ ॥
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष ॥ ३ ॥

अर्थ—बन्ध हेतुवों के अभाव से और निर्जरा से कर्मों का आत्यतिक क्षय होता है ॥ २ ॥

सम्पूर्ण कर्मों के क्षय को मोक्ष कहते हैं ॥ ३ ॥

विवेचन—एक बार बधा हुआ कर्म कभी तो क्षय होता ही है परन्तु उसी तरह का कर्म फिर बधने की सभावना रहती है। अत यदि उस प्रकार का कर्म अब तक शेष रहा है तो तब तक उस कर्म का आत्यतिक क्षय होगया है-ऐसा नहीं कहा जासकता आत्यतिक क्षय का अर्थ यह है कि पूर्वबन्ध कर्म और नये कर्म के बधने का अभाव। मोक्षकी स्थिति कर्म के आत्यंतिक क्षय बिना सभव नहीं है इसीलिये यहा पर ऐसे आत्यंतिक क्षय के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। इसके कारण दो हैं-बध हेतुओं का अभाव और निर्जरा बध हेतुओं का अभाव होने से नये कर्म बधते रुकते हैं और निर्जरा से पहले बध हुए कर्मों का अभाव होता है। बध हेतु मिथ्यादर्शन आदि हैं जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है। उनका यथायोग्य सवर द्वारा अभाव हो सकता है और तप ध्यान आदि द्वारा निर्जरा भी साध्य है।

मोहनीय आदि पूर्वोक्त चार कर्मों के आत्यतिक क्षय होने से वीतरागत्व और सर्वज्ञत्व प्रकट होता है। ऐसा होते हुवे भी उस समय वेदनीय आदि चार कर्म बहुत ही अल्पाश शेष होने से

मोक्ष नहीं होता अतः ये शेष रहे हुए अल्पांश कर्म का क्षय भी आवश्यक है। जब ये क्षय होते हैं तब ही सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हो कर जन्म मरण का चक्र बंध होता है वही मोक्ष है ॥ २-३ ॥

अन्य कारणों का कथन।

औपशमिकादिभव्यत्वाभावा च्यान्यत्र--
केवल सम्यक्त्व ज्ञान दर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान, क्षायिक दर्शन और सिद्धत्व के अतिरिक्त का औपशमिक आदि भावों का तथा भव्यत्व के अभाव से मोक्ष होता है।

विवेचन—मोक्ष प्राप्ति के पहिले जैसे-पौद्गलिक कर्मों का नाश होता है उसी तरह कर्म सापेक्ष कतिपय भावों का भी नाश होता है प्रस्तुत सूत्र से वे नाशवान भाव मोक्ष के कारण रूप से कथन किये गये हैं उनके चार भेद औपशमिक, क्षयोपशमिक औदायिक और परणामिक उस में पूर्व के औपशमिकादि तीन भेद सर्वथा सर्वान्श नाश होते हैं और पारिणामिक भाव में केवल भव्यात्व का नाश होता है शेष जीवत्व, अस्तित्वादि जो पारिणामिक भाव के भेद हैं उनका नाश नहीं होता क्योंकि वे मोक्षावस्था में भी पाये जाते हैं क्षायिक भाव कर्म सापेक्ष है तथापि उसका मोक्ष से अभाव नहीं होता इसी को प्रगट करने के लिये सूत्रकार ने क्षायिक सम्यक्त्वादि जो क्षायिक भाव के बताये हैं। (अ० २ सू० १-७) उनके सिवाय औपशमिकादि भावों के नाश को मोक्ष का कारण रूप कहा है सूत्र में क्षायिक चारित्र और क्षायिक वीर्यादि निरोध रूप नहीं है इसलिये सिद्धत्व अर्थ में उन सबका समावेश होता है ॥ ४ ॥

कर्म क्षय के पश्चात् जीव का कार्य ।

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात् ॥ ५ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण कर्म क्षय होने के पश्चात् जीव तुरन्त उर्ध्व गति से लोकान्त पर्यन्त जाता है ॥ ५ ॥

विवेचन—सम्पूर्ण कर्म और तदाश्रित् औपशमिकादि भावों के नाश होते ही एक साथ एक समय तीन कार्य होते हैं शरीर का वियोग, सिध्यमानगति और लोकान्त प्राप्ति ॥ ५ ॥

सिद्धमान गति के हेतु ।

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरि-
णामाच्च तद्गतिः ॥ ६ ॥

अर्थ—पूर्व प्रयोग से, संग के अभाव से, बन्धन टूट जाने से, और तथा प्रकार की गति परिणाम से मुक्त जीव की उर्ध्व गति होती है ॥ ६ ॥

विवेचन—जीव कर्म से निर्लेप होते ही उर्ध्व गति को प्राप्त होता है स्थिर नहीं रहता उस उर्ध्व गति की मर्यादा लोकान्त पर्यन्त है इससे परे गति नहीं होती ऐसी शास्त्रीय मानता है इस पर से प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्म या शरीरादि पौद्गलिक पदार्थों की सहायता के बिना अमूर्तजीव कैसे गति कर सकता है ? और यदि गति करता है तो केवल उर्ध्व गति के सिवाय अधो तीर्यग क्यों नहीं करता ? तथा लोकान्त से परे क्यों नहीं जाता ? इन्हीं बातों का समाधान प्रस्तुत सूत्र द्वारा करते हैं ।

जीव द्रव्य स्वभाव से ही पुद्गल द्रव्य के समान गतिशील है इन दोनों की गति में विभिन्नता यह है कि जीव स्वभाव ऊर्ध्व गति गामी है पुद्गल

[६] चारित्र—वर्त्तमान दृष्टि से सिद्ध चारित्री चारित्री है. और भूत कालिक दृष्टि से यथाख्यात चारित्र से सिद्ध होते हैं और इससे भी आगे दृष्टिपात करने से तीन, चार और पांच चारित्र से सिद्ध होते हैं जैसे—सामायिक, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात अथवा छेदोपस्थापनीय सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात ये तीन सामायिक परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात एवं चार और सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात एवं पांच से सिद्ध होते हैं।

[७] प्रत्येक बुद्ध बोधित—इनकी व्याख्या चार प्रकार से होती है [१] स्वयं बुद्ध इसके दो भेद हैं एक अरिहन्त और दूसरा किसी वाह्य आकार विशेष निमित्त पाकर वैराग और ज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होने वाले [२] बुद्ध बोधित—अर्थात दूसरे के उपदेश द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होने वाले [३] दूसरों को बोध देने वाले [४] मात्र आत्म कल्याण साधक।

[८] ज्ञान—वर्तमान दृष्टि से केवल ज्ञानी ही सिद्ध होता है और भूत दृष्टि से दो, तीन, चार, ज्ञान वाले सिद्ध होते हैं जैसे मति, श्रुति वाले या मति श्रुति, अवधि अथवा मति, श्रुति, मनः पर्य एवं तीन अथवा मति, श्रुति, अवधि मनः पर्यव एवं चार।

[९] अवगाहना (ऊँचाई) जघन्य अंगुल पृक्त्व हीन सात हाथ और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष अवगाहना से सिद्ध होते हैं परन्तु वर्तमान दृष्टि से जिस अवगाहन से सिद्ध होते हैं उससे तृतीयांश हीन कहना।

[१०] अन्तर (व्यवधान) लगातार एक पीछे एक सिद्ध होने वाले को निरन्तर सिद्ध कहते हैं ऐसे दो, तीन, चार यावत् आठ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं इसके पश्चात् कुछ समय के लिये

यह श्रेणी टूट जाती है और पुन सिद्ध होने वाले को सान्तर सिद्ध कहते हैं इन दोनों के बीच का अन्तर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छे मास का होता है।

[११] संख्या—एक समय जघन्य एक और उत्कृष्ट एक सौ आठ सिद्ध होते हैं।

[१२] अल्पाबहुत्व—उपरोक्त ग्यारह विषयों का अल्पाबहुत्व न्यूनाधिक रूप से कितने सिद्ध होते हैं यह विचारणीय है जैसे क्षेत्र का अल्पाबहुत्व—संहरण की अपेक्षा से जन्म सिद्ध क्षेत्र में असंख्यात गुणे सबसे न्यून उर्ध्व लोक अधो लोक संख्यात गुण और तीर्यग लोक, उससे संख्यातगुण सबसे जघन्य समुद्र से और उससे द्वीप से संख्यात गुण सिद्ध हुवे हैं एव कालादि प्रत्येक विषयका अल्पाबहुत्व अन्य ग्रन्थों से विचारणीय है। ७

श्रीमद् वाचक उमास्वाती प्रणीत तत्वार्थ सूत्र का यह हिन्दी अनुवाद श्री० लाधुरामजी तत् पुत्र मेघराज मुणोत फलोधी वाले ने अपने ज्ञानाभ्यास के लिये बनाया है न्यूनाधिक हो उसे पाठक जन सुधार लेंगे सन् १९८६ मिती पोष शुक्ल ५ ता० १-१ ३३ ईस्वी

—: श्री रस्तु —

इति तत्वार्थ सूत्र हिन्दी अनुवाद

* समाप्त *

श्रीरस्तु कल्याणमस्तु ।

जैन सिद्धान्त के दो अमूल्य रत्न

कर्मग्रंथ

सरल हिन्दी अनुवाद सहित

(अनुवादक—श्री मेघराजजी मुनोहित-फलोधी)

जैन धर्मकी कर्म फिलासफी बहुत प्रमाणिक और तथ्य है। आचार्य देवेन्द्रसूरिने इस मूल ग्रंथको ऐसी खूबीसे बनाया कि सारा संसार उनकी तारीफ करता है। ऐसे उपयोगी ग्रंथको हिन्दीके सरल अनुवाद सहित प्रकाशित करके रत्नज्ञान प्रभाकर पुष्पमालाने जैन साहित्यकी अच्छी सेवा की है। प्रत्येक धर्मप्रेमीसे अनुरोध है कि इस ग्रंथकी एक प्रति मंगाकर अवश्य पढे इस पुस्तक में कर्म प्रकृतियोंके स्वरूप, कर्मबंधनके हेतु स्वरूप स्थिति अनुभाग आदि २ बहुत रोचक ढंगसे लिखे गये हैं। आध्यात्मिक विषयको सरलतासे समझाने के उद्देशसे जरूरी २ यंत्र भी दियेगये हैं पृष्ट संख्या १२० न्योछावर ४ आनामात्र

नयचक्रसार

सरल हिन्दी अनुवाद सहित

(अनुवादक—श्री० मेघराजजी मुनोहित—फलोधी)

इस ग्रंथमें देवचन्द्रजी महाराजने षट्द्रव्य और स्याद्वादके स्वरूपका प्रतिपादन अति सुबोध ढंगसे किया है। इस छोटेसे ग्रंथमें न्यायप्रियता के साथ अन्य दर्शनियोंका निराकरण करते हुए जैन सिद्धान्तों और तत्वोंका समुचित विवेचन किया गया है। यह तर्क विषय ग्रंथ अतीव उपयोगी समझकर अति सरल हिन्दी भाषामें मूल सहित प्रकाशित किया गया है। पृष्ट संख्या १४४ न्योछावर सिर्फ छः आने। एक प्रति प्रत्येक धर्म प्रेमी के पास होना जरूरी है।

इस पतेसे आज ही मंगवाईलिये—

जैन ऐतिहासिक ज्ञान भंडार-जोधपुर।